Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्पादक—मोतीलालशर्म्मा

ॐ

वार्षिकशुल्क स्थानीय ५)
" बाहिर से ६)
इस प्रति का १॥=)
डाकव्यय-पृथक्

मानवाश्रम

राजस्थान का एकमात्र हिन्दी-पाक्षिक

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।" (महाभारत)

वर्ष १	जयपुर, मिती फाल्गुनकृष्ण-चतुर्दशी सं० २००१, ता० ११ फरवरी सन् १९४५ (१८, १९, २०, २१, २२, २३, २४ अङ्क)	७ अङ्कसमष्टि

भावुक हिन्दू-मानव के सामयिक उद्बोधनसूत्र

१—प्रत्यक्ष से प्रभावित होना, मानव का सब से बड़ा दोष है। यही दोष 'भावुकता' है। भावुक मानव कभी सुखी नहीं रह सकता। हिन्दू-मानव इसी भावुकता से दुःखी है। अतएव इसे सुखी बनने के लिए इस भावुकता का परित्याग कर देना चाहिए।

—परिणाम से प्रभावित होना, मानव का सब से बड़ा गुण है। यही गुण निष्ठा है। निष्ठावान् मानव कभी दुःखी नहीं रह सकता। इतर जातियाँ इसी निष्ठा से सुखी हैं। अतएव हिन्दू-मानव को भी सुखी बनने के लिए इसी निष्ठा का अनुगमन करना चाहिए।

३—परद्रष्टा परप्रत्ययनेय-भावुक मानव इन्द्रिययुक्त मन का दास बना रहता हुआ जहां आद्यन्त का दुःखी है, वहां स्वद्रष्टा-स्वप्रत्ययानुगामी-निष्ठावान मानव विवेकबुद्धि का दास बना रहता हुआ आद्यन्त का सुखी है। अतएव हिन्दू-मानव का कर्त्तव्य है कि, वह भी अपनी भावुकता छोड़कर निष्ठावान् बने। दूसरों की ओर न देख कर स्वयं अपने आपको देखे।

४—निष्ठावान् किसी का विश्वास नहीं करता, परन्तु सब का विश्वासपात्र बना रहता है। अतएव निष्ठावान् कभी धोखा नहीं खाता। भावुक सबका विश्वास करता है, परन्तु किसी का विश्वासपात्र नहीं बनता। अतएव भावुक सदा धोखा खाता है। अतएव भावुक हिन्दू-मानव को चाहिए कि, वह अपनी भावुकता छोड़ कर निष्ठावान् बने।

—उद्बोधनसूत्रों का विस्तार सम्पादकीय में देखिए

T
79

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No.
Book No.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

T 79
Museum Library, Lucknow

* वन्दे साम्बसदाशिवम् *

"मानवाश्रम"

फागुन कृष्णा १४ महाशिवरात्रि वि० सं० २००१
ता० ११ फर्वरी सन् १९४५, रविवार

भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता

अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से किसी समय (महाभारत समर से पहिले) अवश्य ही निम्न लिखित प्रश्न किया होगा कि—"भगवन् ! युधिष्ठिर जैसे धर्म्मात्मा, भीम जैसे पराक्रमी, नकुल-सहदेव जैसे आज्ञाकारी, एवं मेरे जैसा प्रतिज्ञापालक इस युग में (महाभारत युग में) मिलना कठिन है। शास्त्र कहता है, 'यदि-संसार में मानव को सुखी रहना है, तो उसे धर्म्मात्मा, पराक्रमी, अनुशासन से अनुशासित, एवं प्रतिज्ञापालक होना चाहिए'। कहना न होगा कि, हम पांचों पाण्डवों में शास्त्र का यह आदेश अक्षरशः घटित हो रहा है। परन्तु देख रहे हैं कि, शास्त्र के सुखसाधक उक्त आदेश का अक्षरशः पालन करते हुए भी पाण्डव उत्तरोत्तर दुःखी ही बनते जारहे हैं। सांसारिक वैभव की कथा तो दूर रही, इन्हें तो अपने न्यायसिद्ध दायाद (पैत्रिक सम्पत्ति) से भी वञ्चित किया जारहा है। ठीक इस के विपरीत कौरवदल एवं उसका नायक दुर्योधन धर्म्म-पराक्रम-अनुशासन-प्रतिज्ञापालन, आदि-शास्त्रीय आदेशोपदेशों की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ भी सांसारिक-सुखों का भोक्ता बन रहा है। सर्वगुणसम्पन्न पाण्डवों का दुःखी बने रहना, एवं सर्वदोषसम्पन्न कौरवों का सुखी बने रहना, सचमुच एक जटिल समस्या है। समाधान कीजिए भगवन् इस समस्या का ?"

अर्जुन की उक्त सामयिक समस्या का भगवान ने उस समय निश्चयेन निम्न लिखित समाधान किया होगा कि,—"अर्जुन ! जानते हैं, और मानते भी हैं कि, पाण्डव धर्म्मात्मा हैं, पराक्रमी हैं, अनुशासनप्रिय हैं, प्रतिज्ञापालक हैं, फलतः सर्वगुणसम्पन्न हैं। इस के साथ ही हम यह भी अनुभव कर रहे हैं कि, कौरव अधर्म्मी हैं, उच्छृङ्खल हैं, फलतः सर्वदोषसम्पन्न हैं। यह भी मान्यता शास्त्रसिद्ध है कि सर्वगुणसम्पन्न-मानव को सुखी रहना चाहिए, एवं सर्वदोषसम्पन्न-मानव को दुःखी रहना चाहिए। फिर गुणशाली पाण्डव दुःखी क्यों ?, एवं दोषशाली कौरव सुखी क्यों ?। सुनो !

पाण्डवों में जहां सब गुण ही गुण हैं, वहां उन में सब से बड़ा एक ऐसा दोष है, जिस के कारण उन के सब गुण दोषरूप में परिणत होरहे हैं। फलतः इस महादोष से सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव सर्वदोषसम्पन्न बनते हुए दुःखी हैं। उधर कौरवों में जहां सब दोष ही दोष हैं, वहां उन में सब से बड़ा एक ऐसा गुण है, जिसके कारण उनके सब दोष गुणरूप में परिणत हो रहे हैं। फलतः इस महागुण से सर्वदोषसम्पन्न भी कौरव सर्वगुणसम्पन्न बनते हुए सुखी हैं। अर्जुन ! तू प्रश्न करेगा कि, वह ऐसा कौनसा दोष है, जिसने पाण्डवों की गुणविभूति को आवृत कर उन्हें दुःखी बना दिया ?, एवं वह ऐसा कौनसा गुण है, जिसने कौरवों की दोषराशि को आवृत कर उन्हें सुखी बना दिया ?। उत्तर थोड़ा अटपटासा है, अतएव उसके मूलतथ्य पर पहुँचना थोड़ा कठिन है। अच्छा तो सुन ! **'भावुकता'** पाण्डवों का सब से बड़ा दोष है, एवं **'निष्ठा'** कौरवों का सब से बड़ा गुण है। भावुकता ने जहां तुम्हें (पाण्डवों को) सब गुण रहते भी दुःखी बनाया, वहां निष्ठा ने उन्हें (कौरवों को) सब दोष रहते भी सुखी बना दिया।"

पार्थ, किन्तु भावुक अर्जुनने भगवानके उक्त समाधान का आध्यात्मिक मर्म्म तत्काल न समझा होगा, फलतः उसी समय वह प्रतिप्रश्न कर बैठा होगा कि, "भगवन् ! आपकी दृष्टि में भावुकता का सम्भवतः यही तात्पर्य्य होगा कि, भावुकता नामक गुण मानव को दृढनिश्चयी नहीं बनने देता। दूसरे शब्दों में भावुक मानव प्रतिज्ञा पालन में असमर्थ रहता है। अतएव प्रतिज्ञापालन की दृष्टि से भावुकता निरा दोष ही आकर ठहरता है। उधर निष्ठावान मानव अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेता है। यदि आप की दृष्टि में भावुकता का यही अर्थ है कि, पाण्डव प्रतिज्ञापालक नहीं हैं, दृढनिश्चयी नहीं हैं, निष्ठावान नहीं हैं, तो कहना पड़ेगा कि, भगवन ! पाण्डवों पर यह आरोप मिथ्या है। देखिए तो सही भगवन ! धर्म्मराज युधिष्ठिर ने इसी प्रतिज्ञापालन के लिए वनवास के कष्ट हंसते हंसते सह डाले। स्वयं मैंने (अर्जुनने) इसी दृढनिश्चय के प्रभाव से, जिसे आप निष्ठा कहते हैं, दुर्द्धर्ष तप के द्वारा ब्रह्मास्त्रादि प्राप्त किए, गुरुद्रोण के प्रतिद्वन्द्वी द्रुपदराज का गर्व खर्व किया, स्वयंवर में मत्स्यवेध कर द्रौपदी प्राप्त की, शस्त्रास्त्रपरीक्षा में चिड़िया के मस्तक को लक्ष्य बनाया। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, ऐसे सैंकड़ों उदाहरण उपस्थित किए जासकते हैं, जिन से प्रमाणित किया जासकता है कि, पाण्डवों की निष्ठा, उन का प्रतिज्ञापालन अटल-अडिग है। ठीक इस के विपरीत जिन कौरवों को आप निष्ठा-गुण से विभूषित बतला रहे हैं, उन के स-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

म्बन्ध में सैंकड़ों उदाहरण ऐसे बतलाए जासकते हैं, जिन के द्वारा कौरवों का प्रतिज्ञा से विमुख होना प्रमाणित हो रहा है। ऐसी स्थिति मे पाण्डवों के दुःखी रहने का, एवं कौरवों के सुखी रहने का आपने पूर्व में जो कारण बतलाया, क्षमा करेंगे भगवन्! अर्जुन उसे स्वीकार नहीं कर सकता"।

भावुक अर्जुन के भावुकतापूर्ण उक्त प्रतिप्रश्न पर भगवान् ने क्षण भर के लिए मन्द हास किया होगा। और अपने इस भावुक प्रिय सखा के भावी कल्याण के लिए इससे कहा होगाकि "अर्जुन! हमारे उत्तर से-विदित होता है-तू अप्रसन्न होगया। मानते हैं, भावुक मानव यों हीं क्षणे क्षणे तुष्ट रुष्ट हुआ करते हैं। इसी लिए तो हमने कहा है कि, इस भावुकता ने ही पाण्डवों को दुःखी बनाया है। निष्ठावान् मानव कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित नहीं होता। वह एक ओर बड़ी से बड़ी स्तुति का जहां निगरण कर जाता है, वहां बड़ी से बड़ी निन्दा भी उसे विचलित नहीं कर सकती। निष्ठावान मानव कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होना जानता ही नहीं। क्यों?, इसलिए कि निष्ठावान् मानव सदा 'स्व' को लक्ष्य बनाए रहता है। वह सदा अपने आप को देखता है। उसे सदा अपनी ही स्थिति की चिन्ता है। अपनी इसी स्थिति-रक्षा के लिए उसे सदा भूत-भविष्यत् को लक्ष्य बनाए रखना पड़ता है। वर्त्तमान की, किंवा वर्त्तमान से सम्बद्ध प्रत्यक्ष स्थिति की वह सदा उपेक्षा किया करता है। उसके कोश में 'परोपकार' शब्द का अभाव है। परार्थ, किंवा परमार्थ का इस स्वार्थी निष्ठावान् की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। यह उसी सीमा तक परार्थ-परमार्थ का अभिनय किया करता है, जिस सीमा का विशुद्ध स्वार्थ से सम्बन्ध रहता है। स्वार्थ सिद्ध होने के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही यह स्वार्थ घातक परार्थ-परमार्थ-कर्म्मों की उपेक्षा कर देता है। और कहना न होगा कि, भूत-भविष्यदनुगामी ऐसा निष्ठावान मानव सदा सुखी रहता है। अर्जुन! तू स्वयं विचार कर, क्या पाण्डव ऐसी निष्ठा के अनुगामी रहे हैं?, क्या उन्होंने कभी भूत-भविष्यत् के परिणाम को लक्ष्य बनाया है?, क्या कभी उन्होंने प्रत्यक्ष स्थिति से अपने आप को प्रभावित होने से बचाया है?, यदि नहीं, तो तू ही बता ऐसे भावुक पाण्डव कैसे सुखी रहते। तू कहेगा, ऐसे उदाहरण बतलाइए भगवन्! जिन से पाण्डवों का उक्त लक्षण भावुकता प्रमाणित हो रही हो?। अर्जुन! पाण्डवों का सम्पूर्ण जीवन ही इन उदाहरणों का प्रतीक बना हुआ है। तुझ भावुक की आत्मतुष्टि के लिए कुछ एक उदाहरण यहां भी उद्धृत कर दिए जाते हैं।

द्यूत कर्म्म से प्रभावित धर्म्मभीरू युधिष्ठिर ने प्रत्यक्ष से प्रभावित हो कर सती द्रौपदी को दाव पर लगा दिया, द्यूत जैसे निन्द्य कर्म्म के साथ प्रतिज्ञापालन जैसे धर्म्मतत्त्व का ग्रन्थि बन्धन करने की भावुकता (भूल) करते हुए युधिष्ठिर ने अपना राज्य खो दिया। अज्ञातवास में गन्धर्व द्वारा उत्पीड़ित दुर्य्योधन का तेरे द्वारा परित्राण करा युधिष्ठिर ने शत्रुबल की अभिवृद्धि की। प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रभावित युधिष्ठिर ने यों स्वयं अपना भी अनिष्ट किया, साथ ही सङ्गदोषसे प्रभावित धर्म्मभीरू बने हुए तुम अन्य पाण्डवों को भी दुःखी बनाया। अर्जुन! तू सोच रहा होगा कि, युधिष्ठिर ने असावधानी की होगी, किन्तु मैंने नहीं। सुनो! स्मरण है तुझे, जब युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ वार्त्तालाप में एकान्त में संलग्न थे। तेरा गाण्डीव वहीं रक्खा था। एक ब्राह्मण की तस्कर से रक्षा करने के लिए तेरा जी छटपटाने लगा। तैंने युधिष्ठिर भवन में प्रवेश किया, गाण्डीव उठाया, ब्राह्मण की तस्कर से रक्षा की। और इस प्रत्यक्षानुगता भावुकता में पड़ कर तुझे चौदह वर्षों के लिये अन्तर्हित हो जाना पड़ा। और सुन! कौरव-पाण्डव सैन्यदल को सम्मुख उपस्थित देख कर इस प्रत्यक्ष से तू पूर्णरुपेण प्रभावित होगया। क्षात्रनिष्ठा के सर्वथा विपरीत 'न योत्स्ये' कह कर तैंने गाण्डीव ही छोड़ दिया। अर्जुन! अब तो तुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि, वास्तव में हम पाण्डव भावुक थे, एवं यह भावुकता ही हमारे सांसारिक दुःख का मूल कारण थी"।

श्रीकृष्णार्जुन से सम्बद्ध उक्त प्रश्नोत्तर-विमर्श के द्वारा जिस भावुकता, तथा निष्ठा का स्वरुप-दिग्दर्शन कराने की चेष्टा हुई है, वह वर्त्तमान मानव के परितोष का कारण इसलिए नहीं बन सकती कि, उसके वेशभूषा-भाषा-संस्कृति-सभ्यता-आचार-व्यवहार आदि आज अपने प्राच्य आदर्श की उपेक्षा कर प्रतीच्यपथानुगामी बन गए हैं, अथवा तो बनते जा रहे हैं। अतएव आवश्यक है कि, वर्त्तमान युग के मानव के परितोष के लिए उसी की सहजगम्य वर्त्तमान भाषा (हिन्दुस्तानी) के द्वारा उसे उस की उस भावुकता का दिग्दर्शन कराया जाय, जिस भावुकता ने वर्त्तमान मानव को विशेषतः हिन्दू-मानव को संत्रस्त बना रक्खा है। दिग्दर्शन से पहिले दो शब्दों में भावुकता के मौलिक इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना अप्रासङ्गिक न होगा, जिस मौलिकता का सृष्टि के मूलतत्त्वों से सम्बन्ध माना गया है।

सम्पूर्ण विश्व एक 'स्थिति' भाव है, जिसके लिए-'संसार है' इस वाक्य का सर्वसाधारण में प्रयोग होता देखा-सुना जाता है। स्थिति तत्त्व सापेक्ष तत्त्व है। दो विरुद्ध तत्त्वों के समन्वय से ही 'स्थिति' तत्त्व की स्वरूप-रक्षा मानी गई है। गतिविज्ञानवेत्ताओं ने इस सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किए हैं कि, विरुद्ध-दिगनुगामिनी दो, अथवा तो अनेक गतियों के केन्द्रीकरण से ही 'स्थिति' भाव का प्रादुर्भाव होता है। जिसे लोकभाषा में 'स्थिति' कहा जाता है, तत्त्वतः वह 'स्थिति' अनेक विरुद्ध दिगनुगामिनी गतियों की समष्टि मात्र है। सिद्ध है कि, 'विश्वस्थिति' का स्वरूप भी अवश्य ही दो विरुद्ध गतियों के एकत्र समन्वय से ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रादुर्भूत हुआ है। इन दोनों विश्वगतियों को-जिन से 'विश्व-स्थिति' का स्वरूप निर्म्माण होता है--हम थोड़ी देर के लिए पूर्वगति-उत्तरगति नाम से युक्त मान लेते हैं। पूर्वगति अतागति है, उत्तरगति भविष्यत्-गति है। इन दोनों विरुद्ध-गतियों से उभयतः परिगृहीता मध्यस्था विश्वस्थिति है, जिसे 'वर्त्तमानगति' भी कहा जासकता है। भूतानुगामिनी पूर्वगति, भविष्यदनुगामिनी उत्तरगति, इन दो विरुद्ध गतियों से ही वर्त्तमानानुगामिनी मध्य-गतिलक्षणा विश्वस्थिति का स्वरूप सुरक्षित रहता है। इन्हीं दो विरुद्ध-नियतिभावों के सम्बन्ध से विश्व 'द्विनियति' कहलाया है, जिसका विकृतरूप ही लोकभाषा में 'दुनिया' (द्विनियति) नाम से प्रसिद्ध है। इसी विरुद्ध दिग्द्वयगति के आधार पर-'दुनिया दुरङ्गी' नामकी किंवदन्ती प्रतिष्ठित है। प्रकृत वक्तव्यांश यही है कि, स्थितिलक्षण विश्व के उस ओर पूर्वगति (मुक्तगति) है, इस ओर उत्तरगति (भोग्यगति) है। मुक्तगति विश्व की पूर्वावस्था है, यही भूतकाल है। भोग्यगति विश्व की उत्तरावस्था है, यही भविष्यत्-काल है। उभयकालमध्यस्था विश्वस्थिति विश्व की मध्यावस्था है, यही वर्त्तमान काल है। एवं यह वर्तमानकाल ही मानव की वह मूलप्रतिष्ठा है, जिसे आधार बना कर हमें भावुकता का सहज भाषा में विश्लेषण करना है।

१-पूर्वगतिः→मुक्तगतिः→अतीतगतिः
२-मध्यगतिः→भोक्तृगतिः→वर्त्तमानगतिः } →विश्वस्थितिः
३-उत्तरगतिः→भोग्यगतिः→भविष्यद्गतिः

मानव, विशेषतः वर्तमान युग का हिन्दू-मानव दुःखी क्यों?, यह मूल प्रश्न है। इस मूल प्रश्न का अभिनय-'कहां का कौन दुःखी क्यों?' इस वाक्य से भी किया जा सकता है। कहां का?, इस वाक्यावयव का उत्तर अभी हम 'विश्व' शब्द से देंगे। 'कौन' का उत्तर 'हम' शब्द से दिया जायगा, एवं क्यों?' का उत्तर होगा 'भावुकता'। तात्पर्य्य यह होगा कि, 'विश्व में रहने वाले हम (मानव) भावुकता से दुःखी हैं'। 'विश्व, हम, भावुकता,' ये तीन ही तत्त्व विचारणीय हैं, जिन में से पहिले 'विश्व' तत्त्व का ही पूर्व में दो शब्दों में उपबृंहण हुआ है। इसी विश्व के गर्भ में 'हम' नामक मानव प्रतिष्ठित है। सुख, अथवा तो दुःख, दोनों का भोग 'हम' को विश्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही करना है।

बतलाया गया है कि, प्रतिष्ठात्मक विश्व के साथ भूत-वर्त्तमान-भविष्यत्-इन तीन विभिन्न कालों का सम्बन्ध है। 'हम' नामक मानव प्राणी यद्यपि प्रतिष्ठित है वर्त्तमानकालानुगत स्थितिलक्षण विश्व पर ही। तथापि मध्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होने के कारण हम के साथ में विश्व के पूर्व-उत्तर भावों से सम्बद्ध भूतभविष्यत् का भी सम्बन्ध अनिवार्य्य बन जाता है। स्पष्टीकरण के लिए विषय का यों समन्वय कीजिए कि, विश्वाधार पर प्रतिष्ठित कुछ एक मानव तो ऐसे हैं, जो केवल अपने आधार-भूत वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाए रहते हैं। इन की दृष्टि में भूत-भविष्यत् का कोई महत्त्व नहीं है। विश्वाधारात्मक वर्त्तमान में प्रतिष्ठित रहते हुए भी कतिपय मानव ऐसे हैं, जो न वर्त्तमान को देखते, न भविष्यत् का चिन्तन करते। अपितु वे सदा भूतकालिक चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं। ऐसे भी मानवों की कमी नहीं, जो भूत-वर्त्तमान की उपेक्षा कर केवल भविष्यत् की ही उपासना किया करते हैं। सद्भाग्य से परिगणित ऐसे भी सिद्ध मानव यदा कदा उपलब्ध हो जाते हैं, जो भूत—वर्त्तमान—भविष्यत्, तीनों का समन्वय करते हुए तीनों को लक्ष्य बनाए रहते हैं। इस प्रकार मानव समाज (हम) अपनी मूलप्रतिष्ठा (विश्व) के त्रैकालिक-सम्बन्ध के तारतम्य से चार श्रेणियों में विभक्त किया जासकता है। भूतकालानुगामी, वर्त्तमानकालानुगामी, भविष्यत्-कालानुगामी, सर्वकालानुगामी, मानव समाज का इन चार ही श्रेणियों में वर्गीकरण किया जासकता है। देखते हैं, और अनुभव करते हैं कि, कितने एक मानव पिछली बातों की याद में ही अहर्निश तल्लीन रहते हैं। 'अमुक ने अमुक समय हमें यों यह कह दिया था, उसने हमारा ऐसा इष्ट-अनिष्ट कर दिया था,' इत्यादि अतीत घटनाओं की चर्वणा में ही उन अतीतभक्तों का समय निकल जाता है। कितने एक मानव अपनी कल्पना के आधार पर भविष्यत् की विविध कल्पनाओं का सृजन किया करते हैं। 'ऐसा करेंगे तो ऐसा हो जायगा, हम ऐसे बन जायँगे, वैसे बन जायँगे' इन भावी कल्पनाओं में ही इन भविष्यद्भक्तों का समय निकल जाता है। ऐसे भी मानवों की कमी नहीं, जो न अतीत के अवाच्यवादों का स्मरण करते, नाहीं भविष्य के लिए थोथी कल्पनाएँ ही करते, अपितु अनन्य-निष्ठा से वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाते हुए--'करले सो काम,-भजले सो राम' को चरितार्थ करते रहते हैं। विश्व-राष्ट्र-नगर-ग्राम तथा जाति के सौभाग्य से कभी कभी ऐसे भी सिद्ध महापुरुषों के साथ साक्षात्कार हो जाता है, जिन की कार्य्य प्रणाली में तीनों कालों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सिद्ध पुरुष अतीत को स्वकर्म्म की आधारशिला बनाते हैं, भविष्यत् के परिणाम को सम्मुख रखते हैं, और तब वर्त्तमान कर्म्मकलाप में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार अन्वेषण करने पर मानवसमाज इन्हीं तथाकथित चार श्रेणियों में विभक्त उपलब्ध हो रहा है।

१—भूतकालानुगामी———लक्ष्यभ्रष्टो मानवः
२—वर्त्तमानकालानुगामी——जीवनयात्रानिर्वाहको मानवः
३—भविष्यत्कालानुगामी——समृद्धिशाली मानवः
४—सर्वकालानुगामी———कृतकृत्यो मानव.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'कहांका कौन दुःखी क्यों ?,' पूर्व निर्दिष्ट इस प्रश्न वाक्य के 'कहां' से सम्बन्ध रखने वाले आधारभूत विश्व' की अपेक्षा से मानव समाज के चार श्रेणि-विभागोंका दिग्दर्शन कराया गया। अब इसी प्रश्न वाक्य के दूसरे 'कौन' शब्द की अपेक्षा से श्रेणि-विभाग का समन्वय कीजिए। समान-गुण धर्म्मानुगामी मानव समाज ही प्रकृत में 'कौन' है, जिसका पूर्व में 'हम' शब्द से अभिनय हुआ है। प्रश्न होता है कि, 'समानगुणधर्म्मा मानवों में पूर्वनिर्दिष्ट श्रेणी-विभाग कैसे होगया ?'। इस प्रश्न का उत्तर 'हम' नामक मानव के आध्यात्मिक स्वरूपज्ञान पर अवलम्बित है। कालविशेष के द्वारा सुखदुःखादि विशेषभावों का अनुगमन करने वाले इस 'हम' (मानव) का क्या स्वरूप ?, प्रश्न का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों ने हमें बतलाया कि,—'आत्मा-बुद्धि-इन्द्रियसहितमन, शरीर, इन चार आध्यात्मिक पर्वों की समष्टि ही 'अहम्', किंवा 'हम' है *। और यही 'मानव' का वह तात्त्विक स्वरूप है, जिसके साथ हमें मानव के चार श्रेणि-विभागों का समन्वय करना है।

यद्यपि प्रत्येक मानवसंस्था में आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर, इन चारों पर्वों का समावेश है, एवं इसी दृष्टि से मानवमात्र को समानधर्म्मा भी माना जासकता है। तथापि जन्मान्तरीय विद्या-काम-कर्म्म, नामक शुक्रत्रयी के भेद से मानव की इन चारों संस्थाओंकी प्रधानता-अप्रधानता में तारतम्य होजाता है। इसी तारतम्य से समान भी मानवों की योग्यता में, गुण-धर्म्मों में तारतम्य होजाता है। किसी मानव में शरीरसंस्था का प्राधान्य रहता है, शेष तीनों (आत्मा-बुद्धि-मन) गौण बने रह जाते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि, शरीरपक्षपाती उस मानव का आत्मा-बुद्धि-मन, तीनों, एवं तीनों के व्यापार शरीरव्यापार के ही अनुगामी बने रहते हैं। उस की आत्मानुगता निष्ठा, बुद्ध्यनुगत विश्वास, मनोऽनुगता श्रद्धा, तीनों शरीरचिन्ता में ही आहुत रहते हैं। मर्त्य-जर-भूत परमाणुओं का संघरूप मर्त्य-पाञ्चभौतिक शरीर क्षणिक बनता हुआ 'नास्ति' सार है। प्रतीक्षाभावानुगत वर्त्तमान, आशाभावानुगत भविष्य, दोनों से इस नास्तिसार शरीर का मेल नहीं होने पाता। इसका सम्बन्ध रहता है एकमात्र नास्तिसार 'अतीत' से। इसप्रकार आत्म-बुद्धि-मनोगर्भित-नास्तिसार क्षणिक शरीर के पक्षपाती मानव ही भूतकालानुगामी, अतएव लक्ष्यभ्रष्ट मानव कहलाए हैं। यही मानव समाज का प्रथम वर्ग है।

किसी मानव में इन्द्रिययुक्त मनःसंस्था का प्राधान्य रहता है, शेष तीनों (आत्मा-बुद्धि-शरीर) गौण बने रह जाते हैं। परिणाम यह होता है कि, मनः पक्षपाती उस मानव का आत्मा, बुद्धि, शरीर, तीनों, तथा तीनों के व्यापार मनोव्यापार के ही क्रीत दास बने रहते हैं। उसकी आत्मानुगता निष्ठा, बुद्ध्यनुगत विश्वास, शरीरानुगता पुष्टि, तीनों मानसचिन्ता में ही आहुत रहते हैं। इन्द्रिययुक्त मन का क्षेत्र है ऐन्द्रियक बाह्य विषय। बाह्य विषयों का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा इन्द्रियपृष्ठ से संलग्न मन उन बाह्य विषयों का संस्काररूप से अनुभव किया करता है। इस प्रकार परम्परया मानसव्यापार उस बाह्य-इन्द्रियक प्रत्यक्ष जगत् से सम्बद्ध है, जो प्रत्यक्षजगत् वर्त्तमानकाल का अनुगामी बना रहता है। वर्त्तमान विषय ही प्रत्यक्ष विषय हैं, एवं ये ही मनो व्यापार के आधार हैं। फलतः इस इन्द्रिययुक्त मन का वर्त्तमानकाल से भलीभांति सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। इस प्रकार आत्म-बुद्धि-शरीरगर्भित इन्द्रिय युक्त मन के पक्षपाती मानव को अवश्य ही वर्त्तमानकालानुगामी', अतएव जीवनयात्रानिर्वाहक मानव कहा जासकता है। यही मानव समाज का द्वितीय वर्ग है।

कितने एक मानवों में बुद्धितत्त्व प्रधानरूप से विकसित रहता है, शेष तीनों (आत्मा-मन-शरीर) गौण बने रहते हैं। इस बुद्धिप्राधान्य का फल यह होता है कि, बुद्धिपक्षपाती इस मानव के आत्मा-मन-शरीर, तथा इन तीनों के निष्ठादि तीनों व्यापार बुद्धिव्यवसाय के ही पथानुगामी बने रहते हैं। बुद्धिमान् मानव की आत्मनिष्ठा, मानसीश्रद्धा, शरीरपुष्टि, तीनों बुद्धियज्ञाग्नि (ज्ञानाग्नि) में ही आहुत होते रहते हैं। विज्ञान नाम से प्रसिद्ध बुद्धि, एवं प्रज्ञान नाम से प्रसिद्ध मन के व्यापारों का दिग्दर्शन कराते हुए तत्त्ववेत्ताओं ने हमें बतलाया है कि, प्रज्ञानमन पर इन्द्रियों के द्वारा विषय (संस्कार) जहां आया करते हैं, वहां-विज्ञानबुद्धि विना भी इन्द्रियों के विषयों पर जाया करती है। विना विषयके मनोव्यापार सर्वथा अवरुद्ध है। परन्तु बुद्धि अपने ज्ञानकोष के द्वारा शून्य में भी नवीन विषयों का निर्म्माण कर लेती है। जो विषय न अतीत में थे, न वर्त्तमान में हैं। जिन का आधार केवल भविष्य की कल्पना मात्र है। बुद्धि वैसे भावी काल्पनिक जगत को आधार बना कर स्वव्यापार-प्रसार में समर्थ होजाती है। वर्त्तमानयुग के मानवतासंहारक जो भौतिक आविष्कार अतीत में केवल भविष्य की वस्तु थे, वे सब कल्पनाशीला बुद्धि के इस काल्पनिक व्यवसाय के ही कटु परिणाम हैं। फलतः बुद्धिका भविष्यत् काल के साथ सर्वात्मना सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। इस प्रकार आत्म-मन-शरीर गर्भिता बुद्धि के पक्षपाती मानव को अवश्य ही भविष्यत्कालानुगामी, अतएव समृद्धिशाली मानव कहा जासकता है। यही मानव समाज का तृतीय वर्ग है।

---

* "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" कठोपनिषत्।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कितने एक पुरुषपुङ्गवों में आत्मतत्त्व प्रधानरूप से विकसित रहता है, शेष तीनों (बुद्धि–मन–शरीर) गौण बने रहते हैं। इस आत्मप्राधान्य का सुफल यह होता है कि, आत्मयाजी इस सर्वज्ञ–सर्ववित् सिद्ध मानव के बुद्धि–मन–शरीर, एवं इन तीनों के विश्वासादि तीनों व्यापार आत्मनिष्ठा के ही अनुगामी बने रहते हैं। आत्मयाजी इस सिद्ध मानव का बौद्ध विश्वास, मानसी श्रद्धा, शरीरपुष्टि, तीनों इस के ब्रह्माग्नि (आत्माग्नि) में ही आहुत होते रहते हैं। बुद्धि का भविष्यत् के साथ, मन का वर्त्तमान के साथ, एवं शरीर का भूत के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। मानव के तीनों पर्व तीनों कालों से सीमित हैं, अतएव तीनों में एक भी त्रैकालिक नहीं है। उधर आत्मदेवता–'यच्चान्यत् त्रिकालातीतम्' के अनुसार कालसीमा से बहिर्भूत रहता हुआ त्रैकालिक, अतएव सर्वकालिक सनातन तत्त्व है। इन्हीं सब कारणों से मानना पड़ता है कि, मानवसंस्था में भुक्त आत्मपर्व का सर्वकाल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार बुद्धि–मनः–शरीरगर्भित आत्मा के पक्षपाती मानव को अवश्य ही सर्वकालानुगामी, अतएव कृतकृत्य मानव कहा जासकता है। यही मानव समाज का चौथा वर्ग है।

मानवाधारभूत कालिक विश्व के भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान–सर्व, नामक चार पर्वों के साथ मानव–समाज के चार वर्गों का कैसे समन्वय है?, एवं मानव समाज कैसे चार श्रेणि–विभागों में विभक्त हुआ?, इन दोनों प्रश्नों के तात्त्विक समन्वय की चेष्टा का गई। मानव समाज के इन चार वर्गों में से आरम्भ के तीन वर्गों को शास्त्रीय परिभाषा में लौकिक–यथाजात मानव कहा गया है। एवं अन्त के सर्वकालानुगामी मानव को संस्कृत मानव माना गया है। संस्कृत मानव उसे कहा जायगा, जो अपने जीवन में अपनी मानवसंस्था के आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर, इन चारों पर्वों को कृतकृत्य बना देगा। भारतीय महर्षियों नें इन चार पर्वों को कृतकृत्य बनाने के लिए चार साधन माने हैं, जो साधन शास्त्रीय परिभाषा में 'पुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हैं। धर्म्म–अर्थ–काम–मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ सुप्रसिद्ध हैं। मानव के शरीर की कृतकृत्यता का साधन 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ है। मन को कृतकृत्यता का साधन 'काम' नामक पुरुषार्थ है। बुद्धि की कृतकृत्यता का साधन 'धर्म्म' नामक पुरुषार्थ है। एवं आत्मा की कृतकृत्यता का साधन 'मोक्ष' नामक परमपुरुषार्थ है। इन चारों साधनों का सम मौलिक–विधि से अनुगमन करने वाला शास्त्रनिष्ठ मानव अपने चारों मानव पर्वों को कृतकृत्य बनाता हुआ सचमुच सर्वात्मना कृतकृत्य बन जाता है, और यह श्रेय वर्णाश्रमानुगामी एकमात्र भारतीय द्विजाति को ही प्राप्त है।

अब शेष रह जाते हैं लौकिक–यथाजात–मानवों के तीन वर्ग। केवल शरीरोपासक मानव क्षणधर्म्म सम्बन्ध से सदा लक्ष्य भ्रष्ट बना रहता है। मनोऽनुगत इन्द्रियोपासक मन केवल जीवन–यात्रा–निर्वाह का ही साधक बन सकता है। हां, बुद्ध्यनुगामी मानव लोकदृष्टि से कुछ दिन के लिए समृद्धिशाली अवश्य बन जाता है। परन्तु अवैधपद्धति से अपने बुद्धिबल के प्रयोग के कारण परिणामतः यहभी अशान्त ही रहता है। यही नहीं, इस परिणामदृष्टि से तो यह मनोऽनुगत, तथा शरीरोपासक मानव की अपेक्षा भी कहीं अधिक संत्रस्त रहता है। मानव समाज के कालानुगत इन चारों मौलिक श्रेणिविभागों को लक्ष्य बनाइए, और इन के आधारपर इन के दुःखी रहने के कारण भूत साधनों पर दृष्टि डालिए।

१—बुद्धि–मनः–शरीरगर्भितः–आत्मा–तत्प्रधानो मानवः–सर्वकालानुगामी निष्ठावान कृतकृत्यः

२—आत्म–मन–शरीरगर्भिता–बुद्धिः–तत्प्रधानो मानवः–भविष्यत्कालानुगामी विश्वासी समृद्धिशाली

३—आत्म–बुद्धि–शरीरगर्भितं–मनः–तत्प्रधानो मानवः–वर्त्तमानकालानुगामी श्रद्धालुर्जीवनयात्रानिर्वाहकः

४—आत्म–बुद्धि–मनोगर्भितं–शरीरम्–तत्प्रधानो मानवः–भूतकालानुगामी भावुको लक्ष्यभ्रष्टः

उक्त चार मानव–विभागों का हम लोकदृष्टि से भावुक–विश्वासी–निष्ठावान, इन तीन भागों में ही वर्गीकरण इसलिए मानेंगे कि, चौथे भावुकवर्ग का तीसरे श्रद्धालुवर्ग में ही अन्तर्भाव हो जाता है। श्रद्धालु मानव ही भावुक हुआ करता है, किंवा भावुक मानव ही श्रद्धालु हुआ करता है। इस प्रकार वर्त्तमानकालानुगामी मनोऽनुगत श्रद्धालु मानवविभाग के भूतकालानुगामी भावुक मानव विभाग में अन्तर्भाव होजाने से मानव विभाग के निष्ठावान–विश्वासी–भावुक, ये तीन ही प्रधान विभाग रह जाते हैं। शास्त्रदृष्टि पृथक् वस्तुतत्त्व है, लोकदृष्टि विभिन्न पथ है। निष्ठावान मानवविभाग का चूंकि पूर्वकथनानुसार शास्त्रदृष्टि से सम्बन्ध है। अतः उसमें विचार अपेक्षित है लोकदृष्ट्यनुगत हिन्दू मानव समाज का। इस मीमांस्य लौकिक विषय की दृष्टि से हमारे सम्मुख केवल विश्वासी, तथा भावुक, ये दो ही विभाग शेष रह जाते हैं। जैसे भावुक का श्रद्धालुवर्ग में अन्तर्भाव कर लिया जाता है, एवमेव निष्ठावान का विश्वासी में अन्तर्भाव होजाता है। कारण स्पष्ट है। जैसे श्रद्धालु भावुक बना करता है वैसे वि-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्वासी ही निष्ठावान् बना करता है। निष्ठा, और विश्वास, दोनों सजातीय धर्म्म हैं। एवमेव श्रद्धा, और भावना, दोनों सजातीय हैं। इसी सजातीयता के कारण अन्ततोगत्वा उक्त चार श्रेणिविभागों के निम्नलिखित दो ही श्रेणि विभाग रह जाते हैं, जिन्हें आधार बनाकर हमें हिन्दू-मानव की भावुकता की मीमांसा करनी है—

१—सर्वकालानुगामी निष्ठावान्
२—भविष्यत्कालानुगामी विश्वासी } —→निष्ठानुगतो विश्वासी-मानवः (१)—नित्यसुखी

३—वर्त्तमानकालानुगामी श्रद्धालुः
४—भूतकालानुगामी भावुकः } —→श्रद्धानुगतो भावुको-मानवः (२)—नित्यदुःखी

—— :※: ——

हिन्दू-मानव को ही क्या, सम्पूर्ण विश्व के मानव समाज को इन्हीं दो भागों में विभक्त माना जासकता है। आरम्भ में हीं बतलाया गया है कि, संसार एक स्थिति है। एवं स्थिति का ही नाम 'वर्त्तमान' है। वर्त्तमान का स्वरूप द्वन्द्व-सापेक्ष है। भूत-भविष्यत् ही वह द्वन्द्व है, जिस से वर्त्तमानलक्षणा विश्वस्थिति की स्वरूप रक्षा हो रही है। और यह भी विधिका एक विचित्र ही विधान माना जायगा कि, विश्वस्थिति के लिए दोनों कालों (भूत-भविष्यत्) से सम्बद्ध उभयविध मानव विभाग सदा आपेक्षिक बने रहेंगे। यदि यच्चयावत् मानव निष्ठावान्, साथ ही भावुक भी बन जाते, दूसरे शब्दों में यदि निष्ठा और भावुकता का समन्वय हो जाता, तो विश्व की स्थिति ही अरक्षित बन जाती। इस समन्वयदशा में या तो मानव समाज सघर्ष में पड़कर विश्वस्थिति का संहारक बन जाता, अथवा तो ऐसे मानव-समाज के द्वारा विश्व एक अमर धाम (स्वर्ग) ही बन जाता। वैसा होता, तो ऐसा होजाता, छोड़िए इन भावुकताओं को। जैसा जो कुछ है, हो रहा है, उस पर दृष्टि डालिए। लोकदृष्टि से सम्बन्द्ध भावुक, तथा निष्ठावान मानव-विभागों के इतिहास से पहिले हमें भावुकता, तथा निष्ठा शब्दों के सहज अर्थ का विचार करना है। मानस व्यापार का नाम जहाँ भावुकता है, वहाँ बुद्धिव्यापार का नाम निष्ठा है। मन का निर्म्माण ऋतसोमघन-चन्द्रमा से हुआ है। चान्द्र-सोम स्वस्वरूप से भी द्रवीभूत एक अस्थिर द्रव्य है, साथ ही सोमात्मक चन्द्रमा खगोलीय स्थिति के अनुसार भी परिवर्त्तनशील बनता हुआ अस्थिर है। ऐसे अस्थिर चान्द्रसोम से ओषधि-द्वारा उत्पन्न चान्द्र मन की अस्थिरता भी स्वतः सिद्ध है। फलतः मानसव्यापारलक्षणा भावुकता भी मानवका एक अस्थिर धर्म्म ही आठहरता है। इसी आधार पर मानसव्यापारात्मिका इस भावुकता के लिए शास्त्रों में 'अस्थिरप्रज्ञता' शब्द व्यवहृत हुआ है। बुद्धि का निर्म्माण सत्याग्निघन सूर्य्य से हुआ है। सौर सावित्राग्नि स्वस्वरूप से भी घनीभूत एक स्थिर पदार्थ है, साथ ही सत्यात्मक सूर्य्य खगोलीय स्थिति के अनुसार भी—'मध्ये एकल एव स्थाता।' के अनुसार स्वस्थान पर अविचाली रूप से प्रतिष्ठित होता हुआ स्थिर है। ऐसे स्थिर सौर-अग्नि से वनस्पति-द्वारा उत्पन्न सौरी बुद्धि की स्थिरता भी स्वतः सिद्ध है। फलतः बौद्धव्यापारलक्षणा निष्ठा भी मानव का एक स्थिर धर्म्म ही आ ठहरता है। इसी आधार पर बौद्धव्यापारात्मिका इस निष्ठा के लिए शास्त्रों में 'स्थितप्रज्ञता' शब्द व्यवहृत हुआ है। मन की यह स्वाभाविक वृत्ति, जो सदा अस्थिर रहती है—भावुकता कहलाई है। बुद्धि की वह स्वाभाविक वृत्ति-जो सदा स्थिर रहती है—निष्ठा कहलाई है। भावुकता जहाँ अस्थिर-धर्म्मप्रयोजिका है, वहाँ निष्ठा स्थिरधर्म्मप्रयोजिका है।

न तो केवल बुद्धि के व्यापार का ही नाम निष्ठा है, एवं न केवल मनोव्यापार का ही नाम भावुकता है। केवल बुद्धिव्यापार 'विश्वास' कहलाया है, एवं केवल मनोव्यापार 'श्रद्धा' कहलाया है। मनोव्यापारलक्षणा श्रद्धामें इन्द्रियानुगत शरीरव्यापार का जब समावेश होता है, तभी श्रद्धा भावुकता के रूप में परिणत होती है। एवमेव बुद्धिव्यापारलक्षण विश्वास में जब आत्मव्यापारका समावेश होता है, तभी विश्वास निष्ठा के रूप में परिणत होता है। आत्मव्यापारके समावेश से बुद्धिव्यापारलक्षण विश्वास, एवं मनोव्यापारलक्षणा श्रद्धा, दोनों में स्थिर धर्म्म का उदय हो जाता है। ठीक इस के विपरीत आत्मव्यापार—समावेशके अभाव में विश्वास और श्रद्धा, दोनों अस्थिर बने रहते हैं। कारण यही है कि, आत्मव्यापार-सहयोग के अभाव में बुद्धिव्यापार मनोव्यापार से अभिभूत हो जाता है। फलतः बुद्धि मनोऽनुगामिनी बन जाती है। मनका अपना धर्म्म पूर्व कथनानुसार अस्थिर है। अतएव ऐसे अस्थिर मन की दास बनी हुई बुद्धि और उसका स्थिरलक्षण विश्वास अस्थिर बन जाता है। ठीक इसके विपरीत आत्मव्यापार के समावेश से बुद्धिव्यापार सबल बनता हुआ मानसव्यापार को अभिभूत कर डालता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum LUCKNOW

फलतः मन बुद्धयनुगामी बन जाता है। बुद्धि का अपना धर्म्म पूर्व कथनानुसार स्थिर है। अतएव ऐसी स्थिर बुद्धि का दास बना हुआ मन, और उसकी श्रद्धा, दोनों को भी स्थिर बन जाना पड़ता है। तात्पर्य्य, बिना निष्ठा के न तो विश्वास का ही कोई महत्त्व है, एवं न श्रद्धा का ही कोई गौरव है। वर्त्तमान मानव-समाज में सम्भवतः श्रद्धा-विश्वास के तो यत्र तत्र फिर भी दर्शन किए जासकते हैं। परन्तु 'निष्ठा' आज सर्वात्मना सुदुर्लभ बन चुकी है। कारण यही है कि, आजकेश्रद्धा-विश्वास का आधार बनती है वह भावुकता, जिसकी निष्ठा के साथ महा प्रतिद्वन्द्विता है। यही कारण है कि, निष्ठाशून्य श्रद्धा-विश्वासों का अनुगमन करने वाले वर्त्तमानयुग के विशुद्ध भावुक मानव न तो अपनी श्रद्धा से ही कोई लाभ उठा पाते, नांही विश्वास ही उनके लिए फलदायक बनता। इस प्रासङ्गिक चर्चा की आवश्यकता यह हुई, कि वर्त्तमान में विश्वस को निष्ठा का पर्य्याय मानने की भूल की जारही है। विश्वास में श्रद्धा की अपेक्षा दृढ़ता अवश्य है, परन्तु भावुकतामूला श्रद्धा के द्वारा उत्पन्न विश्वास सदा के लिए दृढ़मूल नहीं बन सकता। अपितु प्रत्यक्ष-प्रभावोत्पादिका भावुकता के अनुग्रह से जिस क्षण यह श्रद्धा विलीन होती है, उसी क्षण ऐसी श्रद्धाका दास बना हुआ विश्वास भी उत्क्रान्त हो जाता है। अतएव 'नितरां स्थितिः' लक्षणा निष्ठा को विश्वास का पर्य्याय नहीं माना जासकता। श्रद्धानुगत विश्वास विश्वास है, आत्मानुगत विश्वास निष्ठा है। श्रद्धानुगत विश्वास परिवर्त्तनशील है, आत्मानुगत विश्वास अपरिवर्त्तनीय है। मानव का कल्याण न श्रद्धा से होता, न विश्वास से। अपितु इसके कल्याण का अन्यतम उपाय है—'निष्ठा'। निष्ठा आत्मधन है, अपनी पूंजी है। श्रद्धा-विश्वास आगन्तुक हैं। निष्ठा और श्रद्धा-विश्वास के इसी महाविभेद को लक्ष्य बना कर शास्त्रकारों ने मानव-कल्याणपथों का विश्वासादि नामकरण न कर—'ज्ञाननिष्ठा, कर्म्मनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा,' आदिरूप से नामकरण किया है। उदाहरण के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

यह मान लीजिए कि, ९९ प्रतिशत मानव भावुक हैं, जिन के आंखें नहीं, अपितु कान हैं। भावुक मानव कभी आंखों से काम नहीं लेता। वह सदा कानों के आधार पर ही चलता है, जैसा कि आगे विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। नवनीनवे (९९) के चक्र में फँसे हुए ऐसे ही किसी भावुक के सम्पर्क में उस भावुक के सौभाग्य से, किन्तु स्वयं अपने दुर्भाग्य से एक निष्ठावान विद्वान आजाता है। निष्ठावान की शास्त्रीय चर्चा से भावुक मानव प्रभावित होने लगता है, श्रोता का मन, उसकी बुद्धि वक्ता विद्वान की ओर आकर्षित होने लगती है। भावुक, अतएव श्रद्धालु मानव निष्ठाशील विद्वान पर श्रद्धा करने लगता है, विश्वास करने लगता है। देखने-सुनने वालों को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, मानो यह भावुक मानव तो अब सदा के लिए इस निष्ठावान् का ही अनुगामी बन गया। परन्तु थोड़े ही समय पश्चात् यह सुना जाता है कि, अब अमुक भावुक का अमुक निष्ठावान् के प्रति न तो श्रद्धा ही रही, न विश्वास ही। ऐसा क्यों हुआ ?, उत्तर वही भावुकता है। केवल कानों से काम लेने वाला, प्रत्यक्ष से प्रभावित होनेवाला भावुक उस आत्मनिष्ठा से सर्वथा वञ्चित रहता है, जिस आत्मनिष्ठा के द्वारा श्रद्धा-विश्वास दृढ़मूल बना करते हैं। भावुक में आत्मनिष्ठा का आत्यन्तिक अभाव रहता है, वह विवेक से काम लेना जानता ही नहीं। उस का ज्ञान उस की समझ, उस की योग्यता सदा पराश्रित रहती है, वह स्वयं सदसत् की परीक्षा करने में असमर्थ रहता है। इन्हीं बाह्य संघर्षों के कारण दिन रात में शतशः बार उस के मनोभाव परिवर्त्तित होते रहते हैं। 'क्षणे तुष्टाः, क्षणे रुष्टा.' वाले एवं विध भावुक मानवों का निष्ठाशून्य श्रद्धा-विश्वास कभी उन का कल्याण नहीं कर सकता। कल्याण की एकमात्र जननी है—आत्मनिष्ठा, जो भावुकता से सर्वथा विदूर रहा करती है।

प्रकृतमनुसरामः। 'वर्त्तमान' (विश्वस्थिति) को एक प्रतिष्ठाकेन्द्र मानिए। इस प्रतिष्ठाकेन्द्र पर (विश्व पर) मानव को प्रतिष्ठित समझिए। प्रतिष्ठाकेन्द्रात्मक विश्व के उस ओर विश्व का अतीत इतिहास है, इस ओर भविष्यत् इतिहास है। मध्यस्थ मानव समाज को दोनों में से किसी एक इतिहास की पगडण्डी का सहारा लेकर अपने प्रतिष्ठास्थान (विश्व) में विचरण करना है। इतिहास की पगडण्डी ढूंढने के लिए इस मध्यस्थ मानव के पास दो विभिन्न साधन हैं। अतीतकालानुगामी श्रद्धा-भावनानुगत इन्द्रियुक्त मन एक अन्वेषक है, भविष्यत् कालानुगामिनी आत्मनिष्ठायुक्त विश्वासपूर्णा बुद्धि एक अन्वेषक है। मानव में दोनों का समन्वय असम्भव सा है। अतएव मानव दोनों पगडण्डियों पर एक साथ चलने में असमर्थ बना रह जाता है। जिस मानव की अध्यात्मसंस्था में इन्द्रिययुक्त मन नामक अन्वेषक का विकास है, वह विश्व के अतीत इतिहास की पगडण्डी पर चल पड़ता है, एवं ऐसे ही यात्री को भावुक मानव कहा गया है। जिस मानव में आत्मानुगत बुद्धि नामक अन्वेषक विकसित रहता है, वह विश्व के भविष्यत्-इतिहास की पगडण्डी पर आरूढ़ हो जाता है, एवं ऐसे ही यात्री को निष्ठावान मानव कहा गया है। इतना और जान लीजिए कि, अतीत का वर्त्तमान में कोई उपयोग नहीं हुआ करता। साथ ही अतीत स्वयं भी केवल शून्यं-शून्यं ही है। फलतः अतीत का अनुसरण करने वाले भावुक मानव लोकदृष्टि से सर्वथा शून्य-शून्य बने रहते हुए दुःखात्त हैं। उधर भविष्यत् की आशा के साथ वर्त्तमान का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। साथही भविष्यत् स्वयं भी आशानुगता सत्ता के सम्बन्ध से पूर्ण-पूर्ण बना रहता है। फलतः भविष्यत् का अनुसरण करने वाले

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निष्ठावान मानव लाभदृष्टि से उभयथा पूर्ण-पूर्ण रहते हुए सुखी हैं। इसी आधार पर एक सुन्दर लोकसूक्ति प्रचलित है—'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेय'।

भावुक जहाँ 'परद्रष्टा' है, वहाँ निष्ठावान् 'स्वद्रष्टा' है। दूसरों को देखने वाला भावुक जहां कभी सुखी नहीं रह सकता, वहां अपने आप को देखने वाला निष्ठावान् कभी कभी दुःखी नहीं रहसकता। परद्रष्टा भावुक लाभ देखता नहीं हानी का अनुभव करता नहीं, इसी लिए वह नित्य दुःखी रहता है। स्वद्रष्टा निष्ठावान् यथा प्राप्त लाभ छोड़ता नहीं, हानि का अनुभव करता रहता है', अतएव वह नित्य सुखी रहता है। उदाहरण लीजिए। एक भावुक मानव किसी मूर्ख को सतपथ पर लाने की चेष्टा में संलग्न हो जाता है। वह दूसरे को मूर्ख देख-नहीं सकता। भावुक का स्वभाव ही ऐसा होता है। वह सदा परद्रष्टा ही बना रहता है। मूर्खता अभिनिवेश (दुराग्रह हठ-धर्मी) की सन्तति है। अतएव–'नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्' के अनुसार मूर्ख, और मूर्ख भी भावुक मूर्ख कभी अपनी मूर्खता छोड़ नहीं सकता। परिणाम इस भावुक उपदेशके परिश्रम का यह होता है कि, वह भावुक मूर्ख श्रोता स्वयं इस उपदेशक का उपदेशक बन जाता है। तब कहीं भावुक उपदेशक महोदय की आंखें खुलतीं हैं। इस प्रकार परद्रष्टा इस भावुक उपदेशने मूर्ख भावुक को उपदेश देने से पहिले यह सोचा ही नहीं कि,—'इसे उपदेश देने में लाभ क्या है ?' सोचे-भी क्यों। भावुक भी कहीं लाभ देखा करते होंगे। प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर हानिलाभ का सदसत्पात्रता का विवेक किए बिना आवेशमें आकर भुक पड़ना ही तो भावुकता है। हां तो भावुकउपदेशक महोदय मूर्ख की चिकित्सा करने में अपने आपको असमर्थ पाकर अपनासा श्रीमुख लिए वापस लौट रहे थे, कि मार्ग में किसी निष्ठावान् मानव से आपकी मुठभेड़ हो गई। इसने पूछा, क्यों भाई। तुम जिसे उपदेश दे रहे थे, उसका कुछ सुधार हुआ ?। भावुकद्वारा उत्तर मिला नहीं। प्रतिप्रश्न हुआ-क्या ?। इतने दिन का प्रयास, अहर्निश की वह गमनागमनपरम्परा। श्रोता की जनावश्रुत लगन, और समर्पण, श्रद्धा, और तदनुगत विश्वास। यह सब कुछ होते हुए भी सफलता क्यों नहीं मिली ?'। इस प्रतिप्रश्न का उत्तर चमत्कारपूर्ण मिलता है। भारतीयशास्त्रों ने 'अधिकारी' के परीक्षण को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया है। अतपस्क, अभक्त, अमक्त अशुचि, व्यसनशील, लघुश्रुति, अभिमानी, ईर्ष्यालु, आदिव्यक्ति अपात्र माने गए हैं। इन में दिया हुआ विद्योपदेश सदा न केवल व्यर्थ ही जाता, अपितु ऐसे उपदेशों के द्वारा एवं विध अपात्रों का दम्भ अभिमान निःसीम बन जाता है। भावुक उपदेशक ने भावुकता में आकर पात्रता का विवेक नहीं किया था, जिसका कुफल उसे भोगना पड़ा। अपनी इसी असावधानी से उसने निष्प्रयोजन समाज के एक मानव की अप्रसन्नता को अतिथि बनालिया। परन्तु भावुक परद्रष्टा जो है। उसका यह स्वभाव होता है कि, वह अपना दोष देखने में असमर्थ रहता है। यही नहीं, अपितु वह स्वदोष को भी अन्य पर ही आरोपित करने की भावना में तल्लीन रहता है। अपनी इसी भावना के स्वाभाविक आकर्षण से आकर्षितमना भावुक उपदेशक निष्ठावान् को उत्तर देता है—"अजी छोड़िए, उस मूर्ख की बात। सोचा था, उसका कल्याण होजाय, तो अपना क्या बिगड़ता है। परन्तु वह तो सर्वथा जड़मति ही निकला! चलाजा, अपना क्या बिगड़ा। वह अपनी मूर्खता का फल अपने आप भोगेगा।" उत्तरके तत्त्व पर पाठकों का ध्यान गया होगा। उत्तर से स्पष्ट व्यक्त हो रहा है कि इस भावुक उपदेशक ने लाभनदेखने के साथ साथ हानिका भी अनुभव न किया। इसे यह अनुभव ही न हुआ कि, जीवन का बहुमूल्य इतना लम्बा समय खोकर मैंने अपनी अप्रत्याशित हानी करली। इसी लिए तो पूर्वमें हमने कहाथा कि, परद्रष्टा भावुक—'लाभ देखता नहीं, हानि का अनुभव करता नहीं'।

अब स्वद्रष्टा निष्ठावान् को लक्ष्य बनाइए। भावी परिणामों का पूर्ण विचारक निष्ठावान् मानव वर्त्तमानस्थिति का सम्हाले हुए ही भविष्य की ओर अग्रसर होता है। भावी लाभ के समतुलन के लिए इसे अतीत को भी लक्ष्य बनाए रखना पड़ता है। इस प्रकार अपना आगा (भविष्य), पीछा (अतीत) देख कर बड़ी सावधानी से यह वर्त्तमानस्थिति का संचालन किया करता है। किसी ऐसे निष्ठावान् का उदाहरण बनाइए, जो अपने विवेक, उपज, विद्या, कला, आदि के बल पर भविष्य का पथ समुज्ज्वल देख रहा है। उसे यह दृढतम आत्मविश्वास है कि, वह भविष्य में अतुलवैभव-यश- कीर्त्ति का भोक्ता बन जायगा। परन्तु भावुक वर्त्तमान मानव समाज उसका मूल्याङ्कन करने में असमर्थ है। भावुक मानव समाज की दृष्टि में वह सुयोग्य निष्ठावान् मानव एक साधारण व्यक्ति है। अपनी इसी धारणा के कारण मानव समाज केवल उपकार भावना से, अथवा तो अज्ञात-प्रत्ययत, उसके गुणों से आकर्षित होकर उसका द्रव्यादि से सत्कार करना चाहते हैं, जो सत्कारद्रव्य उसकी योग्यता का उपहासमात्र है। निष्ठावान की दृष्टि जब अपने भविष्य पर जाती है, तो इस सत्कारद्रव्य के प्रति इसे अरुचि होती है। परन्तु उसी क्षण इसकी निष्ठा इसे अतीत स्मृति द्वारा इसे वर्त्तमान में ला खड़ा करती है। तत्काल उसका विवेक जाग्रत होता है। और यह निश्चय कर लेता है कि, अपनी वर्त्तमान स्थिति को प्रगतिशील बनाने के लिए ऐसे यथाप्राप्त लाभों को भी हंसते

(शेष १०७ वें पृष्ठ पर देखिए)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पृथिवीसूक्त (एक अध्ययन)

[लेखक—पृथिवीपुत्र]

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त (१२।१।१-६३) में मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीयजन की एकता का जैसा वर्णन इस सूक्त में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन मन्त्रों में पृथिवी की प्रशस्त वंदना है, और संस्कृति के विकास तथा स्थिति के जो नियम हैं उनका अनुपम विवेचन भी है। सूक्त की भाषा में अपूर्व तेज और अर्थगरिमा पाई जाती है। स्वर्ण का परिधान पहने हुये शब्दों को कवि ने श्रद्धा पूर्वक मातृभूमि के चरणों में अर्पित किया है। कवि को भूमि सब प्रकार से महती प्रतीत होती है, 'सुमनस्यमाना' कहकर वह अपने प्रति भूमि को अनुकूलता को प्रकट करता है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए मन के वात्सल्य भाव से दुग्ध का विसर्जन करती है उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्वती धाराओं से राष्ट्र के जन का कल्याण करती है। कल्याण परम्परा की विधात्री मातृभूमि के स्तोत्र-गान और वन्दना में भावों के वेग से कवि का हृदय उमँग पड़ता है। उसकी दृष्टि में यह भूमि कामदुघा है। हमारी समस्त कामनाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से पन्हाती है। कवि की दृष्टि में पृथिवीरूपी सुरभि के स्तनों में अमृत भरा हुआ है। इस अमृत को पृथिवी की आराधना से जो पी सकते हैं वे अमर हो जाते हैं। मातृभूमि की पोषण-शक्ति कितनी अनन्त है ? वह विश्वंभरा है। उसके विश्व धायस (२७) * रूप को प्रणाम है।

मातृभूमि का हृदय—स्थूल नेत्रों से देखने वालों के लिए यह पृथिवी शिला भूमि और पत्थर धूलि का केवल एक जमघट है। किन्तु जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यान का बल है, वेही भूमि के हृदय को देख पाते हैं। उन्हीं के लिये मातृभूमि का अमररूप प्रकट होता है। किसी देवयुग युग में यह भूमि सलिलार्णव के नीचे दबी हुई थी। जब मनीषियों ने ध्यान पूर्वक इसका चिन्तन किया, तब उनके ऊपर कृपावती होकर यह प्रकट हुई। केवल मन के द्वारा ही पृथिवी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय परम व्योम में स्थित है। विश्व में ज्ञान का जो सर्वोच्च स्रोत है, वहीं यह हृदय सत्य से घिरा हुआ और अमर है (यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः)। हमारी संस्कृति में सत्य का जो प्रकाश है उसका उद्गम मातृभूमि के हृदय से ही हुआ है। सत्य अपने प्रकट होने के लिए धर्म का रूप ग्रहण करता है। सत्य और धर्म एक हैं। पृथिवी धर्म के बल से टिकी हुई है (धर्मणा धृता) महासागर से बाहर प्रकट होने पर जिस तत्व के आधार यह पृथिवी आश्रित हुई, कवि की दृष्टि में वह धारणात्मक तत्त्व धर्म है। इस प्रकार के धारणात्मक महान् धर्म को पृथिवी के पुत्रों ने देखा और उसे प्रणाम किया—नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (महाभारत, उद्योगपर्व)। सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगों में मूर्तिमान् होकर राष्ट्रीय संस्कृति का रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृति का इतिहास सत्य से भरे हुए मातृभूमि के हृदय की ही व्याख्या है। जिस युग में सत्य का रूप विक्रम से संयुक्त होकर सुनहले नेत्र से चमकता है वही संस्कृति का स्वर्णयुग होता है। कवि की अभिलाषा है—'हे मातृभूमि, तुम हिरण्य के संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी हिरण्यमयी प्ररोचना को हम देखना चाहते हैं, (सानो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि १८)। राष्ट्रीय महिमा की नाप यही है कि युग की संस्कृति में सुवर्ण की चमक है। या चाँदी और लोहे की। हिरण्य संदर्शन या स्वर्ण युग ही संस्कृति की स्थायी विजय के युग हैं।

पुराकाल में मनीषी ऋषियों ने अपने ध्यान की शक्ति से मातृभूमि के जिस रूप को प्रत्यक्ष किया था, वह प्राप्तिकरण का अध्याय अभी तक जारी है। आज भी चिंतन से युक्त मनीषि लोग नये २ क्षेत्रों में मातृभूमि के हृदय के नूतन सौन्दर्य, नवीन आदर्श और अछूते रस का आविष्कार किया करते हैं। जिस प्रकार सागर के जल से बाहर पृथिवी का स्थूल रूप प्रकाश में आया, उसी प्रकार विश्व में व्याप्त जो ऋतु है, उसके अमूर्त भावों को मूर्तरूप में प्रकट करने की प्रक्रिया आज भी जारी है। दिलीप के गोचारण की तरह मातृभूमि के ध्यानी पुत्र उसके हृदय के पीछे चलते हैं (यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः), और उसकी आराधना से अनेक नए वरदान प्राप्त करते हैं। यह विश्व ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ कहा गया है। ऊर्ध्व के साथ ही पृथिवी के हृदय का सम्बन्ध है। इसी कारण मातृभूमि के साथ तादात्म्यभाव की भांति ऊर्ध्वस्थिति या अध्यात्म

* कोष्ठक के अङ्क सूक्तान्तर्गत मन्त्रों के अङ्क हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साधना का रूप है। भारतीय दृष्टि से मातृभूमि का प्रेम और अध्यात्म, इन दोनों का यही समन्वय है।

मातृभूमि का स्थूल विश्वरूप—पृथिवी का जो स्थूल रूप है, वह भी कुछ कम आकर्षण की वस्तु नहीं है। भौतिकरूप में श्री या सौन्दर्य का दर्शन नेत्रों का परम लाभ है और उसका प्रकाश एक दिव्य विभूति है। इस दृष्टि से जब कवि विचार करता है तो उसे पृथिवी पर अनेक दिशा में रमणीयता दिखाई पड़ती है (आशामाशां रण्याम् ४३)। वह पृथिवी को विश्वरूपा कहकर संबोधित करता है। पर्वतों के उष्णीष से सज्जित और सागरों की मेखला से अलंकृत मातृभूमि के पुष्कल स्वरूप में कितना सौन्दर्य है? विभिन्न प्रदेशों में पृथक् पृथक् शोभा की कितनी मात्रा है? इसको पूरी तरह पहचान कर प्रसिद्ध करना राष्ट्रीय पराक्रम का आवश्यक अङ्ग है। प्राकृतिक शोभा के स्थलों से जितना ही हम अधिक परिचित होते हैं, मातृभूमि के प्रति उतना ही हमारा आकर्षण बढ़ता है। भूमि के स्थूलरूप की श्री को देखने के लिए हमारे नेत्रों का तेज सौ वर्ष तक बढ़ता रहे और उसके लिए हमें सूर्य की मित्रता प्राप्त हो (३३)।

चारों दिशाओं में प्रकाशित मातृभूमि के चतुरस्र शोभी शरीर को जाकर देखने के लिए हमारे पैरों में संचरणशीलता होनी चाहिए। चलने से ही हम दिशाओं के कल्याणों तक पहुँच सकते हैं (स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, ३१)। जिस देश में जनता की पदपंक्ति पहुँचती है वही तीर्थ बन जाता है। पद-पंक्तियों के द्वारा ही मातृभूमि के विशाल जनायन पथों का निर्माण होता है, और यात्रा के बल से ही रथों के वर्त्म और शकटों के मार्ग भूमि पर बिछते हैं (ये ते पन्था बहवो जनायना रथस्य वर्त्मा नसश्च यातवे, ४७)। चंक्रमण के प्रताप से पूर्व और पश्चिम में तथा उत्तर और दक्षिण में पथों का नाड़ीजाल फैल जाता है। पर्वतों और महाकान्तारों की भूमियाँ युवकों के पद संचार से परिचित होकर सुशोभित होती हैं; 'चारिकं चरित्वा' का व्रत धारण करने वाले चरक-स्नातक पुरों और जनपदों में ज्ञान-मङ्गल करते हैं और मातृभूमि की समग्र शोभा का आविष्कार करते हैं।

आरम्भिक भू प्रतिष्ठा के दिन हमारे पूर्वजों ने मातृभूमि के स्वरूप का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया था। उसके उन्नत प्रदेश, निरंतर बहने वाली जलधाराएँ और हरे-भरे समतल मैदान,—इन्होंने अपनी रूप-संपदा से उनको आकृष्ट किया (यस्याः उद्वतः प्रवतः समं बहु, २)। छोटे गिरिजाल और हिमराशि का श्वेत मुकुट बाँधे हुये महान् पर्वत पृथिवी को टेंके हुए खड़े हैं। उनके ऊँचे शृङ्गों पर शिलीभूत हिम, अधित्यकाओं में सरकते हुए हिमश्रय या बर्फानी गल, उनके मुख से या बाँक से निकलने वाली नदियों और तटान्त में बहने वाली सहस्रों धाराएँ, पर्वतस्थली और द्रोणी, निर्झर और झूलती हुई नदी की तलहटियाँ, शैलों के दारण से बनी हुई दरी और कन्दराएँ, पर्वतों के पार जाने वाले जोत और घाटे—इन सब का अध्ययन भौतिक चैतन्य का एक आवश्यक अंग है। सौभाग्य से विश्वकर्मा ने जिस दिन अपनी हवि से हमारी भूमि की आराधना की, उस दिन ही उसमें पर्वतीय अंश पर्याप्त मात्रा में रख दिया था। भूमिका तिलक करने के लिए मानों विधाता ने सब से ऊँचे पर्वत शिखर को स्वयं उसके मुकुट के समीप रखना उचित समझा। इतिहास साक्षी है कि इन पर्वतों पर चढ़कर हमारी संस्कृति का यश हिमालय के उस पार के प्रदेशों में फैला। पर्वत की सूक्ष्म छानबीन भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता रही है, जिसका प्रमाण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि देवयुगों में पर्वत सागर के अन्तस्तल में सोते थे। तृतीय युग [Tertiary Era] के आरम्भ में लग भग चार करोड़ वर्ष पूर्व भारतीय भूगोल में बड़ी चकनाचूर करने वाली घटनाएँ घटीं। बड़े बड़े भूभाग विलट गए। पर्वतों की जगह समुद्र और समुद्र की जगह पर्वत प्रकट होगए। उसी समय हिमालय और कैलाश भूगर्भ से बाहर आये। उस से पूर्व हिमालय में एक समुद्र या पाथोधि था, जिसे वैज्ञानिक 'टेथिस्' का नाम देते हैं। जो हिमालय इस अर्णव के नीचे छिपा था, उसे हम अपनी भाषा में पाथोधि हिमालय [टेथिस हिमालय] कह सकते हैं। जब से पाथोधि हिमालय का जन्म हुआ, तभी से भारत का वर्त्तमान रूप या ठाट स्थिर हुआ पाथोधि हिमालय और कैलाश के जन्म की कथा और चट्टानों के ऊपर-नीचे जमे हुए परतों को खोलकर इन शैल सम्राटों के दीर्घ आयुष्य और इतिहास का अध्ययन जिस प्रकार पश्चिमी विज्ञान में हुआ है, उसी प्रकार इस शिलीभूत पुरातत्त्व के रहस्य का उद्घाटन हमारे देशवासियों को भी करना आवश्यक है। हिमालय के दुर्धर्ष गंड-शैलों को चीर कर यमुना, जान्हवी, भागीरथी, मन्दाकिनी, और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अलकनन्दा ने केदारखंड में तथा सरयू-काली-कर्णाली ने मानस खंड में करोड़ों वर्षों के परिश्रम से पर्वतों के दले हुए गङ्गलोढों को पीस पीस कर महीन किया है। उन नदियों के विक्रम के वार्षिक ताने-बाने से यह हमारा विस्तृत समतल प्रदेश अस्तित्व में आया है। विक्रम के द्वारा ही मातृभूमि के हृदयस्थानीय मध्यदेशको पराक्रम शालिनी गङ्गा ने जन्म दिया है। इस के लिए गङ्गा को जितना भी पवित्र और मांगल्य कहा जाय कम है। कवि देखता है कि अश्मा और पांसु के पारस्परिक संग्रथन से यह भूमि संधृत हुई है।। (भूमिः संधृता धृता, २६। चित्र विचित्र शिलाओं से निर्मित भूरी, काली और लाल रंग की मिट्टी पृथिवी के विश्वरूपकी परिचायक है। (बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिम् ११)। यही मिट्टी वृक्ष, वनस्पति, ओषधियों को उत्पन्न करती है। इसी से पशुओं और मनुष्यों के लिए अन्न उत्पन्न होता है। मातृभूमि की इस मिट्टी में अद्भुत रसायन है। पृथिवी से उत्पन्न जो गन्ध है, वही राष्ट्रीय विशेषता है। और पृथिवी से जन्म लेने वाले समस्त चराचर में पाई जाती है। मिट्टी और जल से बनी हुई पृथिवी में प्राण की अपरिमित शक्ति है। इसीलिए जिस वस्तु का और विचार का सम्बन्ध भूमि से हो जाता है वही नवजीवन प्राप्त करता है।

हमारे देश में ऊंचे पर्वत और उन पर जमी हुई हिम राशि है, यहां प्रचंड वेग से वायु चलती हुई उन्मुक्त वृष्टि लाती है। कवि को यह देख कर प्रसन्नता होती है कि अपने उपयुक्त समय पर धूलि को उड़ाती हुई और पेड़ों को उखाड़ती हुई मातरिश्वा नामक आंधी एक ओर से दूसरी ओर को बहती है। इस दुर्धर्ष वात के बवन्डर ऊपर नीचे जब चलते हैं, तब बिजली कड़कती है और आकाश कौंध से भर जाता है—

यस्यां वातो मातरिश्वा ईयते रजांसि कृण्वन् च्यावयंश्च वृक्षान्। वातस्य प्रवामुपवामनुवाति अर्चिः। ५१

जिस देश का आकाश तड़िद्वंत मेघों से भरता है वहाँ भूमि वृष्टि से ढक जाती है—

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृता,वृता ५२

प्रतिवर्ष सञ्चित होने वाले मेघजालों के उपकार का स्मरण करते हुए कविने पर्जन्य को पिता (१२) और भूमि को पर्जन्यपत्नी ४२ कहा है।

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे।

'पर्जन्य की पत्नी भूमि को प्रणाम है, जिस में वृष्टि मेद की तरह भरी है।' मेघों की यह वार्षिक विभूति जहाँसे प्राप्त होती है उन समुद्र और सिंधुओं का भी कवि को स्मरण है। अन्न से लहलहाते हुए खेत, बहने वाले जल और महासागर इन तीनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। (यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो यस्यामन्नम् कृष्टयः सम्बभूवुः)। दक्षिण के गर्जनशील महासागरों के साथ हमारी भूमि का उतना ही अभिन्न सम्बन्ध समझना चाहिए जितना कि उत्तर के पर्वतों के साथ। ये दोनों एक ही धनुष की दो कोटियाँ हैं। इसी लिए रमणीय पौराणिक कल्पना में एक सिरे पर शिव और दूसरे पर पार्वती हैं। धनुष्कोटि के समीप ही महोदधि और रत्नाकर के सङ्गम की अधिष्ठात्री देवी पार्वती कन्या कुमारी के रूप में आज भी तप करती हुई विद्यमान हैं।

कुमारिका से हिमालय तक फैले हुए महाद्वीप में निरन्तर परिश्रम करती हुई देश को नदियों और महानदियों की ओर सब से पहले हमारा ध्यान जाता है। इस सूक्त में कविने नदियों के सन्तत विक्रम का अत्यन्त उत्साह से वर्णन किया है।

यस्यामापः परिचराः समानी रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा। ६।

'जिस में गतिशील व्यापक जल रात दिन बिना प्रमाद और आलस्य के बह रहे हैं, वह भूमि उन अनेक धाराओं को हमारे लिए दूध में परिणत करे और हम को वर्चस् से सींचे'। कवि की वाणी सत्य है। मेघों से और नदियों से प्राप्त होने वाले जल खेतों में खड़े हुए धान्य के शरीर या पौधों में पहुँच कर दूध में बदल जाते हैं। और वह दूध ही गाढा होकर जौ, गेहूं और चावल के दानों के रूप में जम जाता है। खेतों में जाकर यदि हम अपने नेत्रों से इस क्षीर सागर को प्रत्यक्ष देखें तो हमें विश्वास होगा कि हमारे धन धान्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी इसी क्षीरसागर में बसती हैं। यही दुग्ध अन्नरूप से मनुष्यों में प्रविष्ट होकर वर्चस् और तेज को उत्पन्न करता है। कवि की दृष्टि में पृथिवी के जल विश्वव्यापी (समानी) हैं। आकाशस्थित जलों से ही पार्थिव जल जन्म लेते हैं। हिमालय की चोटियों पर और गंगा में उतरने से पूर्व गंगा के दिव्य जल आकाश में विचरते हैं वहाँ पार्थिव सीमाभाव की लकीरें उनमें नहीं होती। कौन कह सकता है कि किस प्रकार पृथिवी पर आने से पूर्व आकाश में स्थित जल हिमालय के और कैलाश के शृंगों की कहाँ-कहाँ परिक्रमा करते हैं? भारतीय कवि गंगा के स्रोत को ढूंढते हुए चतुर्गंगम् और सप्तगंगम्

धाराओं से कहीं ऊपर उठकर उन दिव्य जलों † तक पहुँच कर गंगा का प्रभव स्थान मानते हैं। उनके व्यापक दृष्टि-कोण के सम्मुख स्थूल पार्थक्य के भाव नहीं ठहरते।

भूमि के पार्थिव रूप में उसके प्रशंसनीय अरण्य भी हैं। कृषि-संपत्ति और वन-सम्पत्ति, वनस्पति जगत के ये दो बड़े विभाग हैं। यह पृथिवी इन दोनों की माता है। में। एक ओर इसके खेतों में अथक परिश्रम करने वाले (क्षेत्रे यस्या विकुर्वते, ४३) इसके बलिष्ठ पुत्र भाँति-भाँति के व्रीहि-यवादिक अन्नों को उत्पन्न करते हैं (यस्यामन्नं व्रीहियवौ, ४२) और लहलहाती हुई खेती (कृष्टयः ३) को देखकर हर्षित होते हैं, तथा दूसरी ओर वे जङ्गल और कान्तार हैं जिनमें अनेक प्रकार की वीर्यवती ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं (नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति, २)। यह पृथिवी साक्षात् ओषधियों की माता है, (विश्वस्वम् मातर-मोषधीनाम्, १७, वर्षा ऋतु में जब जल से भरे हुए मेघ आकाश में गरजते हैं तब ओषधियों की बाढ़ से पृथिवी का शरीर ढक जाता है। उस विचित्र वर्ण के कारण पृथिवी की एक संज्ञा पृश्नि कही गई है। वे ओषधियाँ षट् ऋतुओं के चक्र में परिपक्व होकर जब मुरझा जाती हैं तब उन के बीज फिर पृथिवी में ही समा जाते हैं। पृथिवी उन बीजों को सँभाल कर रखने वाली धात्री है। [गृभिः ओषधीनाम्-५७] समतल मैदान और हिमालय आदि पर्वतों के उत्सङ्ग में स्वच्छंद हवा और खुले आकाश के नीचे वातातपिक जीवन बिताने वाली इन असंख्य ओषधियों की इयत्ता कौन कह सकता है? इन्द्र धनुष के समान सात रङ्ग के पुष्पों से खिल कर सूर्य की धूप में हँसते हुए जब हम इन्हें देखते हैं तब हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है। शंख पुष्पी का छोटासा हरित वृन्त श्वेत पुष्प का मुकुट धारण किए हुए जहाँ विकसित होता है वहाँ धूप में एक मङ्गल सा जान पड़ता है। ब्राह्मी, रुद्रवन्ती, स्वर्णक्षीरी, सौवर्णी; शङ्ख-पुष्पी इन के नामकरण का जो मनोहर अध्याय हमारे देश के निघन्टु-वेत्ताओं ने आरम्भ किया था, उस की कला अद्वितीय है। एक एक ओषधि के पास जाकर उस के मूल और कांड से; पत्र और पुष्प से केसर और पराग से उस के जीवन का परिचय और कुशल पूँछकर उस के लिए भाषा के भण्डार में से एक भव्य सा नाम चुना गया। इन औषधियों में जो गुण भरे हैं उन के साथ हमारे राष्ट्र को फिर से परिचित होने की आवश्यकता है।

वृक्ष और वनस्पति पृथिवी पर ध्रुव भाव से खड़े हैं। [यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा २७]। यों देखने में प्रत्येक की आयु काल से परिमित है। किन्तु उन का बीज और उन की नस्ल हमेशा जीवित रहती है। यही उनका पृथिवी के साथ स्थायी सम्बन्ध है। करोड़ों वर्षों से विकसित होते हुए वनस्पति-जगत् के ये प्राणी वर्त्तमान जीवन तक पहुँचे हैं और इस के आगे भी ये इसी प्रकार बढ़ते और फूलते-फलते रहेंगे। इसी भूमि पर उन्नत भाव से खड़े हुए जो महावृक्ष हैं उन को यथार्थतः वन के अधि-पति या वानस्पत्य नाम दिया जा सकता है। देवदारु और न्यग्रोध, आम्र और अश्वत्थ, उदुम्बर और शाल ये अपने यहाँ के कुछ महा विटप हैं। महावृक्षों की पूजा और उन को उचित सम्मान देना हमारा परम कर्त्तव्य है। जहाँ महावृक्षों को आदर नहीं मिलता वहाँ के अरण्य क्षीण हो जाते हैं। सौ फुट ऊँचे और तीस फुट घेरे वाले अत्यन्त प्रांशु केदार और देवदारुओं को हिमालय के उत्सङ्ग में देख कर जिन लोगों ने श्रद्धा के भाव से उन वनस्पतियों को शिव के पुत्ररूप में देखा। वे सचमुच जानते थे कि वनस्पति-संसार कितने उच्च सम्मान का अधिकारी है। स्वयं शिव ने केदारों का स्वामित्त्व स्वीकार किया। आज अनवधान के कारण हम अपने इन वानस्पत्यों को देखना भूल गए हैं। तभी हम उस मालझन लता की शक्ति से अनभिज्ञ हैं जो सौ-सौ फुट ऊँचे उठकर हिमालय के बड़े बड़े वृक्षों को अपने बाहुपाश में बाँध लेती है। आज वनस्पति-जगत के प्रति 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' के प्रश्नों के द्वारा हमें अपने चैतन्य को फिर से झकझोरने की आवश्यकता है। जहाँ फूले हुए शाल वृक्षों के नीचे विद्धशाल भंजिका की क्रीड़ाओं का प्रचार किया गया। जहाँ उदीयमान नारी-जीवन के सरस मन से वनस्पति-जगत् को तरङ्गित करने के लिए अशोक-दोहद जैसे विनोद कल्पित किये गए, वहाँ मनुष्य और वनस्पति-जगत् के सख्य भाव को फिर से हरा भरा बनाने की आवश्यकता है। पुष्पों की शोभा वनश्री का एक विलक्षण ही शृङ्गार होता है। देश में पुष्पों के सम्भार से भरे हुए वन-खण्ड और वाटिकाएँ हैं। कमल हमारे सब पुष्पों में एक निराली शोभा रखता है। वह मातृभूमि का प्रतीक ही बन गया है। इसी लिए पुष्पों में कवि ने कमल का स्मरण किया है। वह कवि कहता है— हे भूमि, तुम्हारी जो गन्ध कमल में बसी हुई है (यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश, २४) उस सुगन्ध से मुझे सुरभित करो।

इस पृथिवी पर द्विपद और चतुष्पद (पशु-पक्षी) दोनों ही निवास करते हैं। आकाश की गोद में भरे हुए हंस और

† एरियल वाटर्स

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum LUCKNOW

सुपर्ण व्योम को प्राणमय बनाते हैं (यां द्विपादः पक्षिणः सम्पतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि, ५१) प्रतिवर्ष मान सरोवर की यात्रा करने वाले हमारे हंसों के पंख कितने सशक्त हैं। आकाश में वज्र की तरह टूटने वाले दृढ़ और बलिष्ठ सुपर्णों को देखकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। मनुष्यों के लिए भी जो वन अगम हैं उन में पशु और पक्षी चहल पहल रखते हैं। उन के सुरीले कंठ और सुन्दर रंगों को देखकर हमें शब्द और रूप की अपूर्व समृद्धि का परिचय प्राप्त होता है।

भूमि पर रहने वाली पशु-सम्पत्ति भी भूमि के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना कि स्वयं मनुष्य। कवि की दृष्टि में यह पृथिवी गौओं और अश्वों का बहुविध स्थान है (गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा, ५) देश में जो गोधन है, उसकी नस्लें सहस्रों वर्षों से दूध और घी से हमारे शरीरों को सींचती आई हैं, उनके अध्ययन, रक्षा और उन्नति में दत्तचित्त होना राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। गौओं के प्रति अनुकूलता और सौमनस्य का भाव मानुषी शरीर के प्रत्येक अणु को अन्न और रस से तृप्त रखता है। सिंधु, कंबोज और सुराष्ट्र के जो तुरंगम दीर्घ युगों तक हमारे साथी रहे हैं उनके प्रति उपेक्षा करना हमें शोभा नहीं देता। इस देश के साहित्य में अश्वसूत्र और हस्तिसूत्र की रचना बहुत पहले हो चुकी थी। पश्चिमी एशिया के अमरना स्थान में आचार्य किक्कुलि का बनाया हुआ अश्व-शास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जो विक्रम से भी पन्द्रह शताब्दी पूर्व का है। इसमें घोड़ों की चाल और कुदाव के बारे में एकावर्त्तन आवर्तन, पचावर्तन, सत्तावर्तन सदृश अनेक संस्कृत शब्दों के रूपान्तर प्रयुक्त हुए हैं।

जो व्याघ्र और सिंह कन्तारों की गुफाओं में निर्द्वन्द्व विचरते हैं उनकी ओर भी कवि ने ध्यान दिया है। यह पृथिवी वनचारी शूकर के लिए भी खुली है, सिंह और व्याघ्र जैसे पुरुषाद आरण्य पशु यहां शौर्य पराक्रम के उपमान बने हैं (४६)। पशु और पक्षी किस प्रकार पृथिवी के यश को बढ़ाते हैं इसका इतिहास साक्षी है। भारतवर्ष के मयूर प्राचीन बावेरु (बेबीलन) तक जाते थे (बावेरुजातक)। प्राचीन केकय देश (आधुनिक शाहपुर-झेलम) के राजकीय अन्तःपुर में कराल दाढ़ों वाले महाकाय कुत्तों की एक नस्ल व्याघ्रों के वीर्य-बल से तय्यार होती थी, जिसकी कीर्ति यूनान और रोम तक प्राचीन काल में पहुँची थी। हखमनश से प्राप्त भारत-लक्ष्मी की चाँदी की तश्तरी पर इस बघेरी नस्ल के कुत्तों का चित्रण पाया जाता है। कुत्तों की यह भीम जाति आज भी जीवित है और राष्ट्रीय कुशल प्रश्न और दाय में भाग पाने के लिए उत्सुक है। विषैले सर्प और तीक्ष्ण डंक वाले बिच्छू हेमन्त ऋतु में सर्दी से ठिठुर कर गुम-सुम बिलों में सोए रहते हैं। ये भी पृथिवी के पुत्र हैं। जितनी लख चौरासी वर्षा ऋतु में उत्पन्न होकर सहसा रेंगने और उड़ने लगती हैं उनके जीवन से भी हमें अपने लिए कल्याण की कामना करनी है (४६)।

ऊपर कहे हुए पार्थिव कल्याणों से संपन्न मातृभूमि का स्वरूप अत्यन्त मनोहर है। उसके अतिरिक्त स्वर्ण, मणि रत्न आदिक निधियों ने उसके रूप-मंडन को और भी उत्तम बनाया है। रत्न प्रसू, रत्न धात्री यह पृथिवी 'वसुधानी' है, अर्थात् सारे कोषों का रक्षा स्थान है। उसकी छाती में अनन्त सुवर्ण भरा हुआ है। हिरण्यवक्षा भूमि के इस अपरिमित कोष का वर्णन करते हुए कवि की भाषा अपूर्व तेज से चमक उठती है—

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ॥ २ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहावसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

विश्व का भरण करने वाली, रत्नों की खान, हिरण्य से परिपूर्ण, हे मातृभूमि तुम्हारे ऊपर एक संसार ही बसा हुआ है। तुम सब की प्राणस्थिति का कारण हो।

अपने गूढ़ प्रदेशों में तुम अनेक निधियों का भरण करती हो। रत्न, मणि, और सुवर्ण की तुम देने वाली हो। रत्नों का वितरण करने वाली वसुधे, प्रेम और प्रसन्नता से पुलकित होकर हमारे लिये कोषों को प्रदान करो।

अटल खड़ी हुई अनुकूल धेनु के समान, हे माता, तुम सहस्रों धाराओं से अपने द्रविण का हमारे लिए दोहन करो। तुम्हारी कृपा से राष्ट्र के कोष अक्षय्य निधियों से भरे-पूरे रहें उनमें किसी प्रकार किसी कार्य के लिए कभी न्यूनता न हो। हिरण्यवक्षा पृथिवी के इस अभिनव सुन-हले रूप को कवि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है—

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः। (२६)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पृथिवी के साथ संवत्सर का अनुकूल सम्बन्ध भी हमारी उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कवि ने कहा है—

हे पृथिवी, तुम्हारे ऊपर संवत्सर का नियमित ऋतु घूमता है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त शिशिर और वसन्त का विधान अपने कल्याणों को प्रतिवर्ष तुम्हारे चरणों में भेंट करता है। धीर गति से अग्रसर होते हुए तुम्हारे अहोरात्र नित्य नये दुग्ध का प्रस्रवण करते हैं। पृथिवी के प्रत्येक संवत्सर की कार्यशक्ति की वार्षिक लेख कितना अपरिमित है। उसकी दिनचर्या और निज-गती अहोरात्र के द्वारा ऋतुओं में और ऋतुओं के द्वारा संवत्सर में आगे बढ़ती है। पुनः संवत्सर उस विक्रम की कथा को महाकाल के प्रवर्तित चक्र को भेंट करती है। संवत्सर का इतिहास नित्य है। वसंत ऋतु के किस क्षण में किस पुष्प को हे पृथिवी, रंगों की तूलिका से तुम सजोती हो; पंख फैलाकर उड़ती हुई तुम्हारी तितलियाँ किस ऋतु में कहाँ से कहाँ जाती हैं; किस समय क्रौञ्च पक्षी कलरव करती हुई पंक्तियों में मान सरोवर से लौटकर हमारे खेतों में मङ्गल करते हैं; किस समय तीन दिन तक बहने वाला फगुनहटा वृक्षों के जीर्ण-शीर्ण पत्तों को धराशायी बना देता है, और किस समय पुरवाई आकाश को मेघों की घटा से छा देती है?—इस ऋतु विज्ञान को तुम्हारी रोम हर्षण गृह वार्ता को जानने की हमें नूतन अभिरुचि हुई है। भूमि पर जन का सन्निवेश बड़ी रोमांचकारी घटना मानी जाती है। किसी पूर्व युग में जिस जनने अपने पद इस पृथिवी पर टेके उसी ने भू-प्रतिष्ठा* प्राप्त की, उसी के भूत और भविष्य की अधिष्ठात्री यह भूमि है—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी (१७)

पृथिवी पर सर्वप्रथम पैर टेकने का भाव जन के हृदय में गौरव उत्पन्न करता है। जन की ओर से कवि कहता है—मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सब से पूर्व इस भूमि पर पैर जमाया था—

अजीतो ऽहतो अक्षतो ऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (११)

उस भू-अधिष्ठान के कारण भूमि और जन के बीच में एक अन्तरङ्ग सम्बन्ध उत्पन्न हुआ। यह सम्बन्ध पृथिवी सूक्त के शब्दों में इस प्रकार है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२)

'यह भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ।' भूमि के साथ माता का सम्बन्ध जन या जाति के समस्त जीवन का रहस्य है। जो जन भूमि के साथ इस सम्बन्ध का अनुभव करता है वही माता के हृदय से प्राप्त होने वाले कल्याणों का अधिकारी है, उसी के लिए माता दूध का विसर्जन करती है।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः (१०)

जिस प्रकार पुत्र को ही माता से पोषण प्राप्त करने का अवसर है, उसी प्रकार पृथिवी के ऊर्ज रस या बल पृथिवी पुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। कवि के शब्दों से हे पृथिवी, तुम्हारे शरीर से निकलने वाली जो शक्ति की धाराएँ हैं उनके साथ हमें संयुक्त करो'—

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥ (१२)

पृथिवी या राष्ट्र का जो मध्यबिन्दु है उसे ही वैदिक भाषा में नभ्य कहा है। उस केन्द्र से युग युग में अनेक ऊर्ज या राष्ट्रीय बल निकलते हैं। जब इस प्रकार के बलों की नदियाँ आती हैं तब राष्ट्र का कल्पवृक्ष हरियाता है। युगों से सोए हुए भाव जाग जाते हैं और वही राष्ट्र का जागरण होता है कवि की अभिलाषा है कि जब इस प्रकार के ऊर्ज प्रवाहित हों। तब मैं भी उस चेतना के प्राण-वायु से संयुक्त होऊँ। पृथिवी के ऊपर आकाश में छा जाने वाले विचार-मेघ वे पर्जन्य हैं जो अपने वर्षण से समस्त जनता को सींचते हैं (पर्जन्य पिता स उ नः पिपर्तु, १२)। उन पर्जन्यों से प्रजाएँ नई नई प्रेरणाएं लेकर बढ़ती हैं।

पृथिवी पर उठने वाले ये महान् वेग, मानसिक शक्तियों में प्रकंप उत्पन्न करते हैं, और शारीरिक बलों में चेतना या हलचल को जन्म देते हैं। इन दो प्रकार के वेगों (फोर्सेस) के लिए वेद में 'एजथु' और 'वेपथु' शब्दों का प्रयोग किया गया है—

* भू-प्रतिष्ठा, भू-स्थापन, प्रारम्भिक युग में भूमि पर जन के सन्निवेश की संज्ञा है जिसे अंग्रेजी में 'लैंड टेकिंग' कहा जाता है। आइसलैंड की भाषा के अनुसार 'लैंड टेकिंग' के लिए 'लैंडनामा' शब्द है। डा० कुमार स्वामी ने ऋग्वेद को लैंड नामा बुक कहा है, क्योंकि ऋग्वेद प्रत्येक क्षेत्र में आर्य-जाति की 'भू प्रतिष्ठा' का ग्रन्थ है। पूर्व जनों के द्वारा भू-प्रतिष्ठा (पृथ्वी पर पैर टेकना) सब देशों में एक अत्यन्त पवित्र घटना मानी जाती है। (देखिए कुमार स्वामी, ऋग्वेद एज लैंड-नामा-बुक, पृ० २४)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महत्सधस्थं, महती बभूव।
महान्वेग एजथु र्वेपथुष्टे (१८)

भूमि की एक संज्ञा सधस्थ (कॉमन फादरलैंड) है, क्योंकि उस के सब पुत्र मिलकर (सह + स्थ) एक साथ रहते हैं। यह महती पितृ भूमि या सधस्थ विस्तार में अत्यन्त महान है और ज्ञान की प्रतिष्ठा में भी इस का पद ऊँचा है। इस के पुत्रों के एजथु (मन के प्रेरक वेग) और वेपथु (शरीर के बल) भी महान हैं। तीन महत्ताओं से युक्त इस की रक्षा महान् इन्द्र प्रमाद रहित होकर करते हैं (महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्य प्रमादम् (१८)। महान देश विस्तार, महती सांस्कृतिक प्रतिष्ठा, जनता में शरीर और मन का महान आन्दोलन और राष्ट्र का महान् रक्षण-बल ये चारों जब एक साथ मिलते हैं तब उस युग में इतिहास स्वर्ण के तेज से चमकता है। इसी को कवि ने कहा है—'हे भूमि, हिरण्य के संदर्शन से हमारे लिए चमको, कोई हमारा वैरी न हो।' बड़े बड़े बवन्डर और भूचाल, हड़हड़े और हड़कम्प, वतास और झंझाएँ भौतिक और मानसिक जगत में पृथिवी पर चलते रहते हैं। इतिहास में कहीं युद्धों के प्रलयङ्कर मेघ गहराते हैं, कहीं क्रान्ति और विप्लवों के धक्के पृथिवी को डगमगाते हैं। परन्तु पृथिवी का मध्य बिन्दु कभी नहीं डोलता। जिन युगों में किलकारी मारने वाली घटनाओं के अध्याय सपाटे के साथ दौड़ते हैं, उन में भी पृथिवी का केन्द्र ध्रुव और अडिग रहता है। इस के कारण यह है कि यह पृथिवी इन्द्र की शक्ति से रक्षित (इन्द्रगुप्ता) है। सब से महान देव इन्द्र प्रमाद रहित होकर स्वयं इस की रक्षा करता रहता है। इस प्रकार की कितनी अग्नि परीक्षाओं में पृथिवी उत्तीर्ण हो चुकी है।

कवि की दृष्टि में मनु की सन्तति इस पृथिवी पर असंबाध निवास करती है (असंबाधं बध्यतो मानवानाम् २)। इस भूमि के पास चार दिशाएँ हैं, इसका स्मरण कराने का तात्पर्य है कि प्रत्येक दिशा में जो स्वाभाविक दिक्सीमा है वहाँ तक पृथिवी का अप्रतिहत विस्तार है। 'प्राची और उदीची, दक्षिण और पश्चिम—इन दिशाओं में सर्वत्र हमारे लिए कल्याण हो और हम कहीं से उत्क्रान्त न हों, (३१, ३२)। इस भुवन का आश्रय लेते हुए हमारे पैरों में कहीं ठोकर न लगे (मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः) और हमारे दाहिने और बाएँ पैर ऐसे दृढ़ प्रतिष्ठित हों कि किसी अवस्था में भी वे लड़खड़ाएँ नहीं (पद्भ्यां दक्षिण-सव्याभ्याम् मा व्यथिष्महि भूम्याम्)। जनता के पराक्रम की चार अवस्थाएँ होती हैं—कलि, द्वापर, त्रेता और कृत। जनता का सोया हुआ रूप कलि है, बैठने की चेष्टा करता हुआ द्वापर है, खड़ा हुआ रूप त्रेता और चलता हुआ रूप कृत है (उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः, २८)।*

पृथिवी पर असंबाध विकास करने के लिए एक भावना बारंबार इन मन्त्रों में प्रकट होती है। वह है पृथिवी के विस्तार का भाव। यह भूमि हमारे लिए उरुलोक अर्थात् विस्तृत प्रदेश प्राप्त करने वाली हो (उरुलोकं पृथिवी नः कृणोतु)। द्युलोक और पृथिवी के बीच में महान अंतराल जनता के लिए सदा उन्मुक्त रहे। राष्ट्र के लिए केवल दो चीजें चाहिएँ—एक 'व्यच' या भौमिक विस्तार और दूसरी मेधा या मस्तिष्क की शक्ति (५३)। इन दो की प्राप्ति से पृथिवी की उन्नति का पूर्ण रूप विकसित हो सकता है।

भूमि पर जनों का वितरण इस प्रकार स्वाभाविक रीति से होता है जैसे अश्व अपने शरीर की धूल को चारों ओर फैलाता है। जो जन पृथिवी पर बसे थे वे चारों ओर फैलते गए और उन से ही अनेक जनपद अस्तित्व में आए। यह पृथिवी अनेक जनों को अपने भीतर रखने वाला एक पात्र है (त्वमस्यावपनी जनानाम्, (६१) यह पात्र विस्तृत है (पप्रथाना), अखंड (अदितिरूप) है, और सब कामनाओं की पूर्ति करने वाला (कामदुघा) है। किसी प्रकार की कोई न्यूनता प्रजापति के सुन्दर और सत्य नियमों के कारण इस पूर्ण घट में उत्पन्न नहीं होती। पृथिवी के ऊन भावों की पूर्ति का उत्तरदायित्व प्रजापति के ऋत या विश्व की संतुलन शक्तियों पर है (यत्त ऊनं तत्त आपूरयति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य, ६१)।

'पृथिवी पर बसे हुए अनेक प्रकार के जनों की सत्ता ऋषि स्वीकार करता है। मातृ भूमि को वे मिलकर शक्ति देते हैं और उसके रूप की समृद्धि करते हैं। अपने अपने प्रदेशों के अनुसार ('यथौकसम्') उनकी अनेक भाषाएँ हैं और वे नाना धर्मों के मानने वाले हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं,
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (४५)

---

* इसी की व्याख्या ऐतरेय के चरैवेति गान में है—
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनमें जो भिन्नता की सामग्री है उसे मातृभूमि सहर्ष स्वीकार करती है। विभिन्न होते हुए भी उन सब में एक ही तार इस भावनाका पिरोया हुआ है कि वे सब पृथिवी के पुत्र हैं। कवि की दृष्टि में यह एकता दो रूपों में प्रकट होती है। एक तो उस गंध के रूप में है जो पृथिवी का विशेष गुण है यह गंध सब में बसी हुई है। जिसमें भूमि की गंध है वही सुगध है और उसी में भूमि का तेज झलकता है। पृथिवी से उत्पन्न वह गंध राष्ट्रीय विशेषता के रूप में स्त्रियों और पुरुषों में प्रकट होती है। उसी गंधको हम स्त्री-पुरुषों के भाग्य और मुख के तेज के रूप में देखते हैं। वीरों का पौंस्य भाव और कन्या का वर्चस् उसी गन्ध के कारण है। मातृभूमि की पुत्री प्रत्येक कुमारी अपने लावण्य में उसी गंध को धारण करती है। मातृभूमि की उस गन्ध से हम सब सुरभित हों, उस आरभका आकर्षण सर्वत्र हो। अन्य राष्ट्रों के मध्य में हमारी इस गन्धका कोई वैरी न हो, केवल उस गन्ध के कारण अर्थात् मातृभूमि की उस छाप को अपने शिर पर धारण करने के कारण कोई हमसे द्वेष न करे (तेन या सुरभि कृणुमानो द्विक्षत कश्चन २४, २५)। वह गन्ध भूमि के प्रत्येक परमाणु की विशेषता है। ओषधियों और वनस्पतियों में, मृगों और आरण्य पशुओं में, अश्वों और हाथियों में सर्वत्र वही एक विशेषता स्पष्ट है। मातृभूमि की उस गन्ध के कारण किसी को कहीं भी निरादर प्राप्त न हो, वरन इसी गुण के कारण राष्ट्र में वे तेजस्वी और संमानित हों। वही गन्ध उस पुष्कर में बसी हुई थी जिसे सूर्य्य के विवाह में देवों ने सूँघा था। उन अमर्त्यों को हे भूमि, तुम्हारी 'अग्र गंध' उदय के प्रथम प्रभात में प्राप्त हुई थी' वही अग्र गन्ध हमें भी सुरभित करने वाली हो। जिस समय राष्ट्र की सब प्रजाएं परस्पर सुसत्प्रमान होकर अपने सुन्दर से सुन्दर रूप में विराजमान थीं, उस समय सूर्या के विवाह में उनका जो महोत्सव हुआ था, उस सम्मेलन में जिस गन्ध से बसे हुए कमल को देवों ने सूँघा था, उसी अमर गन्धकी उपासना आज हमलोग करते हैं (२३, २४)। जनता का बाह्य भौतिक रूप और भी उसी राष्ट्रीय ऐक्य से सदा प्रभावित हो।

एकता का दूसरा रूप अधिक स्पष्ट है। वह मानस जगत् की भावना है। वह अग्नि के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। अग्नि ही ज्ञान की ज्योति है। 'पुरुषों और स्त्रियों में, अश्वों और गौओं में, जल और ओषधियों में, भूमि और पाषाणों में, द्युलोक और अन्तरिक्ष में एक ही अग्नि बसी हुई है। मर्त्य लोग अपनी भावना से उसी अग्नि को प्रज्वलित करके अमर्त्य बनाते हैं।' मातृभूमि के जिन पुत्रों में यह अग्नि प्रकट हो जाती है वे अमृतत्त्व या देवत्त्व के भाव को प्राप्त करते हैं। 'यह समस्त भूमि उस अग्नि का वस्त्र ओढ़े हुए है। इसका घुटना काला है' (अग्निवासाः पृथिवी असितज्ञुः, २१)। पुत्र माता के जिस घुटने पर बैठता है, उसका भौतिक रूप काला है, किन्तु उस पर बैठकर और मातृमान बन कर वह अपने हृदय के भावों से उस अग्नि को प्रकाशित करता है, जिससे वह तेज और तीक्ष्ण बल प्राप्त करके त्विषीमंत और संशित बनता है, (२१)। मातृभूमि के साथ संबंधित होने के लिए मनोभाव ही प्रधान वस्तु है। 'जो देवों की भावना रखते हैं, उन के लिए यहाँ सजाए हुए यज्ञ हैं; जो मानुषी भावों से प्रेरित हैं उन मर्त्यों के लिए केवल अन्न और पान के भोग हैं, (२२)। इस सूक्त में भूमि, भूमि पर बसने वाले जन, जनों की विविधता, उनकी एकता, और उन सबको मिलाकर एक उत्तम राष्ट्र की कल्पना-इन पाँचों का स्पष्ट विवेचन पाया जाता है। कविने निश्चित शब्दों में कहा है—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (८)

समग्रता—राष्ट्रीय ऐक्य के लिए सूक्त में 'समग्र' शब्द का प्रयोग है। यह ऐक्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? आपस में भिन्नता होना, अनेक भाषाओं और धर्मों का अस्तित्व कोई त्रुटि नहीं है। अभिशाप के रूप में उस की कल्पना वेद का भाव नहीं है। ऋषि की दृष्टि में विविधता का कारण भौमिक परिस्थिति है। नाना धर्म, भिन्न भाषाएँ बहुधा जन ये सब यथौकस् अर्थात् अपने अपने निवासस्थानों के कारण पृथक् हैं। इस स्वाभाविक कारण से जूझना मनुष्य की मूर्खता है। यह स्थूल भेद कभी एकाकार हो जायँगे यह समझना भी भूल है। पृथिवी से जो प्राणी उत्पन्न हैं उन्हें भूमि पर विचरने का अधिकार है। जो भद्र और पाप हैं उन्हें भी जनायन मार्गों के के उपयोग का स्वत्त्व है। जितने मर्त्य पंच मानव यहाँ हैं वे तब तक अमर रहेंगे जब तक आकाश में सूर्य है क्योंकि सूर्य ही तो प्रातःकाल सबको अपनी रश्मियों से अमर बना रहा है। (१५) पृथिवी के पंच मानव और छोटी मोटी और भी अनेक प्रजाएँ (पंच कृष्टयः) विधाता के विधान के अनुसार ही स्थायी रूप से यहाँ निवास करने के लिए हैं, अतएव उनको परस्पर समग्र भाव से एकता के सूत्र में बंध कर रहना आवश्यक है—

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा

वाचो मधु पृथिवी धेहि मह्यम्। (१६)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बिना एकता के मातृभूमि का कल्याण असंभव है। पृथिवी के दोहन के लिए आदिराज पृथु ने जड़-चेतन के अनेक वर्गों को एक सूत्र में बाँधा था, और भूमि का दूध पीने के लिए पृथु की अध्यक्षता में सभी को बछड़ा बनना पड़ा था। इस ऐक्य भाव की कुंजी वाणी का माधुर्य बोली का मिठास है (वाचः मधु) यह कुंजी तीन काल में भी नहीं बिगड़ती। हमें चाहिए कि जब बोलने लगें तो पहले यह सोच लें कि हम उससे किसी के हृदय पर आघात तो नहीं कर रहे हैं। हे सब को शुद्ध करने वाली माता! तुम्हारे धर्म और हृदयस्थान का धन मैं कभी न करूँ।' (३५) प्रियदर्शी अशोक ने सम्प्रदाय में सुमति और सद्भाव के लिए वाणी के इस शब्द का उपदेश दिया था। अपने को उज्वल सिद्ध करने के लिए जब हम दूसरों की निन्दा करते हैं तब आप भी बुझ जाते हैं। राष्ट्र की वाक् में मधु की अनेक धाराओं के अनवरत प्रवाह में ही सब का कल्याण है और वही मधु समग्र प्रजाओं को एक अखण्ड भाव में गूँथता है। पृथिवी स्वयं क्षमाशील धात्री है (क्षमां भूमिम्, २६)। वह क्षमा और सहिष्णुता का सब से बड़ा आदर्श उपस्थित करती है। 'ज्ञानी-गुरु (२६) और मूर्ख-वृद्ध दोनों को वह पोषित करती है। भद्र और पापी दोनों की मृत्यु उसी की गोद में होती है।' (४८ 'प्रत्येक प्राणी दाहिनी-बाईं पसलियों की करवट से उस पर लेटता है और वह सभी का बिछौना बनी है' (सवस्य प्रति शीवरी) ३४)। पृथिवी पर बसने वाला जन व्यक्तिरूप से शतायु पर समष्टि रूप से अमर है। जन जन का जीवन एक पीढ़ी में समाप्त नहीं हो जाता; वह युगान्त तक स्थिर रहता है। सूर्य उसके अमृतत्त्व का साक्षी है। जब पृथिवी के उत्सङ्ग में रोग और ह्रास से अभय होकर रहना चाहता है (अनमीवा अयक्ष्मा, ६२) हे मातृभूमि, हम दीर्घ आयु तक जागते हुए तुम्हारे लिए भेंट चढ़ाते रहें (६। पृथिवी जन के भूत और भविष्य दोनों की पालनकर्त्री है। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, १)। उसकी रक्षा स्वयं देव प्रमाद बिना स्वप्न रहित होकर करते हैं (७)। इसलिए पृथिवी का जीवन कल्पांत तक स्थायी है। उस भूमि के साथ यज्ञीय भावों से सम्बन्धित जन भी अजर-अमर हैं।

भूमि के साथ जन का सम्बन्ध आज नया नहीं है। यही पृथिवी हमारे पूर्व पुरुषों की भी जननी है। 'हे पृथिवी, तुम हमारे पूर्व कालीन पूर्वजों की भी माता हो। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर पूर्व जनों ने अनेक विक्रम के कार्य किए हैं—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे। (५)

उन पराक्रमों की कथा ही हमारे जन का इतिहास है। हमारे पूर्व पुरुषों ने इस भूमि को शत्रुओं से रहित (अनमित्र) और असपत्न बनाया। उन्होंने युद्धोंमें दुंदुभि-किया (यस्यां वदति दुंदुभिः, ४१) और आनन्द से विजय-गान करते हुए नृत्य और संगीत के प्रमोद किए (यस्यां नृत्यन्ति गायन्ति क्लैव्या, ४६)। जनता की हर्ष-वाणी और किलकारियों से युक्त गीत और नृत्य के दृश्य तथा अनेक प्रकार के पर्व और मङ्गलोत्सवों का विधान संस्कृति का एक महत्त्व पूर्ण पक्ष है जिसके द्वारा लोक की आत्मा प्रकाशित होती है। भारतीय संवत्सर के षड् ऋतुओं का चक्र इस प्रकार के पर्वों से भरा हुआ है। उनके सामयिक अभिप्राय को पहचान कर उन्हें फिर से राष्ट्रीय जीवन का अङ्ग बनाने की आवश्यकता है। उद्यानों की क्रीडाएँ और कितने प्रकार के पुष्पोत्सव संवत्सर की परंपरा में अभी तक बच गए हैं। वे फिर से सार्वजनिक जीवन में प्राण-प्रतिष्ठा के अभिलाषी हैं।

इस विश्वगर्भा पृथिवी के पुत्रों को विश्वकर्मा कहा गया है (१३)। अनेक महत्वपूर्ण कार्यों की योजना उन्होंने की है और नए संसारों को वे उठाते रहते हैं। पृथिवी के विशाल खेतों में उनके दिन रात के परिश्रम से चारों ओर धान्य-संपत्ति लहराती है। उन्होंने अपनी बुद्धि और श्रम से अनेक बड़े नगरों का निर्माण किया है जो देव निर्मित से जान पड़ते हैं—

यस्याः पुरो देव कृताः क्षेत्रे यस्याः विकुर्वते।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा आशामाशांमरण्यां नः कृणोतु, (४३

पृथिवी के महापुरियों में देवताओं का अंश मिला है इसीलिए तो वे अमर हैं महापुरियों में देवत्व की भावना से स्वयं भूमि को भी देवत्व और सम्मान मिला है। जंगल और पहाड़ों से भरी हुई, तथा समतल मैदान और सदा नदियों से परिपूर्ण भूमि को हर एक दिशा में नगरों की शोभा से रमणीय बना देना राष्ट्र का बड़ा भारी पराक्रम कार्य माना जाता है। संस्कृति के अनेक अध्यायों का निर्माण इन नगरों में हुआ है जिसके कारण उनको पुनः प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। प्राचीन भारत में नगरों के अधिष्ठाता देवताओंकी कल्पना की गई थी। उन नगर देवताओं को फिर से वीर-पूजा का उपहार चढ़ानेके लिये सार्वजनिक महोत्सवों का विधान होना चाहिए। पृथिवी पर जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्राम और अरण्य हैं उनमें भी सभ्यता के अंकुर फूले-फले हैं। ग्रामों के जनपदीय जीवन में एवं जहाँ अनेक मनुष्य एकत्र होते हैं। उन संग्रामों या मेलों में मातृ भूमि की प्रशंसा के लिये उसके पुत्रों के कंठ हमेशा खुलते रहें।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिक भूम्यां।
ये संग्रामास्समितयस्तेषु चारु वेदमते ॥ (५६)

पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएँ और समितियाँ हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि, हम तुम्हारे लिये सुन्दर भाषण करें।

सुन्दर भाषण का स्मरण करते हुए कवि का हृदय गद्गद् हो जाता है। वह चाहता है कि भूमि के प्रशंसा-गान में हमारा हृदय विकसित हो, हमारी वाणी उदार हो, और हमारी भाषा की शब्द सम्पत्ति का भंडार उन्मुक्त हो। वाणी का सर्वोत्तम तेज उन सभाओं और समितियों में देखा जाता है जो राष्ट्रीय जीवन को नियमित करती हैं। सभा और समिति को वेदों में प्रजापति की पुत्रियां कहा गया है। राष्ट्रीय जीवन के साथ उनका मिलकर कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। सभाओं और समितियों में जनता के जो प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं मातृ भूमि के लिये उनके द्वारा सुन्दरतम शब्दों के प्रयोग की कल्पना कितनी मार्मिक है। वेदों के अनुसार पृथिवी पर बसने वाली जनता का संबन्ध राष्ट्र से है। राष्ट्र के अन्तरगत भूमि और जन दोनों सम्मिलित हैं। इसलिये यजुर्वेद के 'आब्रह्मन' सूक्त में एक ओर ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण तेजस्वी, राजन्य और यजमानों के वीर युवा पुत्रों का आदर्श है। दूसरी ओर उचित समय पर मेघों से जलवृष्टि और फलवती ओषधियों के परिपाक से पृथिवी पर धन-धान्य की समृद्धि की अभिलाषा है। इन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का योग क्षेम पूर्ण होता है। पृथिवीसूक्त में राष्ट्र के आदर्श को कई प्रकार से कहा गया है। भूमि पर जन की दृढ़ स्थापना, जनता में सम-प्रता का भाव, जन की अनभिन्न, असपत्न और असंबाध स्थिति, जो बातें राष्ट्र-वृद्धि के लिये आवश्यक हैं उनका वर्णन सूक्त में यथास्थान प्राप्त होता है।

भूमि, जन और जन की संस्कृति, इन तीनों की सम्मि-लित संज्ञा राष्ट्र है। पृथिवी सूक्त के अनुसार राष्ट्र तीन प्रकार का होता है—निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। प्रथम कोटि के राष्ट्र में पृथिवी की सब प्रकार की भौतिक संपत्ति का पूर्ण रूप से विकास देखा जाता है। मध्यम कोटि के राष्ट्र में जन की वृद्धि और हलचल देखी जाती है, और उत्तम कोटि के राष्ट्र की विशेषता का लक्षण राष्ट्रीय जनकी उच्च संस्कृति है। इसी को ध्यान में रखते हुए ऋषि प्रार्थना करता है कि हम उत्तम राष्ट्र में मानसिक तेज और शारी-रिक बल प्राप्त करें—

सानो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे (८)।

वह भूमि जिसका हृदय परम व्योम में अमृत और सत्य से ढका हुआ है, उत्तम राष्ट्र में हमारे लिये तेज और बल की देने वाली हो। राष्ट्र के उपर्युक्त स्वरूप को यों भी कह सकते हैं कि भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है, और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर प्राण और मन इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। राष्ट्र में जन्म लेकर प्रत्येक मनुष्य तीन ऋणों से ऋणवान हो जाता है, अर्थात् त्रिविध कर्तव्य जीवन में उसके लिये नियत हो जाते हैं। राष्ट्र के शरीर या भौतिक रूप की उन्नति देवऋण है, क्यों कि यह भूमि इस रूप में देवों के द्वारा निर्मित हुई। जन के प्रति कर्तव्य पितृ-ऋण है जो सुन्दर स्वस्थ प्रजा की उत्पत्ति और उनके संव-र्धन से पूर्ण किया जाता है। राष्ट्रीय ज्ञान और धर्म के प्रति जो कर्त्तव्य है वह ऋषि-ऋण है। संस्कृति के विकास के द्वारा हम उस ऋण से उऋण होते हैं। ऋषियों के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ है ज्ञान और संस्कृति के आदर्शों को अपने ही जीवन में मूर्तिमान करने का प्रयत्न और यह विचार कि राष्ट्र में ज्ञान के संरक्षण और संचय की जो गुहाएँ हैं, उनमें मेरा अपना मन भी एक गुहा बने, इससे राष्ट्र के उत्तम रूपका तेज विकसित होता है। एक तपस्वी के तप से, ज्ञानी के ज्ञान से और संकल्पवान पुरुष के सं-कल्प से समस्त राष्ट्र शक्ति, ज्ञान और संकल्प से युक्त बनता है। राष्ट्र में सुवर्ण के सुमेरुओं का संचय उसके स्थूल शरीर की सजावट है; परन्तु तप, ज्ञान और संकल्प की साधना राष्ट्र के मन और जन की संस्कृति का विकास है। 'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'—यह वाक्य राष्ट्र की उत्तम स्थिति में सर्व श्रेष्ठ आदर्श का सूत्र है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ संबन्धित होता है। उस व्यवहार को दूसरे मन्त्र में ५८) चार प्रकार से कहा गया है।

१—'मैं जो कहता हूँ, उसमें सहद की मिठास घोल कर बोलता हूँ।' अर्थात् सब के साथ सहिष्णुता का भाव राष्ट्र की उद्घोषित नीति है और हमारे साहित्य और संस्कृति का यही संदेश है।

२—जिस आँख से मैं देखता हूँ उसे सब चाहते हैं।' हमारा दृष्टि कोण विश्व का दृष्टिकोण है, अतएव सब के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum, LUCKNOW.

साथ उसका समन्वय है, किसी के साथ उसमें विरोध या अनहित का भाव नहीं है।

३—'परन्तु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति (जूति) है।' हमारा व्यवहार और स्थान वैसा ही है जैसा तेजस्वी और सशक्त का होता है।

४—'जो हुरा हिंसन या आक्रमण (अवदोधन) करता है उसका मैं हनन करता हूँ।' इस नीति में राष्ट्र के ब्रह्म बल और क्षत्रबल का समन्वय है।

ऋषिकी दृष्टि में यह भूमि धर्म से धृत है, हमारे महान् धर्म की वह धात्री है। उसके ऊपर विष्णु ने तीन प्रकार से विक्रमण किया, अश्विनी कुमारों ने उसको फैलाया और प्रथम अग्नि उसपर प्रज्वलित की गई। वह अग्नि स्थान-स्थान पर समिद्ध होती हुई समस्त भूमि पर फैली है और उससे भूमि को धार्मिक भाव प्राप्त हुआ है। अनेक महान् यज्ञों का इस पृथिवी पर वितान हुआ। उसके विश्वकर्ता पत्रों ने अनेक प्रकार के यज्ञीय विधानों में नवीन अनुष्ठानों की भूमिका के रूप में पृथिवी पर वेदियों का निर्माण किया। अनेक ऋत्विजों ने ऋक्, यजु और साम के द्वारा उन यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण किया। भूमि पर पूर्वजों के द्वारा यज्ञों का जो अनुष्ठान किया गया उससे भू-प्रतिष्ठा के लिये अनेक आसन्दियाँ स्थापित हुईं और जन कीर्त्ति के यूपस्तम्भ खड़े किए गए। भूमि को आत्मसात् करने के प्रमाण रूप में यज्ञीय यूप आज तक आर्यावर्त से यवद्वीप तक स्थापित हैं। इन यूपों के सामने दी हुई आहुतियों से सम्राटों के अश्वमेध यज्ञ अलंकृत हुए हैं कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय विक्रम के प्रतीक चिन्हों की संख्या ही यूप है। पृथिवी का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सबन्ध है। यह इन्द्र की पत्नी है, इन्द्र इसका स्वामी है। इसने जान बूझ कर इन्द्र का वरण किया, वृत्रासुर का नहीं (इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्, ३७)। इस प्रकार पृथिवी न केवल हमारी मातृ भूमि है, किन्तु हमारी धर्म भूमि भी है।

जनसंस्कृति अथवा ब्रह्मविजय।

ऊपर कहा जा चुका है कि भूमि के साथ जनता का सब से अच्छा और गहरा सम्बन्ध उसकी संस्कृति के द्वारा होता होता है। पृथिवी पर मनुष्य दो प्रकार से अपने को प्रतिष्ठित करता है—एक सैनिक बल या क्षत्र-विजय के द्वारा और दूसरा ज्ञान या ब्रह्म-विजय के द्वारा। क्षत्र-विजय (पॉलिटिक मिलटरी एंपायर) भी एक महान पराक्रम का कार्य है, किन्तु ब्रह्म-विजय (आइडियॉलॉजिकल कल्चर एँपायर) उससे भी महान हैं। इन दोनों दिग्विजयों के मार्ग एक दूसरे के स्वतन्त्र हैं। हमारी पृथिवी का इतिहास दोनों प्रकार से गौरवशील है। क्षत्र-बल के द्वारा देश में अनेक छोटे बड़े राज्यों की स्थापना हमारे इतिहास में होती रही। किसी पूर्व युग में इस भूमी पर देवों ने असुरों को पछाड़ा था और दुंदुभि-घोष के द्वारा पृथिवी को दस्युओं से रहित किया था; उसके फल स्वरूप पृथिवी पुत्रों ने अजीत, अक्षत और आहत होकर भूमि पर अधिकार प्राप्त किया। इस प्रकार की क्षत्र-विजय इतिहास में पर्याप्त महत्त्व पूर्ण समझी जाती है, परन्तु भूमि की सची विजय उसकी संस्कृति या ज्ञान की विजय है। जैसा कहा है, यह पृथिवी ब्रह्म या ज्ञान के द्वारा संवन्धित होती है—

ब्रह्मणा वावृधानाम (२६)

ब्रह्म विजय के लिये एक व्यक्ति का जीवन उतना ही बड़ा है जितना पूरी त्रिलोकी। उस विशाल क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान और कर्म की पूरी ऊँचाई तक उठ कर दिग्विजय के आदर्श को स्थापित कर सकता है। एक छोटे जन पद का शासक भी अपने पराक्रम से सची ब्रह्म विजय प्राप्त कर के जब यह घोषित करता है कि मेरे राज्य में चोर पापी और आचार हीन व्यक्ति नहीं रहते, तब वह अपने उस परिमित केन्द्रमें बड़े से बड़े सार्वभौम शासक का ऊँचा आदर्श और महत्त्व प्राप्तकर लेता है। व्यक्तियों और जन पदों के द्वारा यह ब्रह्म विजय समस्त देश में फैलती है, और एक एक ग्राम, पुर, नदी, पर्वत और अरण्य को व्याप्त करती हुई देशांतर और द्वीपांतरों तक पहुँचती है। दर्शन ज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति,की बहुमुखी विजय भारत वर्ष की ब्रह्म विजय के रूप में संसार के हर देशों में मान्य हुई, जिसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। बृहत्तर भारत का अध्ययन इसी चातुर्दिश ब्रह्म विजय का अध्ययन

ब्रह्म-विजय या संस्कृति के साम्राज्य का क्या रहस्य है? आध्यात्मिक जीवन के जो महान तत्त्व हैं ऋषि की दृष्टि में वे ही पृथिवी को धारण करते हैं। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही राष्ट्र की इस आधार भूमि का वर्णन किया गया है। ऐसा-प्रतीत होता है कि भूमि के स्वरूप का ध्यान करते हुए सब से पहले यही मूल सत्य ऋषि के ध्यान में आया जिसे उसने निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त किया—

सत्यं बृहदृत मुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्राम और अरण्य हैं उनमें भी सभ्यता के अंकुर फले-फले हैं। ग्रामों के जनपदीय जीवन में एवं जहाँ अनेक मनुष्य एकत्र होते हैं। उन संग्रामों या मेलों में मातृ भूमि की प्रशंसा के लिये उसके पुत्रों के कंठ हमेशा खुलते रहें।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिक भूम्यां।
ये संग्रामास्समितयस्तेषु चारु वेदमते ॥ (५६)

पृथिवी पर जो ग्राम और अरण्य हैं, जो सभाएँ और समितियाँ हैं, जो सार्वजनिक सम्मेलन हैं, उनमें हे भूमि, हम तुम्हारे लिये सुन्दर भाषण करें।

सुन्दर भाषण का स्मरण करते हुए कवि का हृदय गद्गद् हो जाता है। वह चाहता है कि भूमि के प्रशंसा-गान में हमारा हृदय विकसित हो, हमारी वाणी उदार हो, और हमारी भाषा की शब्द सम्पत्ति का भंडार उन्मुक्त हो। वाणी का सर्वोत्तम तेज उन सभाओं और समितियों में देखा जाता है जो राष्ट्रीय जीवन को नियमित करती हैं। सभा और समिति को वेदों में प्रजापति की पुत्रियां कहा गया है। राष्ट्रीय जीवन के साथ उनका मिलकर कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। सभाओं और समितियों में जनता के जो प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं मातृ भूमि के लिये उनके द्वारा सुन्दरतम शब्दों के प्रयोग की कल्पना कितनी मार्मिक है। वेदों के अनुसार पृथिवी पर बसने वाली जनता का संबन्ध राष्ट्र से है। राष्ट्र के अन्तरगत भूमि और जन दोनों सम्मिलित हैं। इसलिये यजुर्वेद के 'आवाहन' सूक्त में एक ओर ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण तेजस्वी, राजन्य और यजमानों के वीर युवा पुत्रों का आदर्श है। दूसरी ओर उचित समय पर मेघों से जलवृष्टि और फलवती ओषधियों के परिपाक से पृथिवी पर धन-धान्य की समृद्धि की अभिलाषा है। इन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का योग क्षेम पूर्ण होता है। पृथिवीसूक्त में राष्ट्र के आदर्श को कई प्रकार से कहा गया है। भूमि पर जन की दृढ़ स्थापना, जनता में समग्रता का भाव, जन की अनभिन्न, असपत्न और असंबाध स्थिति, जो बातें राष्ट्र-वृद्धि के लिये आवश्यक हैं उनका वर्णन सूक्त में यथास्थान प्राप्त होता है।

भूमि, जन और जन की संस्कृति, इन तीनों की सम्मिलित संज्ञा राष्ट्र है। पृथिवी सूक्त के अनुसार राष्ट्र तीन प्रकार का होता है—निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। प्रथम कोटि के राष्ट्र में पृथिवी की सब प्रकार की भौतिक संपत्ति का पूर्ण रूप से विकास देखा जाता है। मध्यम कोटि के राष्ट्र में जन की वृद्धि और हलचल देखी जाती है, और उत्तम कोटि के राष्ट्र की विशेषता का लक्षण राष्ट्रीय जन की उच्च संस्कृति है। इसी को ध्यान में रखते हुए ऋषि प्रार्थना करता है कि हम उत्तम राष्ट्र में मानसिक तेज और शारीरिक बल प्राप्त करें—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे (८)।

वह भूमि जिसका हृदय परम व्योम में अमृत और सत्य से ढका हुआ है, उत्तम राष्ट्र में हमारे लिये तेज और बल की देने वाली हो। राष्ट्र के उपर्युक्त स्वरूप को यों भी कह सकते हैं कि भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है, और जन की संस्कृति उसका मन है। शरीर प्राण और मन इन तीनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। राष्ट्र में जन्म लेकर प्रत्येक मनुष्य तीन ऋणों से ऋणवान हो जाता है, अर्थात् त्रिविध कर्तव्य जीवन में उसके लिये नियत हो जाते हैं। राष्ट्र के शरीर या भौतिक रूप की उन्नति देवऋण है, क्यों कि यह भूमि इस रूप में देवों के द्वारा निर्मित हुई। जन के प्रति कर्तव्य पितृ-ऋण है जो सुन्दर स्वस्थ प्रजा की उत्पत्ति और उनके संवर्धन से पूर्ण किया जाता है। राष्ट्रीय ज्ञान और धर्म के प्रति जो कर्त्तव्य है वह ऋषि-ऋण है। संस्कृति के विकास के द्वारा हम उस ऋण से उऋण होते हैं। ऋषियों के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ है ज्ञान और संस्कृति के आदर्शों को अपने ही जीवन में मूर्तिमान करने का प्रयत्न और यह विचार कि राष्ट्र में ज्ञान के संरक्षण और संचय की जो गुहाएँ हैं, उनमें मेरा अपना मन भी एक गुहा बने, इससे राष्ट्र के उत्तम रूप का तेज विकसित होता है। एक तपस्वी के तप से, ज्ञानी के ज्ञान से और संकल्पवान् पुरुष के संकल्प से समस्त राष्ट्र शक्ति, ज्ञान और संकल्प से युक्त बनता है। राष्ट्र में सुवर्ण के सुमेरुओं का संचय उसके स्थूल शरीर की सजावट है; परन्तु तप, ज्ञान और संकल्प की साधना राष्ट्र के मन और जन की संस्कृति का विकास है। 'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'—यह वाक्य राष्ट्र की उत्तम स्थिति में सर्व श्रेष्ठ आदर्श का सूत्र है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ संबन्धित होता है। उस व्यवहार को दूसरे मन्त्र में ५८) चार प्रकार से कहा गया है।

१—'मैं जो कहता हूँ, उसमें सहद की मिटास घोल कर बोलता हूँ।' अर्थात् सब के साथ सहिष्णुता का भाव राष्ट्र की उद्घोषित नीति है और हमारे साहित्य और संस्कृति का यही संदेश है।

२—जिस आँख से मैं देखता हूँ उसे सब चाहते हैं।' हमारा दृष्टि कोण विश्व का दृष्टिकोण है, अतएव सब के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum
LUCKNOW.

साथ उसका समन्वय है, किसी के साथ उसमें विरोध या अनहित का भाव नहीं है।

३—'परन्तु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति (जूति) है।' हमारा व्यवहार और स्थान वैसा ही है जैसा तेजस्वी और सशक्त का होता है।

४—'जो हुरा हिंसन या आक्रमण (अवदोधन) करता है उसका मैं हनन करता हूँ।' इस नीति में राष्ट्र के ब्रह्म बल और क्षत्रबल का समन्वय है।

ऋषिकी दृष्टि में यह भूमि धर्म से धृत है, हमारे महान् धर्म की वह धात्री है। उसके ऊपर विष्णु ने तीन प्रकार से विक्रमण किया, अश्विनी कुमारों ने उसको फैलाया और प्रथम अग्नि उसपर प्रज्वलित की गई। वह अग्नि स्थान-स्थान पर समिद्ध होती हुई समस्त भूमि पर फैली है और उससे भूमि को धार्मिक भाव प्राप्त हुआ है। अनेक महान् यज्ञों का इस पृथिवी पर वितान हुआ। उसके विश्वकर्त्ता पत्रों ने अनेक प्रकार के यज्ञीय विधानों में नवीन अनुष्ठानों को भूमिका के रूप में पृथिवी पर वेदियों का निर्माण किया। अनेक ऋत्विजों ने ऋक्, यजु और साम के द्वारा उन यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण किया। भूमि पर पूर्वजों के द्वारा यज्ञों का जो अनुष्ठान किया गया उससे भू-प्रतिष्ठा के लिये अनेक आसन्दियाँ स्थापित हुईं और जन कीर्त्ति के यूपस्तम्भ खड़े किए गए। भूमि को आत्मसात् करने के प्रमाण रूप में यज्ञीय यूप आज तक आर्यावर्त से यवद्वीप तक स्थापित हैं। इन यूपों के सामने दी हुई आहुतियों से सम्राटों के अश्वमेध यज्ञ अलंकृत हुए हैं कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय विक्रम के प्रतीक चिन्हों की संख्या ही यूप है। पृथिवी का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सबन्ध है। यह इन्द्र की पत्नी है, इन्द्र इसका स्वामी है। इसने जान बूझ कर इन्द्र का वरण किया, वृत्रासुर का नहीं (इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम, ३७)। इस प्रकार पृथिवी न केवल हमारी मातृ भूमि है, किन्तु हमारी धर्म भूमि भी है।

जनसंस्कृति अथवा ब्रह्मविजय।

ऊपर कहा जा चुका है कि भूमि के साथ जनता का सब से अच्छा और गहरा संबन्ध उसकी संस्कृति के द्वारा होता होता है। पृथिवी पर मनुष्य दो प्रकार से अपने को प्रतिष्ठित करता है—एक सैनिक बल या क्षत्र-विजय के द्वारा और दूसरा ज्ञान या ब्रह्म-विजय के द्वारा। क्षत्र-विजय (पॉलिटिक मिलटरी एँपायर) भी एक महान पराक्रम का कार्य है, किन्तु ब्रह्म-विजय (आइडियॉलॉजिकल कल्चर एँपायर) उससे भी महान है। इन दोनों दिग्विजयों के मार्ग एक दूसरे के स्वतन्त्र हैं। हमारी पृथिवी का इतिहास दोनों प्रकार से गौरवशील है। क्षत्र-बल के द्वारा देश में अनेक छोटे बड़े राज्यों की स्थापना हमारे इतिहास में होती रही। किसी पूर्व युग में इस भूमि पर देवों ने असुरों को पछाड़ा था और दुंदुभि-घोष के द्वारा पृथिवी को दस्युओं से रहित किया था; उसके फल स्वरूप पृथिवी-पुत्रों ने अजीत, अक्षत और आहत होकर भूमि पर अधिकार प्राप्त किया। इस प्रकार की क्षत्र-विजय इतिहास में पर्याप्त महत्व पूर्ण समझी जाती है, परन्तु भूमि की सच्ची विजय उसकी संस्कृति या ज्ञान की विजय है। जैसा कहा है, यह पृथिवी ब्रह्म या ज्ञान के द्वारा संवन्धित होती है—

ब्रह्मणा वावृधानाम (२६)

ब्रह्म विजय के लिये एक व्यक्ति का जीवन उतना ही बड़ा है जितना पूरी त्रिलोकी। उस विशाल क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान और कर्म की पूरी ऊँचाई तक उठ कर दिग्विजय के आदर्श को स्थापित कर सकता है। एक छोटे जन पद का शासक भी अपने पराक्रम से सच्ची ब्रह्म विजय प्राप्त कर के जब यह घोषित करता है कि मेरे राज्य में चोर पापी और आचार हीन व्यक्ति नहीं रहते, तब वह अपने उस परिमित केन्द्र में बड़े से बड़े सार्वभौम शासक का ऊँचा आदर्श और महत्त्व प्राप्तकर लेता है। व्यक्तियों और जन पदों के द्वारा यह ब्रह्म विजय समस्त देश में फैलती है, और एक एक ग्राम, पुर, नदी, पर्वत और अरण्य को व्याप्त करती हुई देशांतर और द्वीपांतरों तक पहुँचती है। दर्शन ज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति,की बहुमुखी विजय भारत वर्ष की ब्रह्म विजय के रूप में संसार के हर देशों में मान्य हुई, जिसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। बृहत्तर भारत का अध्ययन इसी चातुर्दिश ब्रह्म विजय का अध्ययन

ब्रह्म -विजय या संस्कृति के साम्राज्य का क्या रहस्य है? आध्यात्मिक जीवन के जो महान तत्त्व हैं ऋषि की दृष्टि में वे ही पृथिवी को धारण करते हैं। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही राष्ट्र की इस आधार भूमि का वर्णन किया गया है। ऐसा-प्रतीत होता है कि भूमि के स्वरूप का ध्यान करते हुए सब से पहले यही मूल सत्य ऋषि के ध्यान में आया जिसे उसने निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त किया—

सत्यं बृहदृत मुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सानो भूतस्य भव्यस्य पत्नी-
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु

'सत्य, बृहत् और उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ-ये पृथिवी को धारण करते हैं। जो पृथिवी हमारे भूत और भविष्य की पत्नी है वह हमारे लिये विस्तृत लोक प्रदान करने वाली हो।

यह मन्त्र भारत वर्ष की सांस्कृतिक विजय का अन्तर्यामी सूत्र है। इससे तीन बातें ज्ञात होती हैं; सत्य, ऋत आदि शाश्वत तत्त्व जिस जिस तरह आध्यात्मिक जीवन के आधार हैं, उसी तरह राष्ट्रीय जीवन के भी आधार हैं, उन्हीं से संस्कृति का निर्माण होता है। दूसरे भूत काल में और भविष्य में राष्ट्र के सथ पृथिवी का जो संबंध है वह संस्कृति के द्वारा ही सदा स्थिर रहता है। तीसरे यह कि ब्रह्म-विजय के मार्ग में पृथिवि की दिक् सीमाएँ अनन्त हो जाती हैं। एक जनपद से जो संस्कृति की विजय आरंभ होती है उसकी तरंगें देश में फैलती हैं, और पुनः देश से बाहर समुद्र और पर्वतों को लाँघती हुई देशान्तरों में और समस्त भूमंडल में फैल जाती हैं यही पृथिवी का 'उरु लोक प्रदान करना' है।

सत्य और ऋत जीवन के दो बड़े आधारस्तंभ हैं। कर्म का सत्य सत्य है और मन का सत्य ऋत है। मानस-सत्य के नियम विश्व भर में अखंड और दुर्धर्ष हैं। कर्म-सत्य और मानस-सत्य इन दोनों के बल से राष्ट्र बलवान् होता है। इन दो प्रकार के सत्यों को प्राप्त करने के लिये जीवन के कटिबद्ध व्रत का नाम दीक्षा है। दीक्षित व्यक्ति पहली बार सत्य की ओर आँख से आँख मिलाकर देखता है। दीक्षा के अनन्तर जीवन में जो साधना की जाती है वही तप है। अनेक विद्वान और ज्ञानी सत्य के किसी एक पक्ष को प्रत्यक्ष करने की दीक्षा लेकर जीवन में घोर परिश्रम करते हैं, वही उनका तप है। इस तप के फल का विश्वहित के लिये विसर्जन करना यज्ञ है। इन पाँचों को जीवन में प्राप्त करने या अनुप्राणित करने की जो भावना है वही ब्रह्म या ज्ञान है।

इन आदर्शों में श्रद्धा रखने वाले पूर्व ऋषियों ने अपने ध्यान की शक्ति से (मायाभिः) इस पृथिवी को मूर्त रूप प्रदान किया, अन्य था यह जल के नीचे छिपी हुई थी। वे ही ऋषि आदर्शों के संस्थापक हुए जिन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सब तरह से नया निर्माण किया। उन निर्माता पूर्वजों (भूतकृतः ऋषयः) ने यज्ञ और तप के साथ राष्ट्रीय सूत्रों में जिन वाणियों का उद्घोष किया वही यह वैदिक सरस्वती भारतीय ब्रह्म विजय की ऊँची शाश्वती पताका है। श्रुति महती सरस्वती के कारण ही हमारी पृथिवी सब भुवनों में अग्रणी हुई, इसी कारण ऋषि ने उसे 'अग्रेत्वरी' * (आगे जाने वाली) विशेषण दिया है। मातृभूमि के इसी अग्रणी गुण को अर्वाचीन कविने 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने' कह कर प्रकट किया है। जो स्वयं सब से आगे है वही अपने पुत्रों को प्रथम स्थान में स्थापित कर सकती है (पूर्वं पेयं दधातु†) अपनी दुर्धर्ष ब्रह्म विजय के आनन्द में विश्वास के साथ मस्तक ऊँचा करके प्रत्येक पृथिवी-पुत्र इस प्रकार कह सकता है— 'मैं विजय शील हूँ, भूमि के ऊपर सब से विशिष्ट हूँ, मैं विश्व विजयी हूँ और दिशा-विदिशाओं में पूर्णतः विजयी हूँ,—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

'अहमस्मि सहमान' की भावना अनेक क्षेत्रों में अनेक प्रकार से सहस्राब्दियों तक भारतीय संस्कृति में प्रकट होती रही। इस के कारण अनेक परस्थितियों के बीच में पड़ करके भी जनता का जीवन अक्षुण्ण बना रहा।

हे विश्वंभरा पृथिवी, तुम्हारे प्रिय गान को हम गाते हैं। तुम विश्व की धात्री (विश्वधायस) माता हो, अपने पुत्रों के लिये पयस्वती होकर सदा दूध की धाराओं का विसर्जन करती हो। ध्रुव कामधेनु की तरह प्रसन्न (सुमनस्यमान) होकर तुम सदा सब कामनाओं को पूर्ण करती हो। हे कल्याण विधात्री, तुम क्षमाशील और विश्वगर्भा हो। तुम सदा अपने प्राणमय संस्पर्श से हमारे मनोभावों को और जीवन को सब तरह के मैल से शुद्ध रखनेवाली हो। हे मार्जन करनेवाली देवि विमृग्वरी (२६, ३५, ३०,) तुम जिसको माँज देती हो वही नवतेज से प्रकाशित होने लगता है। तुम धन्य-धान्य से पूर्ण वसुओं का आधान हो। हिरण्य, मणि और कोष तुम्हारे वक्षस्थल में भरे हुए हैं। हे हिरण्यवक्षा देवि प्रसन्न होकर अपनी इन निधियों को हमें प्रदान करो। जिस समय तुम समुद्र में छिपी थीं उस समय तुम्हें अपने जन्म से पहले ही विश्वकर्मा का वरदान प्राप्त हुआ था। तुम्हारे भुजिष्य पात्र में विश्वकर्मा ने अपनी

* भुवनस्य अग्रेत्वरी (अग्र + इत्वरी) लीडर ऐंड हेड ऑव् ऑल दी वर्ल्ड (ग्रिफिथ, अथर्व० १२।१।५७)
† पूर्वपेय-फोरमोस्ट रैंक एण्ड पोज़ीशन ग्रिफिथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हवि डाली थी (यामन्वैच्छद्धविषाविश्वकर्मा ६०)। इसके कारण विधाता की सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं और जितने प्रकार की सामर्थ्य है वह सब तुम में विद्यमान है। विश्वकर्मा की हवि में विश्व के सब पदार्थ सम्मिलित होने ही चाहिएँ, अत एव उन सब को देने और उत्पन्न करने का गुण तुम में है। हे विश्वरूपा देवि, जिस दिन तुमने अपने स्वरूप का विस्तार किया था और देवों से संबोधित होकर तुम्हारा नाम करण किया गया, उसी दिन जितने प्रकार का सौन्दर्य था वह सब तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट हो गया, (आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीं ५५)। वही सौन्दर्य तुम्हारे पर्वतों और निर्झरों में, हिम राशि और नदियों में चर और अचर सब प्रकार के प्राणियों में प्रकट हो रहा है। हे मातृभूमि, तुम प्राण और वायु की अधिष्ठात्री हो, हमें सौ वर्ष तक सूर्य की मित्रता प्रदान करो जिससे हम तुम्हारे सौन्दर्य को देखते हुए अपने नेत्रों को सफल कर सकें। तुम अपनी विजय के साथ वृद्धि को प्राप्त होती हुई हमारा भी संवर्धन करो (सानो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना के १३)। जीवन के कल्याणों के साथ हम सुप्रतिष्ठित हों। पृथिवी पर रहते हुए केवल भौतिक और पार्थिव विभूति ही जीवन में पर्याप्त नहीं है। कवि की क्रान्ति दर्शिनी प्रज्ञा द्युलोक के उच्च अध्यात्म भावों की ओर देखती है, और उस व्योम में उसे मातृभूमि के हृदय का दर्शन होता है। इसलिये वह प्रार्थना करता है— हे भूमि, हे माता, हमें पार्थिव कल्याणों के मध्य में रख कर द्युलोक के भी उच्च भावों के साथ युक्त करो।' भूति और श्री दोनों की जीवन के लिये आवश्यकता है। द्युलोक के साथ संमतरक होकर श्री और भूति की एक साथ प्राप्ति ही आदर्श स्थिति है—

> भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
> संविदाना दिवाकवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ (६३)

पार्थिव सम्पत्ति की संज्ञा भूति है और अध्यात्म भावों की प्राप्ति श्री का लक्षण है। भूति और श्री का एकत्र सम्मिलन ही गीता को इष्ट है। यही भारतवर्ष का ऊँचा ध्येय रहा है।

———

गीताभाष्य विज्ञानभूमिका

कर्म्मयोग परीक्षा योगसङ्गति

(गताङ्क से आगे)

११-यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नं दुर्भिक्ष-व्याधिपीडितम्॥
—मनुः ८।२२

१२-अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात् तत्परिवर्जयेत्॥
—मनुः ८।१२७

१३-यस्त्वधर्म्मेण कार्य्याणि मोहात् कुर्य्यान्नराधिपः।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः॥
मनुः ८।१७४

१४-बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे॥
—मनुः ७।४०

१५-वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च।
—मनुः ७।४१

१६-पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्य्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥
—मनुः ७।४२

१७-एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥
—मनुः ८।४२०

१—"ब्रह्म (वेद) प्राप्ति के लिए गर्भाधानादि श्रौत-स्मार्त्त संस्कारों से सुसंस्कृत, (अतएव वेदतत्त्ववित्) क्षत्रिय को धर्म्मशास्त्रानुसार यथावत् प्रजावर्ग (के धर्म्म) की रक्षा करनी चाहिए"। तात्पर्य्य यही हुआ कि जो राजा संस्कारपूर्वक शास्त्रों का मर्म्मज्ञ होता है, वही प्रजापालन कर सकता है। बिना शास्त्रावलम्ब के वह कभी रक्षा-कर्म्म में समर्थ नहीं हो सकता।

२—"शास्ता राजा का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह इष्ट-अनिष्ट की व्यवस्था समझ कर यथा-शास्त्र धर्म्मनीति का संचालन करे। कभी भूल कर भी धर्म्मनीति को विचलित न करे।" तात्पर्य्य यही हुआ कि, शास्ता राजा अपनी इच्छा से शासन नहीं कर सकता। अपितु उसे अपने शासन कर्म्म में शास्त्रोक्त धर्म्ममार्ग के अनुसार ही अनुगमन करना पड़ेगा।

३—"शास्ता राजा की शासनसिद्धि के लिए ईश्वर प्रजापति ने सम्पूर्ण भूतों के अन्यतम रक्षक, ब्रह्मतेजोमय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म्मदण्ड को ही पुत्रत्वेन उत्पन्न किया है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, स्वयं राजा प्रजा का रक्षक नहीं है, एवं न स्वयं राजा केवल पशुबल के आधार पर प्रजा की रक्षा कर ही सकता। अपितु उसने इस रक्षाकर्म्म में इसे धर्म्मदण्ड का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जो कि धर्म्मदण्ड ईश्वर के द्वारा प्रादुर्भूत है।

४—"एकमात्र धर्म्मदण्ड के भय से ही स्थावर-जङ्गम वर्ग अपने अपने स्वरूप की रक्षा के लिए भोग ग्रहण में समर्थ होता है। इसी धर्म्मदण्ड के भय से कोई भी अपने अपने नियत धर्म्म (स्वधर्म-प्रकृतिसिद्ध कर्म्म) से विचलित नहीं होता"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, धर्म्म ही धर्म्मी पदार्थों का रक्षक है। इसी धर्म्मपरिज्ञान से धर्म्म का अनुगमन होता है। 'धर्म्म छोड़ देंगे, तो स्वरूप ही नष्ट हो जायगा' इसी भय से पदार्थवर्ग धर्म्म में आरूढ़ रहता है।

५—"न राजा राजा है, न पुरुष पुरुष है, न दण्ड दण्ड है, न नेता नेता है, न शासिता शासिता है। अपितु राजा वह राजा है, पुरुष वह पुरुष है, दण्ड वह दण्ड है, नेता वह नेता है, शासिता वह शासिता है, जो कि चारों वर्णों, तथा चारों आश्रमों के धर्म्म का प्रतिभू है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि भारतीय प्रजा उसे ही राजा, पुरुष, दण्ड, नेता, शासिता कहेगी, जो कि धर्म्म का प्रतिनिधि रहेगा। धर्म्म-मार्ग पर आरूढ़, धर्म्ममार्ग का रक्षक, धर्म्ममार्ग का प्रचारक ही हमारा अभिभावक बन सकेगा।

६—"दण्ड ही प्रजा का शासन कर रहा है, दण्ड ही प्रजा की रक्षा कर रहा है, दण्ड ही सोने वालों में जग रहा है, और दण्ड ही धर्म्म का रक्षक बनता हुआ धर्म्म कहा जा रहा है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, यदि प्रजावर्ग धर्म्ममार्ग की उपेक्षा करने लगे, तो राजा का कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह दण्ड के बल से उनकी धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित रक्खे।

७—"जहां देखते देखते धर्म्म अधर्म्म से, सत्य मिथ्या से आक्रान्त कर दिया जाय, जहां का अधर्म्ममण्डल अपने पाप से स्वयं ही नष्ट हो जाता है"। तात्पर्य्य यही हुआ कि जो सभाएं, जो संस्थाएं, जो मण्डलियां जो कमेटियां अधर्म्म और असत्यमार्ग को ही धर्म्म एवं सत्य कहने लगती हैं, उनका सर्वनाश अवश्य भावी है।

८—यदि हम धर्म्म की उपेक्षा कर देते हैं, तो वही धर्म्म हमारे नाश का कारण बन जाता है, यदि हम धर्म्म-मार्ग का अनुगमन करते हैं तो वही धर्म्म हमारा रक्षक बन जाता है। चूंकि धर्म्मानुष्ठान हमारा रक्षक है, अतएव हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि, हम धर्म्म का परित्याग न करें। 'हमारी ओर से उपेक्षित धर्म्म हमारा नाश न कर बैठे' इस बात को लक्ष्य में रखते हुए हमें सदा धर्म्म-रक्षा में प्रवृत्त रहना चाहिए।

९—"ऐहिक-आमुष्मिक, सर्वविध फलकामनाओं की वर्षा करने के कारण ही (अभिलषितफलप्रद होने से ही) भगवान् धर्म्म 'वृष' (वर्षतीति वृषः) नाम से प्रसिद्ध है। जो मूर्ख इस वृष धर्म्म का परित्याग कर देता है, विद्वान् लोग उसे 'वृषल' कहा करते हैं, जो कि वृषल शब्द वर्णशङ्करता का सूचक बनता हुआ उसके गौरव को नष्ट करनेवाला बनता है। हम 'वृषल' न कहलावें, इसी हेतु से हमें कभी धर्म्म का परित्याग नहीं करना चाहिए"। तात्पर्य्य यही हुआ कि, धर्म्म परित्याग से हमारी अध्यात्मसंस्था का स्वाभाविक विकास दब जाता है, एवं परिणाम में हम हीनवीर्य्य वर्णशङ्करों की भांति प्रतिभाशून्य बन जाते हैं, आत्मवीर्य्य हतप्रभ हो जाता है। इस महाहानि से बचने का एक मात्र उपाय है—'धर्म्मानुगमन'।

१०—"शास्ता राजा को चाहिए कि, वह लोकाकर्षक वेशभूषा से सुसज्जित होकर, संयतात्मा बन कर धर्म्मासन (राजसिंहासन) पर बैठे। एवं लोकपालों को प्रणाम कर राजकार्य्य आरम्भ करे।" यहां राजसिंहासन को धर्म्मासन कहना ही यह सिद्ध कर रहा है कि, राजा की राजनीति धर्म्मनीति पर ही प्रतिष्ठित है।

११—"जिस राष्ट्र में शूद्रों एवं नास्तिकों का प्रभुत्व हो जाता है, जहां ब्राह्मणवर्ग प्रभुताशून्य बन जाता है, वह समूचा राष्ट्र अकाल-रोगाक्रान्त बनता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है"। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, शूद्रवर्ण केवल पशुबल का अनुगामी है, उधर नास्तिक समाज ईश्वरसत्ता का विरोधी बनता हुआ मृत्युलक्षण जड़वाद का समर्थक है। जिस राष्ट्र में इन दोनों भावों के हाथों में सत्ता चली जाती है, वह राष्ट्र अवश्य ही नष्ट हो जाता है। शूद्र द्वारा पशुबल की वृद्धि होती है, नास्तिकों का दुराचार प्रकृति के शान्त वातावरण को क्षुब्ध करने में हाथ बटाता है। प्रतिलोम से समय पर वर्षा नहीं होती, फलतः दुष्काल पड़ने लगते हैं, राष्ट्र का विनाश हो जाता है।

१२—अधर्म्म से नीतितन्त्र का सञ्चालन करने वाले राजा का जीवित दशा में यश नष्ट हो जाता है, मरे बाद अपकीर्ति होती है, इस लोक के इन दो पुरस्कारों के अति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रिक्त इसका परलोक भी बिगड़ जाता है। अतएव राजा को अधर्म्मदण्ड का परित्याग करदेना चाहिए।

१३—जो राजा वित्त मोह में पड़ कर अधर्म्म से शासन करता है ऐसे दुरात्मा (पापी) राजा पर उसके शत्रु लोग शीघ्र ही अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। अधर्म्मपथानुगामी राजा अपने राज्य से हाथ धो बैठता है यही तात्पर्य्य है।

१४—इतिहास इस बात का साक्षी है कि, अपनी अधर्म्मानुगता अविवेकता से कितनें हीं राजा लोग सवश जहां नष्ट हो गये हैं, वहां धर्म्मानुगत अपने विनयभाव से कितनों हीं नें नवीन साम्राज्यों का निर्म्माण कर डाला है।

१५ महाराज 'वेन', महाराज 'नहुष' पिजवन के पुत्र, अतएव 'पैजवन' नाम से प्रसिद्ध महाराज 'सुदा', महाराज सुमुख महाराज निमि' आदि कितनें हीं सार्वभौम राजा अधर्म्म-अविनय-पापाचारों की कृपा से नष्ट हो गए हैं।

१६—ठीक इसके विपरीत महाराज 'पृथु', महाराज 'मनु', आदि ने धर्म्मपथानुगमन से अपने साम्राज्य का पूरा पूरा लाभ उठाया है। इसी धर्म्माचरण के प्रभाव से देवमण्डली में कुवेर अतिशय ऐश्वर्य्य के अधिष्ठाता बन गए हैं। इसी धर्म्म की कृपा से राजर्षि विश्वामित्र कालान्तर में ब्रह्मर्षि बन गए हैं।

१७—इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित उच्चावचाभावों का नीर-क्षीर विवेक करते हुए, धर्म्माधर्म्म के परिणामों का तुलन करते हुए जो राजा धर्म्मपूर्वक शासन करता है, वह अपने सम्पूर्ण पापों को भस्मसात करता हुआ उत्तमगति प्राप्त करता है।

न केवल राजनीति ही, अपितु हमारा सामाजिक-कौटुम्बिक-तथा वैयक्तिक जीवन भी इसी धर्म्मनीति को मूलाधार बनाए हुए हैं। वर्त्तमान युग के राजनीति विशारद, एवं समाजनेता यह कहते सुने जाते है कि, "खान-पान-विवाहादि केवल सामाजिक कर्म्म हैं। इनके साथ धर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।" जो महानुभाव सामाजिक जीवन को इस प्रकार धर्म्म से पृथक कर रहे हैं, कहना पड़ेगा कि, अभी वे धर्म्म के रहस्य ज्ञान से कोसों दूर हैं। अथवा तो यह मानना पड़ेगा कि, उन्होंने भारतीयधर्म्म का वही स्वरूप समझ रक्खा है, जो कि अन्य देशों के 'रिलीजन' का स्वरूप है। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, भारतीय प्रजा जिस दिन गर्भाशय में आती है, तब से आरम्भ कर, जिस दिन श्मशानाग्नि में आरूढ होती है, तब तक के लिए इसका सर्वस्व धर्म्मश्रृङ्खला से बद्ध है[१]। इसका प्रत्येक कर्म्मकलाप, चाहे वे राजनीति से सम्बद्ध हो, धर्म्मनीति को ही आगे रक्खेगा। धर्म्म ही भारतीय प्रजा का मौलिक जीवन एवं मौलिक आदर्श रहेगा। जिस दिन भारतवर्ष अर्थगर्द्धा की विभीषिका के प्रलोभन में पड़ कर देखादेखी धर्म्म को 'रिलीजन' मानने की भूल करता हुआ अपनी इतर नीतियों को धर्म्मनीति से पृथक कर डालेगा, उस दिन यह अपना स्वरूप ही खो बैठेगा जिसका कि आज हमारे दुर्भाग्य से उपक्रम हो चुका है। इस उपक्रम को निःशेष बनाने के लिए प्रत्येक धर्म्मप्राण-भारतीय का आज यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह भ्रान्तपथिकों की भ्रान्ति दूर करे, उनके सामने धर्म्म का मौलिक रहस्य रक्खे। और उन्हें बतलावे कि, भारतीयधर्म्म, तथा नीति का स्वरूप दूसरा है, एवं अन्य देशों के 'रिलीजन' और नीति का आदर्श भिन्न है। वहां धर्म्म-राजनीति का अनुगामी है, यहां राजनीति धर्म्म की अनुगामिनी है। वहां धर्म्म साधन है, नीति साध्य है, यहां नीति साधन है, धर्म्म साध्य है। वहां आत्मा शरीर के लिए है, यहां शरीर आत्मा के लिए है। वहां हमारे लिए विश्व है, यहां हम विश्वके लिए है। वहां जीवन भोजन के लिए है, यहां भोजन जीवन के लिए है। वहां अन्तर्जगत् बाह्यजगत् के विकास का साधन है, यहां बाह्यजगत् अन्तर्जगत् का अनुगामी है। वे नानाभावोपेत मृत्युतत्त्व के उपासक बनते हुए 'मृत्यु के पुत्र' हैं, हम एकत्वलक्षण अमृत के पुत्र हैं। बस जिस दिन एतद्देशीय भ्रान्त पथिकों की दृष्टि में यहां-वहां का यह तात्त्विक भेद आ जायगा, जिस दिन ये महानुभाव चिरकाल से भुलाए हुए अपने—'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः' (ऋक् सं० ९।१३।१) अपने इस मधुरस का एकबार स्वाद चख लेंगे, तत्काल 'धर्म्मनीति' का समन्वित रूप सिद्धान्तरूप से स्वीकृत हो जायगा, और भुला दिया जायगा वर्त्तमानकाल में प्रवाहित अधर्म्म-पथ।

१ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

— मनु २।१६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आर्षधर्म एवं सन्तमत—

सनातनधर्म्मावलम्वी जगत् के सम्मुख स्वयं को सनातनधर्म्मावलम्वी मानते हुए भी आज हमें एक ऐसा कटुसत्य उपस्थित करना पड़ रहा है, जिसे देख कर अधिकांश में वे हमारे सहयोगी अप्रसन्न-से होंगे। परन्तु विना स्थिति का स्पष्टीकरण किए सनातन-धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा अचल नहीं रक्खी जा सकती। यही सोच-समझ कर आर्षधर्म्म, एवं सन्तमत से सम्बन्ध रखने वाले अप्रियसत्य का आश्रय लेना पड़ रहा है।

शङ्कर-वाल्लभ रामानुज-माध्व - निम्बार्क - चैतन्य-शैव-कापालिक-शाक्त-गाणपत्य-वैष्णव, आदि आदि जितने भी मतवाद जितनें भी सम्प्रदाएं आज भारतवर्ष में देखीं सुनीं जातीं हैं, उन सब सम्प्रदायवादों को हम **'सन्तमत'** नाम से अलंकृत करेंगे। साथ ही में कबीर, सुन्दरदास, रैदास, नानक, पीपा, सहजोबाई, मीराबाई सूरदास आदि आदि सन्तों नें अपनी वाणी से जनता का जो उद्बोधन किया है, उनके उस वाणी-संग्रह (सन्तवाणी) का भी हम इसी 'सन्तमत' में अन्तर्भाव मानेंगे। और इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि, यह सन्तमत महाभारतकाल से इधर ही अपना पुष्पित-पल्लवित रूप जनता के साने उपस्थित करता है। महाभारत से पहिले, दूसरे शब्दों में आज से ५ सहस्र वर्ष पहिले के युगों में 'सन्तमत' स्मृतिगर्भ में ही विलीन रहा होगा यह स्वीकार कर लेने में कोई ऊहापोह नहीं किया जा सकता कि, जिस दिन से भारतीयप्रजा सन्तमत की अनुगामिनी बनी, उसी दिन से इसका मूलधन 'आर्षधर्म' इसके कोश से विलीन हो गया।

वर्णाश्रमधर्म्म की उपेक्षा करने वाले सर्वथा अर्वाचीन सन्त्रों की वाणी का विचार थोड़ी देर के लिए छोड़ते हुए सन्तमत की मीमांसा कीजिए। निःसन्देह शङ्कर-रामानुजादि सन्तमत सनातनशास्त्र (वेदशास्त्र) के अनुगामी बनते हुए प्रामाणिक हैं, अतएव उपादेय है। इन सन्त आचार्यों की वाग्धारा से तत्कालीन पथभ्रष्ट जनता को सन्मार्ग मिला, लुप्त वर्णाश्रम-धर्म्म का पुनः प्राकट्य हुआ, धर्म्मवृषभ की रक्षा हुई, अधर्म्मवृष का तिरस्कार हुआ। और इसी प्रामाणिकता के नाते भारतीय प्रजा ने इन सम्प्रदायवादों को सामयिक 'मतवाद' होने पर भी शाश्वत 'सनातन-धर्म्म' का अङ्ग स्वीकार कर लिया।

जो महानुभाव अपने स्वाभाविक दोषों पर पर्दा डालने के अभिप्राय से भारतीय नाना मतवाद पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करते दिखलाई देते हैं, उनका कथन तो भारतीय की दृष्टि में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अन्य देशों की तरह भारतवर्ष में भी राज्यक्रान्तियों, समाजक्रान्तियों, तथा धर्म्मक्रान्तियों के अवसर पर समय समय में नवीन सामयिक मतवादों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु इन सब मतवादों का एकमात्र लक्ष्य चूंकि "आर्षधर्म्म" (सनातनधर्म्म) की रक्षा करना था अतएव सभी मतवादों ने सनातन शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए ही सामयिकदृष्टि से अपने अपने मत स्थापित किए। अतएव च ये सभी मतवाद परस्पर में सम-यभेदमूलक दृष्टिभेद रखते हुए भी सनातनशास्त्र की दृष्टि से एक ही लक्ष्य के अनुगामी बने रहे। एवं इसी समन्वय के कारण अनेक मतवादों के रहने पर भी अन्य देशों की तरह कभी इनमें परस्पर संघर्ष का अवसर न आया।

आज शैव–वैष्णव मतवादों में जो कलह देखा जाता है, उसका एकमात्र कारण है —मूल प्रतिष्ठा का परित्याग। सभी मतवादों को वेदशास्त्र सिद्ध होने से प्रमाणभूत मान लेने के साथ ही हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि, कुछ एक शताब्दियों से हम मतवाद के अभिनिवेश में पड़ कर वैदिक-तत्त्ववाद की उपेक्षा कर पारस्परिक संघर्ष के कारण अवश्य बन गए हैं। इसी संघर्ष की कृपा से अपने मूलोद्देश्य से वञ्चित रहते हुए आज ये ही मतवाद लाभ के स्थान में हानिप्रद बन रहे हैं। जिस आर्षधर्म्म की रक्षा के लिए इन मतवादों का जन्म हुआ था, वह आर्षधर्म्म आज सर्वथा आवृत बन गया है, यह स्वीकार कर लेने पर भी यह दोष मतवाद पर नहीं लगाया जा सकता। कारण स्पष्ट है। यदि कोई मन्दबुद्धि अपने बुद्धिदोष से एक उपयोगी-सत् पदार्थ का दुरुपयोग कर उसे असत्-सा बना देता है तो इसमें उस सत् पदार्थ का कोई दोष नहीं माना जा सकता।

भारतवर्ष के सभी मतवाद वेदभक्ति का डिण्डिमघोष करते हुए भी आज वेदस्वाध्याय से विमुख हैं। सभी साम्प्रदायों का एकमात्र लक्ष्य है —केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थों को विपुलोदर बनाना। वेदशास्त्र सब का अभिन्न धरातल है। एक नायक की उपेक्षा, एवं अनेक नायकों का समादर ही विनाश का कारण माना गया है। इसी कारण के अनुग्रह से वेदशास्त्रसिद्ध आर्षधर्म की उपेक्षा करती हुई, सभी सम्प्रदाएं आज सचमुच इतर देशों के मतवाद लक्षण 'रिलीजन' का आसन ग्रहण कर भारत-वैभव नाश का कारण बन रही हैं। विभिन्न सम्प्रदायवादियों के विभिन्न दृष्टिकोण जहां वेदधर्म्म के नाते एक सूत्र में बद्ध रह कर समष्टि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शक्ति बनाए रखते थे, आज वह संघठन टूट चुका है। और अगली पीढ़ियों में उत्पन्न होने वाले साम्प्रदायिक व्याख्याताओं ने तो अपनी अभिनिविष्ट व्याख्याओं से और भी अधिक मालिन्य उत्पन्न कर दिया है।

इसी अभिनिवेश के अनुग्रह से महापूजा का स्थान अल्पपूजा ने ग्रहण कर लिया है। ईश्वरीय, आनन्दलक्षण, भूमाभाव का स्थान जीवानुबन्धी, दुःखलक्षणा, अल्पता ने छीन लिया है। समष्टिपूजा के स्थान पर व्यक्तिपूजा ने आक्रमण कर लिया है। हम यह जानते हुए भी कि, अमुक सन्त, अमुक सम्प्रदायाचार्य निरक्षर-मूर्द्धन्य है, देवानां प्रिय है, बिलासी है, फिर भी उसके चरणों में सर्वस्व समर्पण करते हुए लज्जा का अनुभव नहीं करते। धर्म्मरक्षा के व्याज से श्रद्धालु देश की विपुल धनराशि को अपने कोषों में प्रतिष्ठित रखते हुए भी धर्म्मरक्षक इस ओर से सर्वथा उदासीन हैं। इन्हीं ताण्डवनृत्यों से तटस्थ जनता शनैः शनैः धर्म्मपथ से च्युत होती जा रही है। सामान्य जनता की बात छोड़ दीजिए क्योंकि उनके लिए तो 'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' सिद्धान्त की सन्तोष की भूमि बन रहा है। परन्तु वर्त्तमान युग के शिक्षित-समाज के सामने धर्म्म के नाम पर जब ऐसी सम्प्रदाय विभीषिका उपस्थित होती है, धर्म्म का जब ऐसा विकृत रूप उपस्थित होता है, जब वह धर्म्मानुयायियों में ही परस्पर संघर्ष देखता है, तो ऐसी दशा में उसका धर्म्म की ओर से विमुख हो जाना स्वाभाविक है। और आज यही हो रहा है। अस्तु, कब हमारे मतवाद पुनः अपने उस अभिन्न धरातल (वेदशास्त्र) का आश्रय लेंगे, कब साम्प्रदायिक कलह से हमारा पीछा छूटेगा, कब स्वार्थियों के वैयक्तिक स्वार्थ देश का रक्तशोषण बन्द करेंगे, यह कथान्तर है। यहाँ तो इस सम्बन्ध हमें यही कहना है कि, भारतीय मतवाद वेदधर्म्म को आलम्बन बनाने के कारण अवश्य ही प्रामाणिक, एवं उपादेय हैं।

सन्तमत का दूसरा दृष्टिकोण है, प्रजा को लोकवैभवों के आकर्षण से मुक्त करना। कोई सन्त[1] संसार को मिथ्या बतला कर लोकवैभव का तिरस्कार कर रहा है, कोई सन्त[2] जगत् प्रपञ्च को बन्धन का कारण घोषित करता हुआ ईश्वरभक्ति का यशोगान कर रहा है, तो कोई अर्वाचीन सन्त[3] लोकभापामय सूक्तियों के द्वारा जनता में ऐसे निराशा के भाव भर रहा है, जिनके सामने आते ही हम अपने आप को, एवं लोक समुन्नति को एक रद्दी चीज समझने लगते हैं। 'भोजन जो कुछ मिले, सो खावे, प्राणन का पालन हो जावे'—'चामड़ा की पूतली भजन कर ए'—'सब जग झूंठी माया साधो, सब जग०'—'देख कबीरा रोया'—'दास मलूका यों कहैं, सब के दाता राम'—'तुम बिन कौन सहाई' ऐसे ऐसे निर्वीर्य पद जब हमारी श्रोत्रेन्द्रिय में प्रविष्ट होते हैं, तो हमारी आत्मनिर्भरता विलुप्त हो जाती है। हम अपने आपको नगण्य, कायर, हतश्री मानने लगते हैं। लोकसमुन्नति का द्वार अवरुद्ध हो जाता है, कर्त्तव्य-परायणता शिथिल हो जाती है, स्फूर्त्ति विलीन हो जाती है। यही हमारे इस सन्तमत का एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके अनुगमन से-भारतवर्ष केवल परलोक के स्वप्न देखता हुआ अपने ऐहलौकिक वैभवों को खो बैठा है, और आज भी उसी मत के अभिनिवेश में पड़ता हुआ खोता जा रहा है।

सन्तमत में रहनेवाली आर्षधर्म्म दृष्टि आज सर्वथा विलुप्त हो चुकी है। किसी विशेष, एवं सामयिक उद्देश्य को लेकर पनपनेवाली उक्त सन्तभावनाओं ने आज सदा के लिए देशमें घर कर लिया है। जिसे देखिए, वही परमात्मा का निकट सम्बन्धी बनने का दम भर रहा है। जिसके मुख से सुनिए, वही जीवन की अनित्यता का यशोगान कर रहा है। लोक-वैभव पदे पदे तिरस्कृत है, अदत्ता पदे पदे सगृहीत है। आत्मनिर्भरता पलायित है, परावलम्ब सापक्ष है। इस प्रकार हमारे इस सन्तमत ने हमें मनुष्य से एकदम 'देवता' बना डाला है। हम को हम' न रखकर कुछ दूसरा ही बना डाला है। तत्वान्वेषण, लोकसङ्गठन, राष्ट्रोन्नति, लोकवैभवप्राप्ति, साम्राज्य सुखोपभोग आदि ऐहलौकिक विकासों को यहां प्रवेश करने का भी अधिकार नहीं रह गया है। और यही सन्तमत का दुःखपूर्ण संक्षिप्त इतिवृत्त है।

आर्षधर्म्म क्या चाहता है? उत्तर स्पष्ट है। अपने अन्तर्जगत् के पूर्ण विकास के साथ साथ लोकवैभवों का भी पूर्ण विकास। व्यक्ति-कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र की प्रत्येक लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ अध्यात्म-

---

[1] अद्वैतसम्प्रदाय के सन्त। [2] वैष्णवसम्प्रदाय के सन्त।

[3] कबीर, दादू आदि अर्वाचीन सन्त।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्था का पूर्ण विकास, "अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्, न कश्चिद्ग्लं बुद्धिमाद्ध्यात्' मन्त्र का मनसा-वाचा-कर्म्मणा अनन्यभावात्मक अनुष्ठान। कायरता का परित्याग वीरता का आह्वान, तत्त्वों का सतत अन्वेषण, निःश्रेयस-गर्भित अभ्युदय की सतत वाञ्छा, आत्मनिर्भरता का अनुगमन, अभयपद की अनन्योपासना, अमृतभावों का चिन्तन, शाश्वत प्रत्ययों में दृढनिष्ठा, ये ही कुछ एक ऐसे मूलमन्त्र हैं, जिनका सन्देश मिलता है हमें एकमात्र आर्षधर्म्म से, एवं तत्प्रतिपादक वेदशास्त्र से। यद्यपि आर्षधर्म्म यह समझता है कि, लोकवैभव, भौतिक प्रपञ्च बन्धनमूला अशान्ति के कारण हैं, परन्तु सन्तमत की तरह वह यहीं पर विश्राम नहीं कर लेता। वह कहता है कि, भूतवैभव तभी तक अशान्ति का प्रवर्त्तक बना रहता है, जबतक कि उसके मूल में 'अध्यात्म-साधना' प्रतिष्ठित नहीं कर दी जाती। व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग करते हुए राष्ट्रकल्याण की सामूहिक भावना को आगे करते हुए, 'लोककल्याण हेतवे' को मूलमन्त्र बनाते हुए, आत्म-मूल का आश्रय लेते हुए जो वैभव कामना की जाती है, वह कभी अशान्ति का कारण नहीं बन सकती। यही नहीं, अपितु आत्मसाधनामूला यह लोक-सम्पत् लोकशान्ति का ही कारण बनती है। और यही आर्षधर्म्म का सर्वोत्कर्ष है। अन्य मतवाद जहां आत्मस्वरूप को विकृत करते हुए अशान्तिमूलक-लोकवैभवों के समर्थक हैं, आधुनिक भारतीय सन्तमत जहां कायक्लेश का समर्थक बनता हुआ कहने भर का केवल आत्मोदय का कारण बन रहा है, वहां हमारा आर्षधर्म्म आत्मलक्षण निःश्रेयस आनन्द, एवं विश्वलक्षण अभ्युदय सुख, दोनों का संग्राहक बनता हुआ सर्वमूर्द्धन्य बन रहा है। आज के जिस युग में सन्तमत, रिलीजन, प्रबुद्ध अर्थतृष्णा आदि सांघातिक शस्त्रास्त्र पनप रहे हैं, मानव समाज की रक्षा के लिए इन सब की प्रतिद्वन्द्विता को निरर्थक सिद्ध करने के लिए पुनः हमें उसी आर्षधर्म्म की प्रतिष्ठा करनी होगी, जो कि आर्षधर्म्म शताब्दियों से नहीं अपितु सहस्राब्दियों से विलुप्त हो रहा है।

---

१ "तुम्हारे योग्य जो वस्तु नहीं है उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते रहो। कभी [illegible] (सन्तोष) मत करो। [illegible] भूमा का [illegible] करते रहो"।

निरूपणीय आर्षधर्म्म के प्रसंग से सन्तमत का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब आर्षधर्म्म के

आर्षधर्म्म के दो विभाग—

सुप्रसिद्ध दो विभागों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आर्षधर्म्म का ही दूसरा नाम "वैदिकधर्म्म" है, जिसके लिए 'एष धर्म्मः सनातनः'-'धर्म्मं हन्युः सनातनम्' (मनुः ९।६४) इत्यादि रूप से 'सनातन धर्म्म' नाम से प्रयुक्त हुआ है। सुविधा, एवं लोकदृष्टि से आगे हम भी इसे इसी नाम से व्यवहृत करेंगे। सनातनधर्म्म के अन्तःसंस्था, भेद से आगे जाकर दो विभाग हो जाते हैं। अन्तःसंस्थानुगामी धर्म्म का पर्व 'पारमार्थिक-धर्म्म' कहलाता है। एवं बहिःसंस्थानुगामी धर्म्म-पर्व "व्यावहारिक-धर्म्म" कहलाता है। पारमार्थिकधर्म्म का आत्मसंस्था से सम्बन्ध है। पारमार्थिकधर्म्म का सञ्चालक नीतिसूत्र 'धर्म्मनीति' नाम से एवं व्यावहारिकधर्म्म का सञ्चालक नीतिसूत्र 'राजनीति' नाम से व्यवहृत होता है। दोनों सर्वथा विभिन्न दो पृथक् पृथक् मार्ग होते हुए भी एक दूसरे के सहायक हैं। परमार्थमार्ग व्यवहारमार्ग का सहायक है, एवं व्यवहारमार्ग परमार्थमार्ग का उपोद्बलक है। धर्म्मनीति राजनीति की प्रतिष्ठा है, एवं राजनीति धर्म्मनीति का समर्थन करनेवाली है। दोनों का परस्पर में वही अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है, जो कि सम्बन्ध अन्तःसंस्थालक्षण आत्मा, एवं बहिःसंस्थालक्षण शरीर में है। भारतीय सनातनधर्म्म की दृष्टि में विशुद्ध व्यवहारमार्ग भी स्वार्थमार्ग है, एवं विशुद्ध परमार्थमार्ग भी स्वार्थमार्ग है। दोनों से केवल व्यक्ति का ही उपकार होता है।[1] आत्मा,[illegible]लक्षण, इस वैयक्तिक स्वार्थभाव के कारण दोनों ही मार्ग स्वतन्त्र रहते हुए पातक हैं। पारमार्थिक, स्मार्त, वैदिक कर्म्म, एवं व्यावहारिक, यथाधिकारसिद्ध लौकिक कर्म्म, दोनों का सामञ्जस्य ही वास्तविक 'कर्म्मयोग' है। एवं प्रस्तुत "वैदिक-कर्म्मयोग" प्रकरण में हमें इस समन्वित कर्म्मयोग की मीमांसा करना है।

साधन, एवं फलरूप से उभयथा जो कर्म्म ऐहलौकिक भौतिक अर्थों की अपेक्षा रखते हैं, जिन कर्म्मों का स्वरूप-निर्माण (इतिकर्त्तव्यता-सम्पत्ति) भी आधिभौतिक अर्थों

---

१ 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'

(गीता ३।१३)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सेही होता है, एवं अधिभौतिक पदार्थों के समन्वय से सिद्ध होने वाले जिन कर्मों का फल भी आधिभौतिक ही है, ऐसे यच्चयावत् कर्म्मों का समुच्चित रूप 'कर्म्मयोग' है। एवं ऐसे कर्म्मों का अनुशासन करने वाला, आदेश देने-वाला ग्रन्थ ही 'कर्म्मकाण्ड' है। चूंकि कर्त्तव्यात्मक वेद का 'विधि' भाग इन्हीं कर्म्मों का अनुशासन करता है, अतः इसमें प्रतिपादित कर्म्मों के समुच्चय का हम 'कर्म्म-योग' कहेंगे, एवं इस ग्रन्थ को 'कर्म्मकाण्ड' कहेंगे।

विज्ञानभाषा के अनुसार विधि-भाग द्वारा प्रतिपादित कर्म्मयोग को कर्म्मयोग न कह कर 'यज्ञ' कहा जायगा। यज्ञकर्म्म एक वैज्ञानिक कर्म्म है, जो कि अधिकारी भेद से सर्वथा नियत है। भारतवर्ष किसे 'कर्म्मयोग' कहता है, ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—"यज्ञ"। यज्ञकर्म्म की विस्तृत व्याख्या स्वयं 'गीतामूलभाष्य' के—'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः**' इत्यादि श्लोक-विवरण में ही की जायगी। यहां इस सम्बन्ध में केवल यही कहना है कि, यज्ञकर्म्म में साधन, तथा फल, दोनों ही चूंकि पूर्वलक्षण के अनुसार आधिभौतिक हैं, अतएव यज्ञ का 'कर्म्मयोग' कहा जायगा।

समित्-आज्य-वेदि-बर्हि-पुरोडाश-सामरस-ऋत्विक्-यजमान-दक्षिणा-गार्हपत्यादि कुण्ड इत्यादि आधिभौतिक पदार्थों के समन्वय से ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती हैं इन्हीं के समन्वय से यज्ञ का स्वरूप बनता है। और समन्वित होने वाले ये सब साधन आधिभौतिक हैं। "शत्रुनाश-अन्न-यशः-श्री-लक्ष्मी-प्रजा-पशु" आदि ही यज्ञ के फल हैं, एवं ये सभी फल आधिभौतिक हैं। इस प्रकार साधन-फलरूप से उभयथा आधिभौतिक बना हुआ 'यज्ञ' वास्तव में उक्त लक्षणानुसार 'कर्म्मयोग' है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। जो कर्म्म साधनरूप से भी आधिदैविक तथा आधिभौतिक, दोनों अर्थों की अपेक्षा रखते हैं, एवं जिन सम्पन्न कर्म्मों के फल भी आधिदैविक-आधिभौतिक दोनों हैं, ऐसे कर्म्मों का संग्रह ही कर्म्मयोग' है। प्रस्तुत लक्षण पूर्वलक्षण से सर्वथा भिन्न रहता हुआ भी उसी यज्ञकर्म्म को अपना उदाहरण बना रहा है। पार्थिव संस्था भूतप्रधान बनती हुई 'आधिभौतिक' है, एवं सौरसंस्था[२] देवप्रधान बनती हुई 'आधिदैविक' है। यज्ञ में दोनों का साधन रूप से समन्वय हो रहा है। समित् आज्यादि पूर्वोक्त द्रव्य पृथिवी से सम्बन्ध रखते हुए आधिभौतिक साधन हैं। ऋत्विजों का आत्मा, यजमान-यजमानपत्नी का आत्मा, एवं उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों से सीमित वेदमन्त्र, ये सब साधन सौरसंस्था से सम्बन्ध रखते हुए आधिदैविक साधन माने जायंगे। '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (यजुः सं० ७४२) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार आत्मभाग सौर है, एवं '**स्वरहर्देवाः सूर्य्यः**' (शत० ब्रा० १।१।२।२१) इत्यादि ब्राह्मणवर्णन के अनुसार मन्त्रगत स्वरतत्व सूर्य्य की वस्तु है। इस प्रकार यज्ञ के साधनों में भौतिक-दैविक, दोनों तरह के साधनों का समावेश हो रहा है। इन दोनों में से भौतिक साधन को हम 'ऐहलौकिक' साधन कहेंगे, एवं दैविक साधन को 'पारलौकिक' साधन कहेंगे। क्योंकि पार्थिवसंस्था 'इहलौकिक' (यह लोक-अयं लोकः) कहलाता है, एवं सौरसंस्था 'परलोक'—(वह लोक-असौलोकः) कहलाता है।

यही अवस्था फलांश में समझिए। यज्ञकर्म्म से सम्पत्ति, यश, अन्न, प्रजा, आदि की वृद्धि होती है, शत्रुक्षय होता है, एवं ये सब फल पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखते हुए आधिभौतिक, किं वा ऐहलौकिक हैं। यज्ञ—द्वारा यजमान के कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा में (जो कि कर्म्मात्मा यज्ञपरिभाषा में 'मानुषात्मा' कहलाया है) एक दिव्य संस्कार उत्पन्न होता है, जो कि—'यज्ञातिशय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी संस्कारिक देवभाव को 'देवात्मा' कहा जाता है। यह देवात्मा सौरसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले 'त्रिणाचिकेत' नाम से प्रसिद्ध, सप्तदशस्तोमावच्छिन्न, प्राणमूर्त्ति स्वर्ग्य अग्नि आकर्षण से आकर्षित रहता है। इधर यजमान का मानुषात्मा संस्कारिक देवात्मा से बद्ध रहता है। यावदायुर्भोगपर्यन्त पृथिवी में रह कर शरीरत्यागानन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान का मानुषात्मा उसी देवात्मा के आकर्षण से (नियमित काल तक के लिए) उसी सप्तदश स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो जाता है। चूंकि यह स्थान सूर्य्यसंस्था से सम्बन्ध रखता हुआ आधिदैविक है, अतएव इस यज्ञफल को हम आधिदैविक, किंवा पारलौकिक फल कहेंगे। इस प्रकार कर्म्मजनित फल में भी भौतिक, दैविक, दोनों भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

---

१ "एषां वै भूतानां पृथिवी रसः" (शत० ब्रा० १४।९।४।१)।

२ "चित्रं देवानामुदगात्" । (यजुः सं० ७४२)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब सिद्धान्तदृष्टि से विचार कीजिए। उक्त दोनों लक्षणों में से पहिला लक्षण ही कर्म्मयोग का सिद्धान्तलक्षण माना जायगा। दूसरे लक्षण में यजमानादि का आत्मा स्वरयुक्त मन्त्रवाक् आदि जिन यज्ञ-साधनों को आधिदैविक कहा गया है, एवं सप्तदश स्वर्गरूप जिस यज्ञफल को आधिदैविक बतलाया गया है, परमार्थतः इन आधिदैविक भावों का भी आधिभौतिक प्रपञ्च में ही अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। पृथिवी भूतप्रधाना है, सूर्य्य देवप्रधान है, एतावता ही पार्थिवसाधन फलों को आधिभौतिक, एवं सौर साधन-फलों को आधिदैविक मान लेना विज्ञान दृष्टि से उचित नहीं। क्योंकि विज्ञानशास्त्र ने इन को परिभाषा और ही कुछ मानी है।

ईश्वर प्रजापति के 'आत्मा-तथा-विश्व' इन दो विवर्त्तों को लक्ष्य में रख कर ही कर्म्म-ज्ञान-उपासना के साधन फलों का विचार करना चाहिए। आत्मा और विश्व, इन दोनों प्राजापत्यपर्वों में आत्मापर्व 'ईश्वर-जीव' भेद से दो भावों में परिणत रहता है। फलतः आत्मा-विश्व, इन प्राजापत्यपर्वों के स्थान में 'ईश्वर-जीव-जगत्' ये तीन पर्व हो जाते हैं। इनमें से ईश्वर का आधिदैविक प्रपञ्च से, जीव का आध्यात्मिक प्रपञ्च से, एवं जगत का आधिभौतिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ईश्वर आधिदैविक तत्त्व है, जीव आध्यात्मिक तत्त्व है, एवं जगत् आधिभौतिक तत्त्व है। ये ही तीनों विवर्त्तक्रमशः ज्ञान-उपासना-कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा बनते हैं। यद्यपि त्रिवृद्भाव के कारण तीनों ही प्राजापत्यपर्वों में (प्रत्येक में भी) आधिदैविकादि तीनों पर्वों का समन्वय है, जैसा कि पूर्व के आत्मपरीक्षाखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है (देखिए गीताभूमिका २ खण्ड ४६ पृ०)। तथापि चूंकि प्रधानता तीनों में क्रमशः दैविक-आत्मिक-भावों की ही है, अतः तीनों क्रमशः तत्तत्संस्थाओं के ही स्वरूपसमर्पक माने जाते हैं। तीनों में से चूंकि 'कर्म्मयोग' का विश्वानुबन्धी आधिभौतिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है, अतः कर्म्म के पूर्वोक्त साधन, एवं फल, दोनों को हम आधिभौतिक ही कहेंगे।

ईश्वर-जीव-जगत्, तीनों के क्रमिक स्थान में जीवात्मा मध्यस्थ है। इस मध्यस्थ जीवात्मा के गमन के लिए उस ओर ईश्वर, एवं इस ओर जगत् ये दो ही प्राकृतिक स्थान हैं। ईश्वर स्थान 'पर स्थान' कहलाता है, जगत् स्थान 'इह स्थान' कहलाता है, जैसा कि 'इमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति' (छान्दोग्य उप० ७।७।१) 'अयं च लोकः, परश्च लोकः' (बृहदा० उप० ३।७।१) 'इमं च लोकं परं च लोकम्' (बृ० उप०) इत्यादि उपनिषद्वचनों से प्रमाणित है। उस ओर ईश्वर स्थानीय परलोक है, इस ओर जगत्स्थानीय इहलोक है। ईश्वर चूंकि अव्ययप्रधान है, एवं अव्ययतत्त्व 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ईश्वरलोक को अवश्य ही परलोक (अव्ययलोक) कहा जा सकता है। यदि मध्यस्थ जीव ईश्वरानुगत है, तब तो पारलौकिक निःश्रेयस सुख है शान्त आनन्द है। एवं विश्व में ही संसक्त रहकर समृद्धि-लक्षण विश्वानन्द का अनुभव करना ऐहलौकिक सुख है। विश्वगति का 'प्रेयोभाव' से सम्बन्ध है, ईश्वरगति का श्रेयोभाव' से सम्बन्ध है। निःश्रेयस सुख ईश्वरानुगति पर ही निर्भर है। यह शान्त आनन्द—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (मुण्डकोपनिषत् १।२।७) के अनुसार कर्म्मकाण्ड से अतीत है। कर्म्मकाण्ड तो केवल ऐहलौकिक, आधिभौतिक, अशाश्वत सुख का ही साधन बनता है।

ऐहलौकिक-फलप्रदाता कर्म्मकाण्ड ही 'यज्ञकाण्ड' है। जितने भी यज्ञ हैं, सब आधिभौतिक, ऐहलौकिक साधनों की अपेक्षा रखते हुए आधिभौतिक फलों के ही जनक बनते हैं। आत्मसुख का, मोक्ष का, अमृतत्त्व का, शाश्वतपद का यज्ञकर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। हां यज्ञकर्म्मों में ही 'चयनयज्ञ' (अग्निचयन) अवश्य एक ऐसा यज्ञकर्म्म है, जिस के अनुष्ठान से चिदात्म-प्राप्तिलक्षण अमृतत्त्व की प्राप्ति सम्भव है, जैसा कि—'नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति, ऋते चयनात्' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। चयनयज्ञातिरिक्त अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम, राजसूय, वाजपेय, गोमेध, धर्म्म, आदि आदि सब यज्ञकर्म्म साधनतः, एवं फलतः उभयथा ऐहलौकिक सुख के ही प्रवर्त्तक हैं।

हमने कर्म्मयोग का दूसरा लक्षण बतलाते हुए यजमानात्मा एवं मन्त्रवाक् को तो यज्ञकर्म्म का आधिदैविक साधन बतलाया था, एवं सप्तदशस्थानीय नाचिकेत स्वर्गसुख को आधिदैविक फल कहा था। परन्तु वास्तव में उक्त परिभाषा के अनुसार ये साधन-फल भी आधिभौतिक ही माने जायंगे। कारण स्पष्ट है। सौर संस्था से सम्बन्ध रखने वाला यजमानादि का आत्मा भी भूतात्मक है, स्वयं मन्त्रवाक् और नाचिकेत स्वर्ग भी भूतप्रधान ही है। भौतिक विश्व का तीसरा पर्व स्वयं सूर्य्य है। सूर्य्य स्वयं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भौतिक है। सौर देवता भी भूतविशेष ही हैं। अतः केवल देवशब्द से ही इस संस्था को 'आधिदैविक' संस्था मान बैठना विज्ञान विरुद्ध है। इन्हीं सब परिस्थितियों के सामने आने से कर्म्मयोग के निम्न लिखित लक्षण में कोई विरोध नहीं रह जाता—

'जिन कर्मों का स्वरूप-इतिकर्त्तव्यता-भी आधिभौतिक (ऐहलौकिक) पदार्थों से हीं सम्पन्न होता हो, एवं जिन कर्मों का फल भी आधिभौतिक ही हो, उन कर्मों की समष्टि ही कर्म्मयोग है'।

साधनतः, एवं फलतः, जिन कर्मों का केवल विश्व-पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध था, अभ्युदयजनक उन सब कर्म्मों का संग्रह कर महर्षियों नें (कर्म्मेतिकर्त्तव्यता प्रतिपादक) जो अनुशासन-ग्रन्थ हमारे सामने रक्खा, 'विधि' नामा-परपर्य्यायक वही वेदग्र थ — 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसके कि शाखाभेद भिन्न शतपथ तत्तिरिय ऐतरेय-गोपथ-ताण्डय- आदि ११३१ अवान्तर भेद हैं।

आधिभौतिक साधन-फलानुगामी, ब्राह्मणभागोक्त यह कर्म्मकलाप एक वैज्ञानिकर्म्म बनता हुआ अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित माना गया है, जो कि अधिकारीभेद-चातुर्वर्ण्य, एवं चातुराश्रम्यसे सम्बन्ध रखता है। सभी मनुष्य सभी कर्म्मों के अधिकारी नहीं बनसकते। अपितु जो मनुष्य जिस वर्ण में जन्मलेता है, जिसके बीजभूत शुक्र शोणितमें अधिकारस्वरूपसमर्पक जो बीज प्रतिष्ठित रहता है, वह मनुष्य उसी बीजानुबन्धी कर्म्म में अपना अधिकार रखता है। यथाधिकारसिद्ध, स्व-धर्म्मलक्षण, स्व-स्व कर्म्मों में रत रहनेवाला पुरुष ही सच्चा कर्म्मयोगी है।

विवेचनीय वैदिक कर्म्मयोग के जिन व्यावहारिक, तथा पारमार्थिक नाम के दो भेदों का उपक्रम किया गया था, उनके सम्बन्ध में आज एक तीसरे 'प्रातिभासिक' कर्म्म का सम्बन्ध और जोड़ा जाता है। इस दृष्टि से दो के स्थान में 'प्रातिभासिक व्यावहारिक-पारमार्थिक' ये तीन कर्म्म-विभाग हो जाते हैं। 'कर्म्माभास' ही प्रातिभासिक कर्म्म हैं। प्रतीति कर्म्म जैसी हो, परन्तु वास्तव में वह कर्म्म कर्म्म-मर्य्यादा से वञ्चित हो ऐसे कर्म्मों को ही प्रातिभासिक-कर्म्म, दिखावटी-बनावटी कर्म्म कहा जायगा। कर्म्म का कर्म्मत्व अभ्युदय' है जो कर्म्म अभ्युदय का जनक होगा, वही कर्म्मत्व से सुरक्षित रहता हुआ 'कर्म्म' कहलाएगा। एवं विपरीत कर्म्म कर्म्माभास ही माना जायगा।

घर से बाहिर निकल कर निरुद्देश्य इधर उधर घूमते रहना, घर में आए तो निरर्थक गप शप लड़ाते रहना, पादारविन्द से मुखारविन्द में समय-असमय में कुछ न कुछ आहुत करते रहना, लम्बे पैर करके असमय में निद्रा'क्रोड़ का आश्रय ले लेना, पैर हिलाना, सीटी बजाना, चुटकी बजाना, अङ्गताड़न करना, तृणच्छेद करते रहना, ऐसे ऐसे जितनें भी निरर्थक कर्म्म हैं, इनसे न तो शरीर का ही कोई उपकार होता, एवं न आत्मा में ही किसी विशिष्ट अतिशय का आधान होता। यही नहीं, कालान्तर में ये निरर्थक कर्म्म हीं शरीरस्वास्थ्य के प्रतिबन्धक बनते हुए आत्मपतन के कारण बन जाते हैं। इन्हीं निष्प्रयोजन-निरर्थक कर्म्मों को 'अकर्म्म' कहा जाता है। न इनका शास्त्र में विधान है, न निषेध है, अतएव इन अकर्म्मों को 'अविहिता-प्रतिषिद्ध' नाम से सम्बोधित किया गया है। और यही प्रातिभासिक-कर्म्मों का एक स्वतन्त्र विभाग है।

मद्यपान, मांसभक्षण, अगम्यागमन, मिथ्याभाषण, धूर्त्तता, बकवृत्ति हिंसा, देव-द्विज गुरु-वृद्ध पूज्य-शास्त्र-निन्दा, अस्पृश्य स्पर्श, आदि शास्त्रनिषिद्ध जितनें भी कर्म्म हैं, वे सब भी प्रत्यवाय के जनक बनते हुए अभ्युदयरूपा कर्म्म संपत्ति से वञ्चित होकर एक प्रकार से 'प्रातिभासिक' कर्म्म ही हैं। ऐसे शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों को 'विकर्म्म' कहा जाता है। जोकि अविहिताप्रतिषिद्ध-अकर्म्मों की तरह अतिशय से वञ्चित रहते हुए, एवं प्रत्यवाय के जनक बनते हुए कर्म्माभास ही कहे जायंगे। इस प्रकार प्रातिभासिक कर्म्मों के 'अकर्म्म-विकर्म्म' नाम के दो भेद हो जायंगे।

प्रातिभासिक कर्म्मों के अनन्तर क्रमप्राप्त दूसरा व्यावहारिक-कर्म्म विभाग सामने आता है। पूर्वप्रतिपादित लौकिक-वैदिक कर्म्म ही व्यावहारिक कर्म्म माने गए हैं। राजनिति, तथा समाजनिति से सम्बन्ध रखनेवाले (किन्तु धर्म्मनिति को अपना आलम्बन बनानेवाले) पार्थिव कर्म्म 'लौकिक कर्म्म' कहलाएंगे, एवं धर्म्मनीतिप्रधान, वर्णाश्रम के नियन्त्रण से नियन्त्रित, अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित यज्ञ-तपो दान-लक्षणसौरकर्म्म 'वैदिक कर्म्म' (प्रवृत्तिलक्षण वैदिक कर्म्म) कहे जायगे। एवं इन दोनों ही कर्म्मों को व्यावहारिक कर्म्म' माना जायगा। निष्कर्षतः जिन लौकिक वैदिक कर्म्मों से ऐहलौकिक सुख समृद्धिलक्षण अभ्युदय होगा, वे सब शास्त्रीय कर्म्म व्यावहारिक कर्म्म कहे जायंगे।

तीसरा विभाग 'पारमार्थिक कर्म्म' है। यही 'ज्ञानयोग-लक्षण' निवृत्त-कर्म्म है। 'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर्म्म वैदिकम्' (मनुः १२।८८) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार उपरिनिर्दिष्ट (यज्ञादिलक्षण) व्यावहारिक कर्म्म भी वैदिक कर्म्म ही है, एवं प्रस्तुत निवृत्ति-लक्षण पारमार्थिक कर्म्म भी वैदिक ही है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, प्रवृत्तिलक्षण व्यावहारिक वैदिक कर्म्म का वेद के ब्राह्मण-भाग से सम्बन्ध है, एवं निवृत्तिलक्षण पारमार्थिक वैदिक कर्म्म का वेद के (आरण्यक भाग से युक्त) उपनिषद् भाग से सम्बन्ध है। ब्राह्मणोक्त, प्रवृत्तिलक्षण वैदिक कर्म्म 'कर्म्मयोग' है, एवं उपनिषदुक्त निवृत्तिलक्षण वैदिक कर्म्म 'ज्ञानयोग' है। पहिला अभ्युदय-साधक है, दूसरा निःश्रेयस-साधक है। इन तीनों में अकर्म्म-विकर्म्मलक्षण प्रातिभासिक कर्म्म प्रत्येक दशा में त्याज्य है। एवं धर्म्मानुबन्धी व्यावहारिक लौकिक कर्म्म, व्यावहारिक वैदिक प्रवृत्ति कर्म्म, एवं पारमार्थिक वैदिक निवृत्तिकर्म्म यथासमय, यथाधिकार ग्राह्य हैं।

कर्म्मतालिकापरिलेख :—

अकर्म्म	१—अविहिताप्रतिषिद्धानि कर्म्माणि—अकर्म्म	—प्रातिभासिक-कर्म्माणि
विकर्म्म	२—शास्त्रविरुद्धकर्म्माणि—विकर्म्म	
कर्म्म	१—धर्म्मानुबन्धीनि, लौकिक-कर्म्माणि—कर्म्म	—व्यावहारिक-कर्म्माणि
	२—यज्ञादीनि वैदिकप्रवृत्तकर्म्माणि—श्रेष्ठकर्म्म	
	१—उपासनादीनि वैदिकनिवृत्तकर्म्माणि—ज्ञानात्मककर्म्म	—पारमार्थिक-कर्म्माणि

लौकिक-वैदिक भेदभिन्न दोनों व्यावहारिक कर्म्म, एवं वैदिक पारमार्थिक कर्म्म, इन तीन ग्राह्यकर्म्मों में से हमारे प्रस्तुत कर्म्मयोग-प्रकरण के साथ लौकिक एवं वैदिक व्यावहारिक-कर्म्मों का ही प्रधान सम्बन्ध समझना चाहिए। वैदिक यज्ञ-तपो-दानलक्षण प्रवृत्ति कर्म्म, राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले राष्ट्रीय कर्म्म, समाजव्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक कर्म्म, एवं व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले स्थूलशरीरानुबन्धी शारीरक कर्म्म, प्रवृत्तिमूलक ये सब कर्म्म विशुद्ध व्यावहारिक कर्म्म ही माने जायगे इनका परमार्थ (आत्मबोधलक्षणा मुक्ति) से कोई सम्बन्ध न रहेगा। दूसरे शब्दों में विश्व एवं विश्वात्मा, इन दो प्राजापत्य पर्वों से कर्म्मयोग की प्रतिष्ठाभूमि कर्म्मप्रधान विश्व ही माना जायगा।

विश्व सम्बन्धी (ऐहलौकिक सम्बन्धी) व्यावहारिक लौकिक-वैदिक कर्म्मों का स्वरूप, अनुष्ठान, अधिकार-मर्यादा से सम्बन्ध रखता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न होने वाला पाञ्चभौतिक विश्व भी त्रिगुणमूर्त्ति ही है। इस त्रिगुणात्मक विश्व के प्रदेशों से उत्पन्न हो कर, त्रिगुणात्मक विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित रहनेवाला प्रजावर्ग भी त्रिगुणभाव से नित्य आक्रान्त है। 'लोकरुचिर्हि भिन्ना'—'भिन्नरुचिर्हि लोकः'—'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्' 'मुण्डे मुण्डे रुचिर्भिन्ना' इत्यादि आभाणकों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव, गुण, मानस प्रवृत्ति परस्पर में सर्वथा नियमित हैं। सब की योग्यता में पार्थक्य विद्यमान है। अतएव सब मनुष्य सब कर्म्मों के अधिकारी नहीं बन सकते। जिसमें जिस कर्म्मानुष्ठान की स्वाभाविक योग्यता है, जिसमें जिस कर्म्मानुष्ठान की शक्ति (रजोवीर्य्य के सम्बन्ध से) परम्परा से चली आ रही है, दूसरे शब्दों में जिसके रजोवीर्य्य में जन्मकाल से ही जिस कर्म्मानुष्ठान की शक्ति प्रतिष्ठित है, वही उसका अधिकारी है, एवं उसे विवश होकर वही स्वाभाविक कर्म्म करना पड़ेगा—'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' (गीता १८।६०)।

यदि कोई मनुष्य दुराग्रह में पड़ कर अधिकार विरुद्ध कर्म करेगा, तो वह अपनी आधिकारिक प्रकृति से विरुद्ध जाता हुआ पथभ्रष्ट हो जायगा, स्वस्वरूप को खो बैठेगा। फलतः अपने अपने आधिकारिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ ही पुरुष पुरुषार्थ साधन में समर्थ होता है। बात बड़ी सुन्दर है। यह ठीक है कि, मनुष्य स्वाधिकार-सिद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ ही वैयक्तिक-कौटुम्बिक-सामाजिक तथा राष्ट्रीय अभ्युदय का कारण बन सके, तो इस से और उत्तम क्या होगा। परन्तु एक विप्रतिपत्ति इस सम्बन्ध में हमारे सामने ऐसी है कि, जब तक उसके निराकरण का

१ कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः॥ (गीता ४।१७)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोई व्यवस्थित उपाय नहीं कर दिया जाता, तब तक मनुष्य केवल मनुष्य रहता हुआ कभी स्वाधिकार-सिद्ध कर्म्मों में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। और उस महाविप्रतिपत्ति का नाम है—"मनुष्य का अनृत स्वभाव"। जिसका कि अगले परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

सत्यानृत-विवेक—

"मनुष्य अपने स्वभाव सिद्ध आधिकारिक कर्म्म में विवश हो कर प्रवृत्त होता है" यह सिद्धान्त इस मनुष्य-प्रजा के लिए इस लिए अपवादरूप बन जाता है कि, 'इसके स्वरूप का निर्माण करने वाला उपादानद्रव्य सर्वथा 'अनृत' है। ईश्वर प्रजापति का यह रचना-वैचित्र्य ही मानना पड़ेगा कि, जहां उसने पार्थिव-प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य-प्रजा को ज्ञान क्रिया-अर्थ-शक्तियों में अग्रेसर बनाया, वहां उसने इस के उपादानद्रव्य (शुक्र) में अनृतभाव का समावेश कर इसे सत्यमर्य्यादा से च्युत कर दिया। देवसृष्टि यदि सत्यसंहित है, तो मनुष्यसृष्टि इसी अनृत-भाव के कारण 'अनृतसंहित' है। इसी अनृतात्मक अनृतभाव की कृपा से मनुष्य अपने स्वाभाविक, आधिकारिक कर्म्म से वञ्चित हो जाता है। इसी वञ्चना के निरोध के लिए इस के लिए शास्त्रोपदेश की आवश्यकता होती है। 'मनुष्या एवैकऽतिक्रामन्ति' (शत० २।४।२।६) के अनुसार 'देवता-पितर-मनुष्य-पशु-असुर,' प्रजापति की इन पांच सन्तानों में से देवता-पितर-पशु-असुर, ये चार प्रजा तो कभी स्वाभाविक नियमों का उल्लङ्घन नहीं करतीं, उल्लङ्घन करता है, एकमात्र मनुष्य-प्रजा, और इस उल्लङ्घन का एकमात्र कारण है, इसका अनृतभाव। अनृतभावमूलक इसी मर्यादा अतिक्रमण का स्वरूप बतलाने के लिए एक वैदिक आख्यान हमारे सामने आता है।

'एकोऽहं बहु स्याम्' अपनी इस बहुत्वमूला भूमा-कामना से प्रेरित होकर प्रजापति (सम्वत्सर प्रजापति) ने असुर-देवता-पितर-मनुष्य-पशु नाम की पांच प्रजा उत्पन्न की। उत्पन्न होते ही प्रजा ने पिता प्रजापति के सामने अपनी यह मांग रक्खी कि, आपने ही हमें उत्पन्न किया है, अब आप ही हमारे लिये जीवन साधन (भोजनादि) का प्रबन्ध कीजिए। असुरप्रजा सब से ज्येष्ठ प्रजा थी, अतएव इसका कर्त्तव्य था कि, यह उस समय प्रजापति के सामने अपनी मांग रखता; जब कि इस से कनिष्ठ देवादि प्रजाएं जीवन साधन प्राप्त कर लौट जातीं। परन्तु अपनी स्वाभाविक आतुरभावमूला अधीरता के कारण सब से पहिले ये ही प्रजापति के सामने पहुंचे। प्रजापति ने यही कहते हुए कि, 'तुम सबसे बड़े हो, तुम्हें सन्तोष रखना चाहिए' कहते हुए इन्हें लौटा दिया। अनन्तर देवता लोग यज्ञोपवीती बन कर "नः विधेहि, यथा जीवामः" यह कहते हुए प्रजापति के सामने नम्रभाव से उपस्थित हुए। प्रजापति ने इनके लिए यह व्यवस्था की कि, 'यज्ञ तुम्हारा अन्न बनेगा, तुम नीरोग रहोगे, उर्क् तुम्हारा बल होगा, एवं सूर्य्य तुम्हारी ज्योति होगी।' देवता सन्तुष्ट होकर लौट गए।

देवताओं के अनन्तर पितर लोग प्राचीनावीती बनकर पहुंचे। इन्हें यह आदेश मिला कि, 'प्रतिमास की अमावास्या में तुम्हें भोजन मिलेगा, उस भोजन का साधन 'स्वधा' होगा। मनोजव तुम्हारा बल होगा, एवं चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति होगी।' पितर भी सन्तुष्ट होकर लौट गए। अनन्तर प्रावृत बन कर उसी कामना को आगे करते हुए मनुष्य पहुंचे। इनके सम्बन्ध में प्रजापतिने यह व्यवस्था की कि, 'प्रातः सायं दिन में दो बार तुम्हें भोजन करना पड़ेगा, प्रजावर्ग तुम्हारा बल होगा, मृत्यु तुम्हारा स्वाभाविक धर्म्म होगा, एवं अग्नि तुम्हारी ज्योति रहेगी।' मनुष्य भी सन्तुष्ट हो कर लौट गए। मनुष्यप्रजा के अनन्तर उसी कामना को लेकर पशु पहुंचे। इन्हें यह आदेश मिला कि, 'तुम सदा स्वतन्त्र रहोगे। तुम्हारे लिए समय का कोई नियन्त्रण न रहेगा। तुम जब, जहां, जो कुछ मिलेगा समय असमय का कोई ध्यान न रखते हुए खाने लगोगे। तुम्हारी यह अमर्य्यादित वृत्ति ही तुम्हारे जीवन का साधन बनेगी।' पशु भी सन्तुष्ट हो कर लौट गए।

अब उस असुरप्रजा को अवसर मिला, जो कि अपने आसुरभाव की प्रेरणा से देवताओं से भी पहिले पहुंची थी साथ ही में पितर-मनुष्य-पशुओं की व्यवस्था के अवसरों पर भी पहुंचे बिना न रही थी, और प्रजापति की—'अभी तुम ठहर जाओ' इस प्रत्याख्यान से हर एक बार वापस लौट आती थी। सबोंत में ही प्रजापति ने इस असुरप्रजा के लिए व्यवस्था की। इन्हें आदेश मिला कि, 'तम (तमोगुण-अन्धकार) और माया (धूर्तता, छल, वञ्चना,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नास्तिक्य, अगम्यागमन आदि मायिक साधन) हीं तुम्हारी जीविका के साधक बनेंगे।' असुरप्रजा भी मनचाही मांग मिलने से सन्तुष्ट होकर लौट गई।"

इस प्रकार प्रकृतिसिद्ध दायविभाग का क्रमिक-निरूपण कर मनुष्यप्रजा के अनृतभाव का स्पष्टीकरण करने के लिए आगे जाकर श्रुति कहती है कि—

'ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति। तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यति, अशुभे मेद्यति, विहूर्छति हि, न ह्ययनाय च न भवति, अनृतं हि कृत्वा मेद्यति।'

—शतपथ ब्रा॰ ४।२।१ से ६ पर्य्यंत

"देवादि प्रजाएं उन्हीं नियमों के अनुसार जीविका-निर्वाह कर रही हैं, जैसा कि प्रजापति ने आरम्भ में इनके लिए व्यवस्था नियत की थी। न देवता उस प्राजापत्य मर्य्यादा का अतिक्रमण करते, न पितर अतिक्रमण करते एवं न पशु ही अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्र-वृत्ति का परित्याग करते। केवल मनुष्य ही उन नियमों का अतिक्रमण करते हैं। यह विश्वास करने की बात है कि, मनुष्य समुदाय में जो मनुष्य शरीरसे अत्यधिक विपुलोदर बन जाता है, जिसका उदर शरीरयष्टि की सीमा से बाहर निकल आता है, निश्चयेन उसने अशुभ कर्म्म किए हैं, पाप-कर्म्म द्वारा अर्थ संचय किया है। ऐसा मनुष्य मनुष्यता से गिर गया है, उसके अभ्युत्थान का मार्ग अवरुद्ध है। क्योंकि वह अनृत करके (झूठ बोल कर, छल करके) ही विपुलोदर बना है"।

उक्त आख्यान से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, मनुष्यप्रजा ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करती हुई स्वाधिकार से वञ्चित हो जाया करती है। इसे अपने कर्त्तव्य-कर्म्म का ध्यान नहीं रहता। जब तक इसे शास्त्रोपदेश, गुरुसेवा, वृद्धसेवा, आदि के नियन्त्रण से नियन्त्रित नहीं कर दिया जाता, तब तक यह अपने आप से कभी स्वाभाविक-कर्त्तव्य का अनुष्ठान करने में प्रवृत्त नहीं होती। मनुष्यप्रजा क्यों नहीं स्वाभाविक नियमों पर अपने आप से प्रतिष्ठित रह सकती? क्यों यह नियम छोड़ बैठती है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिये—'सत्यसंहिता वै देवाः'—'अनृतसंहिता मनुष्याः' (शत॰ ब्रा॰ १।१।१।) इन श्रुतियों द्वारा प्रतिपादिक 'सत्य-अनृत' भावों का ही विवेक करना पड़ेगा।

अपने प्रत्येक कार्य्य में सत्य एवं अहिंसा का सम्पुट लगाने वाले हमने क्या कभी यह भी प्रयास किया है कि, यह सत्य क्या पदार्थ है? अहिंसा की क्या परिभाषा है?। अहिंसा के सम्बन्ध में पूर्व के 'भोगर क्रुति' प्रकरण में कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। उसके आधार पर जैसे हमें हमारी काल्पनिक अहिंसा का दृष्टिकोण बदलना आवश्यक हो जाता है, एवमेव आगे बतलाए जाने वाले 'सत्य' स्वरूप का मर्म्म समझ लेने पर हमें अपने कल्पित सत्य का भी दृष्टिकोण अवश्य ही बदलना पड़ेगा। जिसे हम अभिनिवेश के साथ 'सत्य'-'सत्य' कह कर पुकार रहे हैं, क्या ऐसे सत्य का ऐसा आग्रह हमारा कल्याण कर सकता है? सचमुच यह एक जटिल समस्या है।

हां तो विचार यह करना है कि यह सत्य क्या पदार्थ है? एवं उसका आग्रह हम किस आधार पर करते हैं? एवं मनुष्य अनृतसंहित कैसे है?। सर्वसाधारण ने सत्य शब्द की व्याप्ति 'सत्यभाषण' (सच बोलना) पर समाप्त समझ रक्खी है, और सत्यभाषण का अर्थ यह समझ रक्खा है कि, वस्तुतत्व का जैसा स्वरूप हो, अपने शब्दों से उसका उसी रूप से अभिनय कर डालना। कहना न होगा कि, वैदिक विज्ञान की दृष्टि से 'सत्य' तत्व की यह परिभाषा अशुद्ध है। 'मनुष्य' नामक प्राणी कभी सत्य नहीं बोल सकता। मनुष्य जब भी कभी, जो भी कुछ भी अपने श्रीमुख से बोलेगा, मिथ्या ही बोलेगा। मनुष्य मनुष्य हो कर सत्य बोले, यह नितान्त असम्भव है। पारमार्थिक सत्य को तो थोड़ी देर के लिए एक ओर रख दीजिए। अभी केवल इन्द्रियानुबन्धी व्यावहारिक सत्यभाषण का ही उदाहरण रूप से विचार कीजिए।

एक तटस्थ व्यक्ति किसी व्यक्ति से पूछता है, महोदय! इस समय क्या बजा होगा? महोदयजी भित्ति में खचित पुरोऽवस्थित घटिका-यन्त्र पर, अथवा मणिबन्ध में बद्ध घटिका पर दृष्टि डालते हुए बड़ी सावधानी से बोल पड़ते हैं—"इस समय ठीक दस बजे हैं"। सत्य की पूर्वोक्त परिभाषा पर ही विश्राम करने वाला कोई भी व्यक्ति इस उत्तर को असत्य न कहेगा। सभी की दृष्टि में 'ठीक दस बजे हैं' यह सत्यभाषण माना जायगा। परन्तु क्या वास्तव में, यह कथन सत्यमर्य्यादा से युक्त है? असम्भव। दृष्टि और वाणी, दोनों का जब तक एक ही क्षण में समन्वय नहीं हो जाता, तब तक ठीक (सत्य) समय नहीं बतलाया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जा सकता, एवं दृष्टि और वाणी का क्षण-समन्वय सर्वथा असम्भव है। पहिले घटिकायन्त्र पर दृष्टि डाली जाती है, अनन्तर दृष्ट अर्थ का शब्द द्वारा मुख से अभिनय किया जाता है। उधर घटिकायन्त्र क्षणभर के लिए भी स्थिर नहीं है। जिस क्षण में महोदयजी की दृष्टि दस के अङ्क पर जाती है, उस क्षण में अवश्य ही दस बजे हैं, साथ ही इस सत्य-समय का अनुभव भी इनके अन्तर्जगत (आत्मा में हो पड़ता है। परन्तु यह दृष्टिकाल क्षण-काल से भी कहीं सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम है। जिस समय इनके मुख से 'ठीक दस बजे हैं' यह वाक्य निकलता है, इस भाषण समय के, और दृष्टि समय के बीच में तो बहुत सा समय निकल जाता है। भाषण काल तक कई सेकण्ड निकल जाते हैं, यह सभी को मानना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में उस दृष्ट-सत्य का कभी वाणी से ठीक-ठीक अभिनय नहीं किया जा सकता। अब बतलाइए! सत्यभाषण कैसे सत्य-भाषण रहा?

बात यथार्थ में यह है कि, 'ठीक' शब्द सत्यभाव का सूचक है, एवं सत्यभाव का केवल अन्तर्य्यामी आत्मदेवता के साथ सम्बन्ध है। सत्यमूर्त्ति आत्मा ही सत्य का ग्राहक बना रहता है। इधर यह सत्यमूर्त्ति आत्मा गर्भ में प्रतिष्ठित रहता हुआ इन्द्रिय-धर्म्मों से अतीत है, परोक्ष है। अतएव परोक्ष, इन्द्रियातीत, आत्मा, एवं आत्मानुगामी सत्यभाव दोनों ही इन्द्रियों के विषय नहीं बन सकते। वहां वाणी की गति अवरुद्ध है, जैसा कि—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, सत्य आत्मानुगामी बनता हुआ केवल भावना की वस्तु है, सत्य की अन्तर्जगत में भावनामात्र का जा सकती है, उसका वाणी से अभिनय करना सर्वथा असम्भव है आत्मा[१] हृदय में निगूढ़ (प्रच्छन्न) है। उधर—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्-पश्यति, नान्तरात्मन्'।

(कठोपनिषत् १।४।१)।

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सभी इन्द्रियाँ पराङ्मुख हैं। अतएव कहना पड़ेगा कि, सत्य न कहने की वस्तु, न सुनने की, न स्वाद लेने की, न सूंघने की। फिर हम वाणी द्वारा कैसे सत्यभाषण का आग्रह रख सकते हैं। सत्य आग्रह करने की वस्तु नहीं, अपितु अन्तर्जगत् में भावना रखने की वस्तु है।

"सत्य हमारी प्रतिष्ठा है"—"हम सत्य पर खड़े हैं"—"हम सदा सत्य ही बोलते हैं" इन तीनों ही सत्याग्रहों से हम सर्वनाश को निमन्त्रित कर रहे हैं। कारण, तीनों ही आग्रह मूल-प्रतिष्ठा से विच्युत होते हुए हमारे नाश के कारण बन जाते हैं। अन्तर्य्यामी आत्मदेवता सत्यमूर्त्ति बतलाया गया है। साथ ही में गर्भीभूत होने से इसे परोक्ष कहा गया है। जिस तत्त्व का धर्म्म परोक्ष रहता है, उसे प्रत्यक्ष करने से उसका वह धर्म्म निर्वीर्य्य बन जाता है। यदि हम आत्मसत्य से सम्बन्ध रखने वाली सत्यभावनाओं का वाणी से अभिनय करते रहेंगे, तो कालान्तर में निश्चयेन परोक्ष आत्मा का परोक्ष सत्य-बल निर्वीर्य्य बन जायगा। आत्मा में शैथिल्य आ जायगा, कर्त्तव्य-शक्ति क्षीण हो जायगी। निर्वीर्य्य आत्मा इन्द्रियों की निर्बलता का कारण बनता हुआ हमें बाह्य-वैभव से भी वञ्चित कर देगा। सत्य का आचरण जहां वीर्य्यरक्षा का साधन है, वहां सत्य का वाणी द्वारा होने वाला अभिनय सत्यमर्य्यादा से च्युत होता हुआ असत्य है। इस असत्य-भाव से परिगृहीत ऐन्द्रियक विषय भी अप्रतिष्ठित हैं। इसी आधार पर महर्षियों ने कर्त्तव्य-कर्म्म की सफलता के सम्बन्ध में "मौनवृत्ति" को मुख्य स्थान दिया है। वक्तव्यांश यही है कि, सत्य का बखान सत्य को असत्यरूप में परिणत कर देता है। कारण, जब तक सत्य आत्मा का धन है, तभी तक वह सत्य सत्य है, एवं तभी तक उस सत्य में बल है। आत्मस्थान से हट कर वाणी पर आते ही वह अपना स्वरूप और बल दोनों खो बैठता है। यही सत्य-आग्रह में पहिला दोष है।

किसी भी वस्तु में अभिनिवेशपूर्वक प्रवृत्त होना ही 'आसक्ति' है। चाहे वह आसक्ति रागात्मिका हो, अथवा द्वेषात्मिका, दोनों ही तरह से आसक्ति बन्धन का कारण है, आत्मा के स्वाभाविक विकास को आवृत करनेवाली है, जैसा कि, पूर्व के 'योग-सङ्गति' नामक प्रकरण के उपसंहार में स्पष्ट कर दिया गया है। "हमें सत्य बड़ा प्रिय है, इसलिए हम तो सदा सत्य ही बोलेंगे" इस प्रकार यदि रागपूर्वक हम सत्य में प्रवृत्त होते हैं, तो यह आसक्ति-सत्य (सत्य का अभिनिवेश) आसक्ति दोष का जनक बनता हुआ बुद्धि को अविचाभाव से

---

१ "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥"
(१।३।१२)।
"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" (गीता ७।२५)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

युक्त कर देता है। गीतासिद्धान्त के अनुसार तो 'आसक्ति' दोष आत्मविकास का सबसे प्रबल शत्रु है। यही इस सत्य-आग्रह में दूसरा दोष है। सुनते हैं—इसी सत्याग्रह की कृपा से सत्यासक्त देवता एकबार असुरों से परास्त हो गए थे। और वह घटना यों घटित हुई थी।

"देवता और असुर दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे, अतः न्यायतः दोनों ही प्रजापति की सम्पत्ति के हकदार थे। फलतः दोनों प्रजापति के पास पहुँचे, और निवेदन किया कि, आपके पास जो कुछ सम्पत्ति है, उसे हम दोनों वर्गों में समरूप से बांट दीजिए। प्रजापति के पास अमृतलक्षण सत्य, मृत्युलक्षण अनृतनाम की दो सम्पत्तियाँ थीं। उन्होंने समतुलन की दृष्टि से आधा सत्य, तथा आधा अनृत तो देवताओं को दे दिया, एवं आधा सत्य, तथा आधा अनृत असुरों को सौंप दिया। दोनों अपना दायभाग लेकर लौट आए।

देवता स्वभावतः सत्यप्रिय थे; अतएव इन्हें दायभाग में जो आधा अनृत मिला था, उसे तो इन्होंने उपेक्षा करते हुए एक ओर रख दिया, एवं बचे हुए आधे सत्य को पूर्णसत्य बनाने की कामना से सत्य की खोज करने लगे। इधर असुर स्वभावतः अनृतप्रिय थे, अतएव इन्हें दायविभाग में जो आधा सत्य मिला था, उसे तो इन्होंने उपेक्षा करते हुए एक ओर रख दिया, एवं शेष आधे अनृत को पूर्ण अनृत बनाने की कामना से अनृत की खोज करने लगे। असुरों से उपेक्षित सत्य ने विचार किया कि, असुरों में जो मेरा (सत्य का) भाग था, देवतालोग अपने हिस्से के अनृतभाग को छोड़ कर उसे ढूढते फिर रहे हैं। इससे अच्छा तो यही है कि, मैं स्वयं ही देवताओं के पास पहुँच जाऊं। यह विचार कर असुरों द्वारा उपेक्षित आधा सत्य देवताओं की ओर आ गया। उधर देवताओं से उपेक्षित अनृत ने भी सोचा कि, देवताओं में जो मेरा (अनृत का) भाग था, असुरलोग अपने हिस्से के सत्यभाग को छोड़ कर उसे ही ढूढ रहे हैं, क्यों नहीं मैं स्वयं ही असुरों के पास पहुँच जाऊँ। यह संकल्प कर देवताओं द्वारा उपेक्षित आधा अनृत असुरों की ओर आ गया। फलतः देवता केवल सत्य के अनुगामी बन गए, असुर केवल अनृत के अनुगामी रह गए।

परिणाम इस सत्यासक्ति का यह हुआ कि, व्यवहार-जगत की दृष्टि से सत्यासक्त देवता सारा लोक वैभव खो बैठे, एवं अनृतासक्त असुर सुसमृद्ध बन गए। देवता लोग सत्य के अनुग्रह से अन्त में मुक्त हो गए एवं असुरवर्ग अन्त में अधोलोकों के अधिकारी बने"। (शतपथ ब्रा० ६।५।१)

उक्त वैज्ञानिक आख्यान से श्रुति बतलाना यह चाहती है कि, पारमार्थिक कर्म्म में भले ही विशुद्ध सत्यासक्ति का कुछ उपयोग हो, परन्तु व्यावहारिक कर्म्मयोग के सम्बन्ध में विशुद्ध सत्य भी अनुपयुक्त है, एवं विशुद्ध अनृत भी अनुपादेय है। विशुद्ध सत्य आत्मा है। इसकी आसक्ति से लोकवैभव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उधर विशुद्ध अनृत विश्व है, एवं इसकी आसक्ति से आत्मशान्ति का एकान्ततः उच्छेद हो जाता है। हमें आत्मशान्ति पूर्वक लोकवैभव प्राप्त करना है। आत्मस्वरूप को सुरक्षित रखते हुए साम्राज्य सुख का उपभोग करना है। यह तभी सम्भव है, जब कि हम प्रजापति द्वारा प्रदत्त 'सत्य-अनृत' दोनों दायभागों का समादर करते हुए दोनों के समन्वितरूप से व्यावहारिक कर्म्मों का अनुगमन करें दूसरे शब्दों में सत्य का अनृतगर्भित बनाकर ही उसका अनुष्ठान करें। सत्य-असत्य के समन्वय से सम्पन्न, उभयलक्षण, उभयधर्म्मावच्छिन्न बुद्धियोग ही उक्त अभ्युदय निःश्रेयसभाव प्राप्ति में मुख्य साधन है, जैसा कि पूर्व के 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

सत्य वही उपयोगी होगा, जिसमें आसक्ति तो रहेगी नहीं, एवं जिसके गर्भ में अनृत अवश्य रहेगा। मुक्ति से सम्बन्ध रखने वाले परलोक (आत्मलोक) की बात छोड़ दीजिए। मुक्ति से सम्बन्ध रखने वाले इहलोक में तो अनृतगर्भित-सत्य ही हमारा उपकारक बनता है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, विशुद्ध सत्य से सम्बन्ध रखने वाली विशुद्ध धर्म्मनीति का ही अनुगमन करने से अनृत सम्बन्धी विश्ववैभव कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता। व्यवहारकाण्ड में अनृतमूला राजनीति को धर्म्मनीति के गर्भ में प्रतिष्ठित रखना पड़ेगा। "जैसे के साथ तैसा" को अपना आराध्य मन्त्र बनाना पड़ेगा, एवं प्रत्येक परिस्थिति में भगवान के—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता० ४।११) इस आदर्श को सामने रखकर ही कर्त्तव्य-पथ का आश्रय लेना पड़ेगा, जिसे कि भुलाकर कल्पित सत्य के आग्रह में पड़कर हम अपने बचे-खुचे लोकवैभव का भी सत्यानाश कर रहे हैं।

लोकवैभव-रक्षापूर्वक धर्म्मरक्षा करने वाले स्वयं अवतार पुरुषों ने भी सत्य के अनृतगर्भत्व का ही समर्थन किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। धर्म्मत्राता भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध में स्वयं किसी प्रकार के शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी। परन्तु भीष्म द्वारा पाण्डव-सेना का सर्वनाश होता देख कर भगवान् को धर्म्मनीति के साथ राजनीति का सम्पुट लगाना पड़ा, परिणामस्वरूप सामयिक विशेषधर्म्म उस प्रतिज्ञा-लक्षण-सामान्यधर्म्म का बाधक बन गया, सुदर्शनचक्र हाथों में आ ही गया। कर्णार्जुन-युद्धप्रसङ्ग में निःशस्त्र कर्ण पर प्रहार करने के लिए भगवान् की ओर से जिस समय अर्जुन को प्रोत्साहन मिला, उस समय कर्ण ने धर्म्म की दुहाई दी, परन्तु भगवान् ने अपनी 'ये यथा मां' नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कर्ण को निरुत्तर कर दिया। 'कटि प्रदेश से नीचा गदा प्रहार करना धर्म्मयुद्ध में वर्जित है' यह जानते हुए भी भगवान् ने भीम-दुर्योधन के पारस्परिक गदायुद्ध-प्रसङ्ग पर दुर्योधन के जङ्घा प्रदेश पर गदा प्रहार करने के लिए भीम को गुप्त रूप से संकेत किया। हलधर के अप्रसन्न होने पर उसी सत्य-महत्त्व को आगे रखकर उन्हें शान्त कर दिया। इन कुछ एक परिस्थितियों के आधार पर क्या हमें इस निश्चय पर नहीं पहुँचना चाहिए कि, सत्य (धर्म्म) वही उपयोगी है, जिसके गर्भ में अनृत (राजनीति) प्रतिष्ठित रहता है। धर्म्मनीति का आश्रय लेकर ही राजनीति का अनुगमन करना चाहिए, एवं राजनीति को गर्भ में रखकर ही हमें धर्म्मनीति से लोकसंग्रह की रक्षा करनी चाहिए। सत्य सदा परोक्ष रहे, वह आत्मा की वस्तु बना रहे, यही अभ्युदय का अन्यतम साधन है। इसी आधार पर श्रुति का—'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

यह तो हुई सत्यशब्द की बाह्य व्याख्या। अब स्वयं सत्य शब्द से पूछ देखिए, वह अपना क्या अर्थ रखता है? क्योंकि भारतीय साहित्य में ऐसे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो स्वयं ही अपना तात्त्विक अर्थ प्रकट कर रहे हैं। सत्य शब्द के इसी तात्त्विक अर्थ का स्पष्टीकरण करती हुई वाजसनेय-श्रुति कहती है—

'आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमित्युपासते। तदेतत् त्र्यक्षरं 'सत्य'मिति। 'स'-इत्येकमक्षरं, 'ती'-त्येकमक्षरं, 'यम्'-इत्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमेऽक्षरे सत्यं, मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति, नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति' —शतपथ ब्रा० १४।८।५।

सप्तपुरुषपुरुषात्मक, सप्तप्राणात्मक, प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति ने अपने ब्रह्मनिःश्वसित नाम के अपौरुषेय त्रयी-वेद के यजुर्म्मय वाक् भाग से जो अप्-तत्त्व उत्पन्न किया था, हमारे इस सौर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पहिले उसी आपोमय समुद्र का साम्राज्य था। इसी परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर 'आप एवेदमग्र आसुः' कहा गया है। आपोमय समुद्रगर्भ में प्रविष्ट प्रजापति ने कामना की कि, मैं इस अप्तत्व से सत्य उत्पन्न करूं। फलतः प्रजापति की इस कामना के द्वारा पानी बना, उसी पानी ने सत्य (अङ्गिरातत्त्व) उत्पन्न कर दिया। आपोमय समुद्र में ऋतुरूप से इतस्ततः अव्यवस्थित घूमने वाले उत्तप्त अङ्गिरा-कण शनैः शनैः केन्द्र में सञ्चित होने लगे। कालान्तर में पुञ्जीभूत बनकर यह अङ्गिराकण-समूह सहस्र-शरीरी बनता हुआ सत्यभाव में परिणत हो गया, जो कि सत्य-पिण्ड— तद्यत् तत् सत्यं, असौ स आदित्यः' (शत १४।८।५) के अनुसार सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इस सत्य सूर्य्य ने 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध ब्रह्म (वेदत्रयी) उत्पन्न किया, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्व के योग-सङ्गति-प्रकरण में कराया जा चुका है। ब्रह्म-लक्षण त्रयीवेद के प्रसार से प्राजापत्यसंस्था का उदय हुआ, जो कि प्राजापत्यसंस्था "सौर सम्वत्सर" नाम से प्रसिद्ध है। सौर सम्वत्सर ही रोदसी-त्रैलोक्य की देव-भूतप्रजा का उत्पादक बनता है, अतः इसे 'प्रजापति' कहना अन्वर्थ बन जाता है। इस सम्वत्सर प्रजापति के गर्भ में इसी प्राजापत्य साम्वत्सरिक प्राणाग्नि से ३३ सौर प्राणदेवताओं का आविर्भाव हुआ, जिनके कि सम्बन्ध से सत्य सूर्य्य देवताओं का अनीक कहलाता है। सम्वत्सर प्रजापति से उत्पन्न ये सौर प्राणदेवता सत्य (सत्यात्मक सूर्य्य) की ही उपासना किया करते हैं। अर्थात् सत्यसूर्य्य ही इनकी प्रतिष्ठाभूमि है।

जिस सत्य ने ब्रह्म (वेद) उत्पन्न किया है, जो सत्य देवताओं की प्रतिष्ठाभूमि है, वह त्र्यक्षर[1] (तीन अक्षरों

[1] यद्यपि 'त्र्यक्षरम्' [illegible] सिद्धान्त के अनुसार 'सत्यम्' शब्द में 'सत्-यम्' ये दो ही अक्षर हैं, ऐसी परिस्थिति में 'सत्यम्' को त्र्यक्षर न कह कर द्व्यक्षर कहना चाहिए था। परन्तु सत्य कभी विशुद्ध नहीं रहता। उसके गर्भ में एक अनृत अक्षर और रहता है, जो कि 'सत्यम्' इस शब्द में प्रत्यक्षरूप से न रहता हुआ भी 'इ' कार रूप से प्रतीति का विषय अवश्य बनता है। 'सत्य' शब्द के उच्चारण में एक अस्पष्ट इकार की ध्वनि निकलती है। अनृत [illegible] चारों ओर से परिगृहीत रहता है, अतएव वह स्पष्ट नहीं है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए [illegible] सत्य के वाचक 'सत्य' शब्द में अनृत [illegible] के वाचक [illegible] का प्रत्यक्षरूप से समावेश नहीं किया गया। परन्तु अक्षरगणना में उसकी भी गणना होगी, और इस दृष्टि से 'सत्यम्' शब्द त्र्यक्षर ही माना जायगा, जैसा कि स्वयं श्रुति ने ही स्पष्ट कर दिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की समष्टिरूप) माना गया है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है, एवं 'अम्' यह एक अक्षर है। इकार को यणादेश होने से 'स-ति-अम्'—'स-त् य् अम्' रूप में परिणत होता हुआ 'सत्यम्' रूप में परिणत हो रहा है, यही 'सत्यम्' का त्र्यक्षरभाव है। स-ति-अम् इन तीन अक्षरों में आदि का सकार, एवं अन्त का अम्-कार ये प्रथम-उपोत्तम दो अक्षर तो सत्य हैं, एवं मध्य का (अस्पष्टरूप से केवल उच्चारण में उपश्रुत) इकार अनृत है। दोनों ओर से सत्य से परिगृहीत होने से मध्य का अनृतभाव भी (अनृत विश्व भी) सत्यरूप में ही परिणत हो रहा है। जो मनुष्य सत्य के इस तात्त्विक स्वरूप को जानकर अपने अनृतभाव को चारों ओर से सत्य से वेष्टित करके प्रकट करता है, अनृतभाव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता"।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण ने आरम्भ में 'सत्य' का 'सत्यम्' रूप मानते हुए उसकी व्याख्या में—'स-ति-अम्' रूप से सत्य का अनृतगर्भत्व सिद्ध किया। इधर तैत्तिरीय ने तो इस रहस्य को और भी अधिक स्पष्ट भाषा में निरूपण किया है। वहां 'सत्यम्' न बुल कर 'सतियम्' ही बुलता है। जिस प्रकार तैत्तिरीय सम्प्रदाय में 'स्वर्ग' शब्द का उच्चारण 'सुवर्ग' रूप से होता है, एवमेव 'सत्यं' का उच्चारण 'सतियम्' रूप से हुआ है। वस्तुतः शब्द है—'सत यम्'—(सत्यम्)। परन्तु ब्राह्मणश्रुति इस को 'सतियम्' रूप से उद्धृत करती हुई यह बतलाना चाहती है कि, 'सत्य' शब्द में 'इकार' नहीं है, परन्तु सुना जाता है एवं यह इकार अनृतविश्व का सूचक है। विश्व असद्रूप होने से अनृत है, यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। अपितु सत्तालक्षण सत्यात्मा के गर्भ में प्रविष्ट होने से ही यह सद्रूप बन रहा है। सत्यात्मा-'सत्-यम् रूप' से अवारपारीण है, व्यापक है। इस के गर्भ में सत्-इ-यम्-रूप से इकारात्मना वह प्रतिष्ठित हो रहा है। यही विश्वोपाधिक, व्यावहारिक, सत्यं का सतियंपना है।

सत्य तत्व की उक्त मौलिक व्याख्या का तात्पर्य्य यही है कि, विश्वलक्षण व्यवहारकाण्ड में विशुद्ध सत्य का प्रयोग न कर अनृतगर्भित सत्य का ही प्रयोग करना चाहिये। दूसरे शब्दों में विश्वमूला राजनीति को आगे करके ही धर्म्मनीति का प्रसार करना चाहिए। क्योंकि विश्वसीमा के भीतर विशुद्ध सत्य की उपलब्धि सर्वथा असम्भव है। अपनी व्यावहारिक दृष्टि की अपेक्षा से इसी नीति आदेश का हम यों समन्वय कर सकते हैं कि, यदि हमारे अनृतव्यवहार से सत्य तत्व की रक्षा सम्भव हो, तो उस समय हमें निःसंकोच अनृतभाव का आश्रय ले लेना चाहिए। इसी आधार पर स्मृति का—'वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अनृतभाव वह बुरा है, जिस से अनृतभाव का ही समर्थन होता हो। विश्व-वैभव वह त्याज्य है, जो सत्य आत्मा को बन्धन में डालता हो। अवश्य ही आर्षधर्म्म उस अनृत-विश्ववैभव का समादर करेगा, जो सत्य आत्मा का पोषक होगा। इसीलिए तो भारतीय आर्षधर्म्म ने सत्य आत्मा को आधार बना कर ही विश्ववैभव का संग्रह करना उचित माना है। सत्य आत्मा के आश्रय से विश्ववैभव की अनृतता भी सत्यरूप में परिणत हो जाती है। फलतः अनृतविश्वजनित आसक्ति-लक्षण बन्धन तो होता नहीं, एवं तज्जनित वैभव से हम वञ्चित रहते नहीं। एकमात्र इसी आधार पर हमने विशुद्ध आत्ममूला, विशुद्ध सत्यासक्ति को दोषावह माना है।

अब प्रश्न हमारे सामने 'अनृत' शब्द का उपस्थित होता है। सर्वसाधारण ने जैसे सत्यशब्द की परिभाषा 'सत्यभाषण' बना रक्खा है, एवमेव 'अनृत' शब्द का अर्थ 'मिथ्या' समझ रक्खा है, एवं इसी आधार पर उन की दृष्टि में अनृतविश्व अभावलक्षण एक मिथ्याभाव है। इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ वक्तव्य था, पूर्व के ब्रह्म-कर्म्म परीक्षा प्रकरण में विस्तार से कह दिया गया है। अतः यहां पिष्टपेषण अनपेक्षित है। प्रकरण-सङ्गति की दृष्टि से यहां केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, ईश्वरप्रजापति के 'सत्-असत्' लक्षण, सुप्रसिद्ध 'अमृत-मृत्यु' नामक दो पर्व ही क्रमशः 'सत्य-अनृत' नामों से व्यवहृत हुए हैं। सत्य सत्-अमृत है, अनृत असत् मृत्यु है। वस्तुतः शब्द है-'ऋत'। परन्तु आगे बतलाए जाने वाले किसी विशेष कारण से 'ऋत' शब्द को उसी प्रकार 'अनृत' शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसे कि, सत् अमृत को उसी कारण की दृष्टि से असत्' कह कर व्याख्या में—'सदेवेदमग्र सोम्य असदासीत्' यह कहा गया है। आत्मा अमृतलक्षण (अमृत प्रधान) है, विश्व मृत्युलक्षण (मृत्यु प्रधान) है। आत्मा सत् है, विश्व असत् है। आत्मा सत्य है, विश्व 'ऋत' है, और ऋत विश्व ही 'सामान्ये सामान्याभावः' के अनुसार 'अनृत' कहलाया है, जो कि ऋतरूप अनृतभाव एक वस्तुतत्त्व है, न कि अभावरूप मिथ्याभाव। हां तो अब यह कहने में कोई संकोच नहीं किया जा सकता कि, न तो सत्यभाषण का अर्थ सत्य ही है, न विशुद्ध सत्य वाणी का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum, LUCKNOW.

विषय ही बन सकता। जो महानुभाव इसे वाणी का विषय बनाते हैं, वे आत्मा को निर्बल बनाते हैं, यही आसक्तिसत्य में पहिला दोष है। स्वयं आसक्त दूसरा दोष है। एवं सत्य-वाणी का विषय बन नहीं सकता, परन्तु बनाया जाता है, यही 'मिथ्याभाषण' रूप तीसरा दोष है। सत्य का डिण्डिमघोष ही सत्य नाश का कारण है। डिण्डिमघोष शब्दात्मक बनता हुआ अनृत-विश्व का अनृतपदार्थ बन जाता है। फलतः वह सत्य सत्य न रह कर आसमन्तात् स्वस्वरूप से च्युत होता हुआ क्षणिक अनृत-विश्व के अनृतभाव में परिणत होता हुआ अप्रतिष्ठित बन जाता है। सत्य की इसी स्वरूपहानि के लिए लोकभाषा में 'सत्यानाश' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'सत्य—आ-नाश' की समष्टि ही 'सत्यानाश' है। मध्यस्थ आकार 'आसमन्तात्' भाव का सूचक है। इस आसमन्तात् होने वाले सत्य-नाश से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम अपने सत्य कामों को अनृत के ढक्कन से ढक कर, उसे परोक्ष बना कर, विशुद्ध सत्य को अनृतलक्षण मृत्युभाव से युक्त करके ही व्यवहार मार्ग का सञ्चालन करें। तभी हमारा अभ्युदय सम्भव है। इसी अनृता-पिधानत्व का दिग्दर्शन कराती हुई छान्दोग्य श्रुति कहती है—

> तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम 'सत्य' मिति।
> तानि वा एतानि त्रीण्यक्षराणि—'सतिय' मिति।
> तद्यत्—'सत्'—तदमृतम्। अत्र यत्—'ति'—तन्मर्त्यम्।
> अथ यत्—'यं'—तेनोभे यच्छति। यदेनेनाभे यच्छति,
> तस्मात्—यं—अहरहर्वा एवं वित् स्वर्गं लोकमेति'।
>
> —छान्दोग्य उप० ८।३।५।

श्रुति का तात्पर्य यही है कि, जो व्यक्ति सत्य-अनृत लक्षण आत्मा, एवं अनृत मृत्युलक्षण विश्व, दोनों का एक सूत्र में समन्वय कर लोकयात्रा का निर्वाह करता है, वह दिन दिन समृद्ध बनता जाता है। जीवितदशा में भी वह स्वर्गसदृश अभ्युदय का अधिकारी बन जाता है। कोई भी सांसारिक आपत्ति उस पर आक्रमण नहीं कर सकती।

अब एक दूसरी दृष्टि से 'सत्या-नृत' की परिभाषा का विचार कीजिए। अनृतरूप विश्व को तो पूर्व में 'ऋत' कहा गया है, एवं विश्वाधिष्ठाता आत्मा को 'सत्य' बतलाया गया है। विज्ञान दृष्टि से सत्य का 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' यह लक्षण है, एवं ऋत का 'अहृदयं, अशरीरं ऋतम्' यह लक्षण है। हृदय (केन्द्र) युक्त सशरीरीभाव ही 'सत्य' है, एवं हृदयशून्य, शरीरविरहितभाव ही 'ऋत' है। और ये 'सत्य-ऋत' नाम के दो ही तत्त्व सृष्टिप्रपञ्च के मूलकारण हैं, जैसा कि—'ऋतं च सत्यं चाभीधात्त-पसोऽध्यजायत' (ऋक् सं० १०।१९०।१) इत्यादि मन्त्र वर्णन से सिद्ध है। सत्यतत्त्व सत्तारूप होता हुआ 'सत्' है, ऋततत्त्व स्वप्रतिष्ठा के लिए सत्यात्मक सत्ताभाव की अपेक्षा रखता हुआ 'असत्' है। असल्लक्षण ऋत में सल्लक्षण सत् के समन्वय होने से, ऋत-सत्यात्मक समन्वितरूप से ही ऋतसत्यमूर्ति विश्वप्रपञ्च का विकास हुआ है। सत्य तथा ऋत, इन दोनों में विश्व की दृष्टि से यद्यपि सत्य ही सब की प्रतिष्ठा माना गया है, और इसी आधार पर अथर्वश्रुति का—'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित भी है। तथापि मौलिक-तात्विक दृष्टि से विचार करने पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, सापेक्ष, तथा सहृदय-शरीरी सत्य का विकास अहृदय-अशरीरी ऋत से ही हुआ है। दूसरे शब्दों में ऋत (श्लथपरमाणुओं) से ही सत्य (पिण्ड) का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सूर्य्य, पृथिवी, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि जितने भी पिण्ड हैं, सब सहृदय-सशरीरी बनते हुए सत्यात्मक हैं, सत्यमूर्ति हैं। इन यच्चयावत् पिण्डों की स्वरूप—निष्पत्ति ऋत द्रव्य से ही हुई है, जैसा कि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। स्वायम्भुव यजुर्वाक्भाव से उत्पन्न, व्याप्ति-जनन-धृति-धर्म्मों से युक्त 'अप्तत्व' ही ऋत का मुख्य रूप माना गया है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' (कौषीतकि ब्रा० १८।२) के अनुसार द्युलोक नामक तीसरे लोक से उपलक्षित सूर्यसंस्था के चारों ओर अप् लक्षण इसी ऋततत्त्व का साम्राज्य है। चूंकि यह ऋतलक्षण अप्-तत्त्व सूर्य्य से भी पर (बाहिर के) स्थान में अपना मुख्य निवास बनाता है, अतएव—'सूर्य्यादपि परमस्थाने-पारस्थाने वा तिष्ठन्ति' इस निर्वचन से इस ऋतअप्-तत्त्व को 'परमेष्ठी' कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> "ताभ्यामिष्ट्वा अकामयत—'अहमेवेदं सर्वं स्याम्' इति। स आपोऽभवत्। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति, परमाद्वाऽएतत्स्थानात् वर्षति यद्दिवः, तस्मात्-'परमेष्ठी' नाम"।
>
> —शतपथ ब्रा० ११।१।६।१६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उक्त श्रुति के—'अहमेवेदं सर्वं स्याम्'—'आपो वा इदं सर्वम्' इन वाक्यों से स्पष्ट ही यह सिद्ध होरहा है कि, ऋत अप् तत्त्व ही त्रैलोक्य का स्वरूप सम्पादक बनता हुआ त्रैलोक्य सत्य का निष्पादक है। आपोमय ऋत-परमेष्ठी की इसी सर्वव्याप्ति का और भी स्पष्ट शब्दों में निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

ऋतमेव परमेष्ठी, ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता॥

इस ऋत-अप्-तत्त्व के 'तेजः-स्नेह' नामक दो विवर्त्त माने गए हैं। तेजोमयी आप 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं स्नेहमयी आप 'भृगु' नाम से व्यवहृत हुई हैं। सावित्राग्निमयी सौर रश्मियों के आकर्षण से आकर्षित होकर बाष्परूप में परिणत होता हुआ जो पानी अन्तरिक्ष की ओर जा रहा है, वही अङ्गिरारूप तेजोमय पानी है। एवं अन्तरिक्ष लोक में रहनेवाले जलवर्षक, पर्जन्य वायु के आघात से आहत होकर मेघखण्डों से द्रुत हो कर जो पानी वर्षारूप से पृथिवी की ओर आ रहा है, वही भृगुरूप स्नेहमय पानी है। लोग समझते हैं, वृष्टि पृथिवी पर ही होती है। परन्तु वेद कहता है, वर्षणकर्म्म पृथिवीवत् द्युलोक में भी हो रहा है। दोनों पानियों में अन्तर यही है कि, यहां से (पृथिवी से) चल कर द्युलोक में बरसने वाला पानी आङ्गिरस है, आग्नेय है। एवं वहां से (द्युलोक से) चल कर पृथिवी लोक में बरसने वाला पानी भार्गव है, सौम्य है[1]।

भृगु तथा अङ्गिरामय अप् तत्त्व ही स्वयम्भू ब्रह्म का वेद स्थानीय 'सुवेद-वेद' है, जो कि सुवेद 'अथर्ववेद' नाम से प्रसिद्ध है (देखिए—गोपथ ब्रा० १।१।१) अथर्ववेद रूप भृग्वङ्गिरामय इस ऋत परमेष्ठी के गर्भ में सत्यसूर्यात्मक गायत्रीमात्रिक त्रयी वेद नित्य प्रतिष्ठित रहता है। 'सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' तै० ब्रा० ३।१२।९।१) के अनुसार ऋतमूर्त्ति इसी आपोमय अथर्वब्रह्म से सौरसत्यसंस्था का जन्म हुआ है, इसी के आधार पर यह प्रतिष्ठित है, एवं प्रतिसंचरकाल में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में सौरब्रह्माण्ड विलीन हो जायगा। भृग्वङ्गिरोमय इसी अप्तत्त्व के सत्यगर्भत्व का स्पष्ट कारण करते हुए ऋषि कहते हैं—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३९

तेजोमय अङ्गिरा, तथा स्नेहमय भृगु, दोनों की (प्रत्येक की) आगे जाकर घन-तरल-विरल भेद से तीन तीन अवस्था हो जाती हैं। घन अङ्गिरा 'अग्नि' है, तरल अङ्गिरा 'यम' (रुद्रवायु आग्नेय सन्तप्त वायु) है, एवं विरल अङ्गिरा 'आदित्य' है। घन भृगु—'आपः' है, तरल भृगु 'वायु' (शिववायु, सौम्य शान्त वायु) है, एवं विरल भृगु 'सोम' है। 'अग्निः-यमः-आदित्यः' की समष्टि अङ्गिरात्रयी है, एवं 'आपः-वायुः-सोमः' की समष्टि भृगुत्रयी' है। इन दोनों में अङ्गिरात्रयी ही उस गर्भभूत सत्यवेद को आगे कर सत्यरूप में परिणत होती है, एवं अङ्गिरात्रयी से निर्म्मित सत्यभावों को भृगुत्रयी ही चारों ओर से वेष्टन करती है। इस प्रकार भृग्वङ्गिरोमय वही ऋततत्त्व अपने एकभाग से (अङ्गिराभाग से) तो सत्य बन जाता है, एवं एक भाग से (भृगुभाग से) सत्य के चारों ओर ऋतरूप से व्याप्त होकर सत्यपिण्डों का स्वरूप रक्षक बन जाता है। तभी तो—'ऋतं नात्येति किञ्चन' कहना अन्वर्थ बनता है। हृदयभावावच्छिन्न, सशरीरी जितने भी पिण्ड हैं, वे सब अङ्गिरामूर्त्ति हैं, अतएव उन सबको हम 'सत्य' कहने के लिए तैयार हैं। यह सत्यतत्त्व हृदयभाव के कारण सदा 'ऋजु' रहता है। उदाहरण के लिए सत्य-सूर्य्य को ही लीजिए। सूर्य्यपिण्ड शरीरभाव है, एवं सूर्य्यशरीर (सूर्य्यपिण्ड) का एक नियत केन्द्र है। अतएव 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' इस उक्त लक्षण के अनुसार सूर्य्य सत्यमूर्त्ति माना गया है, जैसा कि—'तद्यत् तत् सत्यं, असौ स आदित्यः' (शत० १४।८।३) इत्यादि रूप से पूर्व की सत्यसृष्टि में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी सत्यभाव के कारण सौर सत्यरश्मियां सर्वथा ऋजु मार्ग का आश्रय लेकर ही चारों ओर वितत हैं। यदि सौररश्मि के आगे आप एक तिनका भी रख देंगे, तो रश्मि अपने ऋजु भाव के कारण इतस्ततः न जाकर ठीक उसी मार्ग से वापस लौट जायगी, जिस मार्ग से कि वह आई थी। यही ऋजुता सत्यभाव के प्रत्यक्षदर्शन हैं।

---

[1] समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥
—ऋक् सं० १।१६४।५१

[1] "वायु-राप-श्चन्द्रमा (सोमः) इत्येते भृगवः"।
—गोपथ ब्रा० पू० २।८।९।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ठीक इसके विपरीत ऋततत्त्व का कोई व्यवस्थित मार्ग नहीं है। अप् (पानी)-वायु सोम तीनों को ऋत कहा गया है। पानी बहकर आ रहा है। आप उसके आगे अपना हाथ लगा दीजिए। रश्मि की तरह पानी आपके हाथ से टकरावेगा तो अवश्य, परन्तु जैसे भित्ति से टकरा कर रश्मि वापिस लौट जाती है, वैसे पानी हाथ से टकरा कर वापस न लौटेगा, अपितु पार्श्व-भागों से इधर उधर निकल जायगा। कारण यही है कि, सत्य जहाँ हृदयबन्धन के कारण नियतमार्गानुगामी है, वहाँ ऋतभाव हृदयशून्य बनता हुआ अनियतमार्गावलम्बी बना रहता है, और सत्य-ऋतभावों की यही वैज्ञानिक व्याख्या है।

उक्त सत्य-ऋतभावों का वागिन्द्रिय के साथ समन्वय देखिए। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा सत्य है। यदि आत्मा के ये तीनों पर्व समानपथ के अनुगामी हैं, तो सत्यभाव है। 'जैसी भावना (मानस व्यापार), वैसा ही कर्म (प्राणव्यापार), एवं वैसी ही वाणी (वाग्व्यापार)" यही सत्यभाव है। ऐसी वाणी हृदयानुगता बनती हुई सत्य है। यदि भावना अन्य, कर्म विपरीत, कथन कुछ और ही, तो ऋतभाव है। यही ऋतभाषण, अनृतभाषण है। हृदया-वच्छिन्न, सत्यात्म-मर्य्यादा से च्युत यह ऋतवाणी, अत-एव अनृतवाणी अनर्गल असम्बद्ध ,अव्यवस्थित है। यहाँ ऋतभाव सत्यभाव से पृथक् रहता हुआ अनृत बन रहा है। यदि इस ऋत को (अनृत को) सत्य से युक्त कर दिया जाता है, तो यह सत्य बन जाता है। आत्मसत्य अग्नि है, ऋतवाणी सोम है। ऋतसोममयी वाणी यदि सत्याग्नि (आत्मा) से युक्त है, तो जिस प्रकार सोमाहुति से यज्ञाग्नि उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रज्वलित रहता है, एव-मेव आत्मसत्य उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। सत्यानुगता ऋतवाक् भी सत्या है, एवं ऐसी वाक् आत्म-विकास का मुख्य हेतु है। ठीक इसके विपरीत सत्य-वञ्चिता ऋतावाक् अनृता बनती हुई आत्मपतन का कारण बन जाती है। वाक् के इन्हीं सत्य-अनृतभावों का स्पष्टी-करण करते हुए श्रुति ने कहा है—

'स यः सत्यं वदति-यथाग्निं समिद्धं घृतेना-भिषिञ्चेत्, एवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं वदति यथाग्निं समिद्धमुदकेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैन स जासयति, तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान् भवति, तस्मादु सत्यमेव वदेत्'।

—शतपथ ब्रा० २।२।२।१९

सत्य-अनृत प्रकरण के उपक्रम में यह कहा गया था कि, "सत्य चूंकि अन्तर्यामी आत्मा का धर्म्म है, एवं यह परोक्ष है, अतएव सत्य केवल भावना की वस्तु है बोलने की नहीं। इसके अतिरिक्त अनृतसंहित मनुष्य सत्य बोल भी नहीं सकता। अतएव सत्य का आग्रह सर्वथा कल्पित. तथा अनिष्टकर है।" परन्तु देखते हैं कि, उक्त शतपथी श्रुति 'तस्मादु सत्यमेव वदेत्' कहती हुई, पूर्वसिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध जाती हुई सत्यभाषण का दृढ़तम आदेश दे रही है। न केवल इसी श्रुति ने, अपितु अन्यत्र भी पदेपदे श्रुतियों द्वारा हमें सत्यभाषण का ही आदेश मिल रहा है, जैसा कि निम्नलिखित कुछ एक वचनों से स्पष्ट है—

१—'एवं ह वाऽअस्य जितमनपजय्यं, एवं यशो भवति, य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति'।

—शत० ब्रा० ३।४।२।८

२—'तस्मै हैतां शोकतरां व्याहृतिमुवाच यत् सत्यम्। तस्मादु सत्यमेव वदेत्'।

—शत० ब्रा० ११।५।३।११

३—'समूलो वा एष परिशुष्यति, योऽनृतम-भिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्'।

—प्रश्नोपनिषत् ६।१

४—'एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति, यत् सत्यम्। तस्मादु सत्यमेव वदेत्।'

शत० ब्रा० १४।१।१।३३

५—'तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म।'

—शत० ब्रा० २।१।४।१०

इसके अतिरिक्त सत्यभाषण शिष्ट-व्यवहार में कैसा सम्मान्य है, यह भी स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं। स्मृतिशास्त्र ने भी सामान्य धर्मों की गणना में सत्यभाषण का प्रमुख स्थान दिया है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर प्रभृति आप्तपुरुष इसी सत्य के अनुग्रह से अमरकीर्ति बने हुए हैं। इन सब श्रौत स्मार्त ऐतिह्य प्रमाणों के विद्यमान रहते हुए सत्य भाषण का विरोध करना, 'मनुष्य सत्य बोल नहीं सकता' यह सिद्धान्त स्थापित करना, सत्य-आग्रह को दोषावह बतला देना कैसे न्याय सङ्गत माना जा सकता है?

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। परन्तु जो श्रुति एक स्थान पर सत्यभाषण का आदेश दे रही है, उसी ने अन्यत्र सत्या-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सक्ति को लोकवैभव-नाश का भी कारण बतलाया है, जैसा कि पूर्व के 'सत्यानृतदायविभागाख्यान' से स्पष्ट किया जा चुका है। मनुष्य अनृतसंहित है, यह तो सिद्ध विषय है, और इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि, अनृतसंहित मनुष्य कभी सत्य बोल नहीं सकता। स्वयं श्रुति ने भी इस परिस्थिति की पर्य्याप्तमीमांसा की है।

यज्ञकर्म्म में प्रविष्ट होने वाले यजमान को यज्ञाधिकार प्राप्ति के लिए सब से पहिले 'दीक्षाकर्म्म' करना पड़ता है। जब यजमान 'दीक्षणीयेष्टि' कर्म्म के द्वारा यज्ञ में दीक्षित हो जाता है, तो इस दीक्षा-कर्म्म से उत्पन्न होने वाले अतिशय को (यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त) सुरक्षित रखने के लिए इसे सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य्य, पयोव्रत, अधःशयन, आदि कतिपय विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है। दीक्षातिशय-रक्षक इस नियम संघ-परिपालन कर्म्म को ही "व्रतकर्म्म" कहा गया है। इन व्रतकर्म्मों में सत्यभाषण कर्म्म सब से उत्कृष्ट व्रत माना गया है। इसी लिए दीक्षित यजमान का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित करती हुई श्रुति कहती है—

'ऋतं वाव दीक्षा, सत्यं दीक्षा। तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।'

—ऐतरेय ब्रा० १।६

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति—सत्यं चैव, अनृतञ्च। सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि' इति-तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति-यत् सत्यम्। तस्मात्ते यशः। यशो ह वै भवति, य एवं विद्वान्सत्यं वदति।'

—शतपथ ब्रा० १।१।४-५

'ऋत ही दीक्षा है, सत्य ही दीक्षा है। इसलिए दीक्षित को सत्य बोलना चाहिए। इस विश्व में सत्य, तथा अनृत (ऋत) ये दो ही तत्त्व हैं, तीसरा तत्त्व नहीं हैं। देवता सत्यानुगामी हैं, मनुष्य अनृतानुगामी हैं। "मैं अनृतभाव से सत्यभाव प्राप्त कर रहा हूँ" इस कथन का तात्पर्य यही है कि यज्ञकर्त्ता यजमान अनृतसंहित मनुष्यों के सम्प्रदाय से निकल कर आज सत्यसंहित देवताओं के सम्प्रदाय में प्रवेश कर रहा है। इसलिए यजमान को चाहिए कि वह (यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त) सत्यभाषण ही करे। सत्यसंहित देवता एकमात्र इसी व्रत (नियम) का पालन करते हैं, जोकि सत्य है। इसी सत्य के प्रभाव से वे यशस्वी बन रहे हैं। वह यजमान भी (देवताओं की ही तरह) यशस्वी बन जाता है, जो कि यजमान इस व्रत रहस्य को जानता हुआ सत्यभाषण करता है।''

श्रुति ने दीक्षित यजमान को सत्यभाषण का आदेश तो दे डाला। परन्तु इसके सामने मनुष्य का स्वाभाविक अनृतभाव जिस समय उपस्थित हुआ, तत्काल स्वयं अपनी ओर से उसने यह भी विप्रतिपत्ति कर डाली कि—

'अथो खल्वाहुः—कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यम् वदितुम्। (यतो हि-) सत्यसंहिता वै देवाः अनृत संहिता मनुष्याः'।

—ऐतरेय ब्रा० १।६।

बड़ी जटिल समस्या उपस्थित हो गई। मनुष्य अपने स्वाभाविक अनृतभाव के कारण सत्य बोल नहीं सकता, एक ओर श्रुति का यह सिद्धान्त। दूसरी ओर श्रुति के द्वारा इसे सत्य भाषण का आदेश। कैसे दोनों विरुद्धभावों का समन्वय किया जाय? स्वयं श्रुति ही इस कार्य को अपने हाथ में लेती हुई व्यवस्था करती है—

'विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। वि ह्येनेन पश्यति। एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं, यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः—'अद्राक्' इति। स यदि-'अदर्शम्'-इत्याह, अथ श्रद्दधति। यद्यु वै स्वयं पश्यति, न बहूनां च, नान्येषां श्रद्दधति। तस्माद्विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत्। सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति'।

—ऐतरेय ब्रा० १।६

श्रुति का तात्पर्य यही है कि, मनुष्य को विचक्षणवती (आँखों देखी) बात ही बोलनी चाहिए। हमारी अध्यात्मसंस्था में चक्षु ही विचक्षण (सत्यद्रष्टा) है। चक्षु द्वारा ही वस्तु के विशेषभाव (सत्यभाव) का साक्षात्कार होता है, किंवा स्वयं चक्षु ही विशेषभाव का द्रष्टा है। अतएव चक्षु को ही 'विचक्षण' कह दिया गया है। ईश्वर प्रजापति ने मनुष्य की अध्यात्म-संस्था में यह सत्य ही प्रतिष्ठित किया है, जो कि चक्षु है। चक्षु सत्यमूर्त्ति है, इस सम्बन्ध में वृद्धव्यवहारमूलक लोक-व्यवहार ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाण है। जब एक व्यक्ति किसी विषय के सम्बन्ध में हम से कोई समाचार कहता है, तो उस वक्ता से हम पूंछ बैठते हैं कि, 'क्यों भाई! तुम जो कुछ कह रहे हो, क्या उस स्थिति को तुमने अपनी आँखों से देखा है?' उत्तर में यदि वक्ता-'हां महोदय! मैंने अपनी आँखों से ऐसा होता देखा है' यह कह देता है, तो हम उसके कथन पर विश्वास कर लेते हैं। यदि हम स्वयं ही किसी वस्तु का अपने चर्म्म चक्षुओं से साक्षात्कार कर लेते हैं, तो उस सम्बन्ध में हम से भी प्रतिष्ठित एक, अथवा अनेक व्यक्तियों का भी विपरीत कथन कोई महत्त्व नहीं रखता। इस विश्वास का एकमात्र कारण है 'सत्यात्मक चक्षु'। इसलिए यजमान को चाहिए कि, वह अपने यज्ञकर्म्म में विचक्षणवतीवाक् का ही प्रयोग करे। इस नियम के अनुगमन से उसकी वागिन्द्रिय उत्तरोत्तर सत्यभाव से युक्त बनती जायगी, और कालान्तर में इस सत्यबल का फल यह होगा कि, यह अपने मुख से जिसके लिए जो भी कुछ कह देगा, वैसा ही घटित हो जायगा।

सत्यसृष्टि का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में हमने सूर्य्य को 'सत्यमूर्ति' कहा था। यह सत्यसूर्य्य ही हमारी चक्षुरिन्द्रिय का उपादान बनता है। इसी आधार पर चक्षु को सत्य कहा गया है। यदि ऋत (अनृत) वाणी को सत्य चक्षु के साथ युक्त कर दिया जाता है, तो अपने रूप से अनृत रहती हुई भी वाणी सत्य बन जाती है। और ऐसी चक्षु युक्ता वाणी व्यावहारिक सत्य में प्रामाणिक बन जाती है। यह सब कुछ ठीक होने पर भी, ठीक मान लेने पर भी, कहना पड़ेगा कि, वाणी से मौलिक सत्य कभी नहीं पकड़ा जा सकता, क्योंकि वहां जैसे पराङ्मुखवाणी की गति अवरुद्ध है, वैसे ही पराङ्मुख सत्य चक्षु का भी वहां गति नहीं। यहां क्या, इन्द्रियसञ्चालक मन[1], तत्सञ्चालिका बुद्धि आदि सब का व्यापार वहां अवरुद्ध है। हां, व्यवहार काण्ड में अवश्य ही सत्यचक्षु के सहारे हम अनृत-वाणी को सत्य बना सकते हैं। एवं एकमात्र इसी अभिप्राय से श्रुति-स्मृतियों ने सत्यभाषण का समर्थन किया है।

चक्षुरिन्द्रिय बाह्यजगत का अनुगामी है। बाह्यजगत को हमने 'अनृत' बतलाया है, मृत्युलक्षण कहा है। जो जैसा हो, उसे उसी रूप से देखना चूंकि सत्य कहलाता है, अतएव चक्षुद्वारा यथानुरूप दृष्ट अनृतविश्व का तदनुरूप ही वाणी से अभिनय करना सत्य भाषण बन जाता है। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों ने यह व्यवस्था की है कि, यदि मनुष्य किसी सम्बन्ध में झूंठ बोल कर उसे स्वीकार कर लेता है, तो उस की यह झूंठ सत्यपूत बन कर विशेष प्रत्यवाय का कारण नहीं बनती।

उक्त व्यावहारिक सत्यभाषण जहां प्रत्येक दशा में ग्राह्य तथा उपकारक है, वहां पारमार्थिक सत्य वाणी से सर्वथा अतीत है। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक सत्यभाषण भी जब तक वर्णों के अभिनय का विषय नहीं बनता, तभी तक वह कल्याणप्रद है। यदि हम अपने सत्यभाषण के साथ 'हम सत्य बोलते हैं, सत्य अहिंसा हमारे साथ है, 'हम सत्य पर खड़े हैं' ऐसे आग्रह-वाक्यों का सम्बन्ध कर देते हैं, तो आग्रहयुक्त ऐसा सत्यभाषण परोक्ष आत्मा की परोक्ष सत्य शक्ति से वञ्चित होता हुआ 'अतिमान' कोटि में प्रविष्ट हो जाता है और यही अतिमान सत्य-नाश का कारण बन जाता है, जिसका कि हम अबतक विरोध करते आए हैं। सत्यभाषण कीजिए, किन्तु 'हम सत्यभाषण करते हैं' यह डिण्डिमघोष न कीजिए। सत्यमार्ग का चुपचाप अनुगमन करते जाइए, किन्तु सत्य का आग्रह न कीजिए। आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि, आप अनृत संहित है। सम्भव है—आप आग्रह में सफल न हो सकें। इन्हीं सब परिस्थितियों को लक्ष्य में रख कर हमने सत्याशक्ति को पतन का कारण माना है। देवता अभिमान रखते हैं अतिमान नहीं रखते। सत्य का अभिमान रखना अच्छा है, किन्तु सत्य का अतिमान करना प्रत्येक दशा में अवनति का कारण है। अभिमान रखने वाले देवता विजयी बन गए थे, एवं अतिमान करने वाले असुर पराभूत हो गये थे। प्रसङ्गोपात्त अभिमान अतिमान भावों का पार्थक्य भी जान लेना चाहिए। अपने आप को, अपने आत्मा को ब्रह्म का साक्षात् अंश समझते हुए, अपने

---

१ "न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः, न विद्मः, न विजानीमः। यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद्व्याचचक्षिरे"

—केनोपनिषद् १।३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आप को (अन्तर्जगत में) महाशक्तिशाली अनुभव करते हुए शास्त्रसिद्ध, यथाधिकारसिद्ध कर्म्म मार्ग पर गुणरूप से आरूढ रहना ही 'आत्माभिमान' है। अपने को कभी छोटा न समझिए, कभी आत्मग्लानि का प्रवेश न होने दीजिए, यही आत्माभिमान है। एवं ऐसे आत्माभिमान का स्वयं भगवान् ने भी समर्थन किया है। देखिए—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

—गीता ६।५-६।

ठीक इस के विपरीत – 'हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं, हम शिक्षित हैं, ईश्वर ने हमें बुद्धि दी है, सत्य-अहिंसा हमारे साथ है, हमें सत्य-अहिंसा पर पूर्ण विश्वास है, कोई भी शक्ति सत्य अहिंसा के सामने नहीं ठहर सकती, हमारा व्यवहार सत्य है, हम सच बोलते हैं, हमारी वाणी ईश्वर की प्रेरणा है, सत्य-अहिंसाधर्म्मों से हमें कोई नहीं डिगा सकता' ऐसे ऐसे वाक्यों के प्रयोगसे अपने श्रीमुख को अलंकृत रखना ही 'अतिमान' है। दूसरे शब्दों में अपने अन्तर्जगत में उदात्त भावनाओं की चर्वणा करते रहना 'अभिमान' है, एवं उन अन्तर्भावनाओं को वाणी से प्रकट कर देना 'अतिमान' है। ऐसे अतिमान का फल है 'पराभव' वंशवनाश—

'देवाश्च वाऽअसुराश्च-उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा अतिमानेनैव—'कस्मिन्नु वयं जुहुयाम' इति (वदन्तः) स्वेस्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः। तेऽतिमानेनैव पराबभूवुः। तस्मान्नातिमन्येत। पराभवस्य हैतन्मुखं, यदतिमानः"।

— शत० ब्रा० ५।१।१।१।

सत्या-नृतभावों के इन्हीं सब गुप्त रहस्यों को लक्ष्य में रखकर हमने अनृतसंहित मनुष्यों के लिए सत्य के आग्रह को दोषावह बतलाया। इस सम्पूर्ण परिस्थिति का निष्कर्ष यही हुआ कि, "अभिमानात्मक सत्य ग्रह आवश्यक, एवं उपादेय। किन्तु अतिमानात्मक सत्याग्रह अनावश्यक, दोषावह, अतएव एकान्ततः त्याज्य"।

अब एक प्रश्न इस सम्बन्ध में बच रहता है—अनृतभाव सम्बन्धी। मनुष्य क्यों, किस कारण से अनृतसंहित कहलाया, यह और विजिज्ञास्य है। ऋत-सत्य का वैज्ञानिक स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में 'अङ्गिरा' के साथ सत्य का, एवं 'भृगु' के साथ 'ऋत' का सम्बन्ध बतलाया गया था। जिन मनुष्यों के आत्मा में (शारीरिक कर्म्मात्मा में) सत्-कर्म्मजनित सत् संस्कारों के अतिशयाधान से आङ्गिरा-तत्व की प्रधानता रहती है, वे सामान्य मनुष्य न होकर 'देवता' हैं, एवं जिन का आत्मा दिव्य संस्कारों से शून्य हैं, यथाजात वे मनुष्य केवल ऋत-भृगु प्रधान बनते हुए अनृतसंहित 'मनुष्य' हैं। उत्पत्तिकाल में सभी मनुष्य अनृतसंहित हैं। कारण स्पष्ट है। आपः वायुः सोम, तीनों की समष्टि भृगु है, एवं भृगु ही ऋत है। इन ऋततत्वों में से मध्यस्थ ऋत-वायु ही मनुष्यप्रजा की चेतना का आधार बनता है। अतएव इसे 'ऋतस्य प्रथमजा' कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।

—सामसं० पू० ६।१०।९।

मनुष्य वर्ग की अपेक्षा सौरमण्डल में रहने वाले प्राण-देवता सत्य-अङ्गिरोग्नि के प्राधान्य से सत्यसंहित हैं। 'सत्यसंहिता वै देवाः' इस श्रुति से इन सौर प्राण देवताओं का ग्रहण तो है ही, साथ साथ दिव्य संस्कार युक्त भौममनुष्य देवता, एवं यज्ञातिशययुक्त याज्ञिक द्विजातिवर्ग का भी ग्रहण है। वक्तव्य यही है कि, अपने स्वाभाविक ऋतवायु के आधार के कारण ही ऋतसंहित मनुष्य अनृतसंहित है। अपि च जिस शुक्राहुति से इसका स्वरूप निर्माण होता है, वह शुक्र ओषधि (अन्न) के शारीराग्नि में आहुत होने से उत्पन्न हुआ है। ओषधि वृष्टि का फल है, वृष्टि सोम का रूपान्तर है, सोम श्रद्धा नामक चान्द्र पानी का रूपान्तर है, एवं अप्तत्त्व को ही ऋत कहा गया है। इस दृष्टि से भी—'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छान्दोग्य उप० ५।९।१।) इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार ऋत-सौम्य शुक्र से उत्पन्न ऋतसंहित मनुष्य अनृतसंहित ही माना जायगा। चूंकि ऋतभाव सत्यमर्य्यादा से स्वभावतः वञ्चित है' इधर इन्द्रियसञ्चालक मनुष्य का अन्नमय प्रज्ञान-मन भी सौम्य बनता हुआ ऋत ही है। अपने इन्हीं स्वाभाविक ऋतरूप अनृतभावों के कारण मनुष्य प्रजा आत्मसत्य का एवं आत्मसत्यानुगृहीत प्राकृतिक स्वाधिकार सिद्ध कर्म्म का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उल्लंघन कर डालती है। इस प्रज्ञा के अपराध से इसका सत्य आत्मा अविद्यादि अनन्त दोषों से युक्त हो जाता है। आत्मा का स्वाभाविक विकास दब जाता है। फलतः मानवीप्रजा प्राकृतिक कर्म्मों का उल्लङ्घन करने लगती है, जैसा कि पूर्व के आख्यान में 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति' इत्यादि रूप से स्पष्ट किया जा चुका है।

चूंकि मनुष्य अनृतसंहित है, अतएव प्रज्ञापराध के अनुग्रह से स्वाभाविक, प्राकृतिक, आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों से विमुख हो जाना इसके लिए कोई विशेष बात नहीं है। इसी अनृतभाव का नियन्त्रण करने के लिए, अनृतभाव का नियन्त्रण करते हुए इसे अधिकारसिद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रखने के लिए, इसका मन, इसकी बुद्धि स्वधर्म्म से कभी च्युत न हो, इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए इसको किसी प्राकृतिक-मर्य्यादा सूत्र से नियन्त्रण करना आवश्यक रूप से अपेक्षित हो जाता है। इसी आधार पर आप्त-महर्षियों ने इसके लिए प्रकृत्यनुसार भिन्न-भिन्न मर्य्यादाओं का एक सुदृढ़ दुर्ग बनाया है। इस दुर्ग के भिन्न-भिन्न द्वारों पर नियमरूप भिन्न-भिन्न प्रहरी बैठाए गए हैं, जोकि इन कर्म्मठ मनुष्यों का नियन्त्रण करते रहते हैं। उदाहरण के लिए ब्राह्मणवर्ण को ही लीजिए। ब्राह्मण के आधिकारिक कर्म्म हैं—व्यक्ति-समाज-राष्ट्र में प्रवेश करने वाले आध्यात्मिक दोषों को ज्ञानोपदेश द्वारा दूर करते रहना, एवं दिव्यसंस्कारों के अनुष्ठान से समाज में नव-जीवन का संचार करते रहना, यज्ञकर्म्मों के द्वारा प्राकृतिक आधिदैविक मण्डल को शान्त बनाए रखना, उत्पथगामी शास्ता क्षत्रिय राजाओं को तपोयुक्त ज्ञानशक्ति से दमन करते हुए उन्हें सत्पथ पर प्रतिष्ठित रखना। इन सब कर्म्मों का उपदेशभाव' के साथ सम्बन्ध है। उपदेश की मूलभित्ति ज्ञानशक्ति है। ज्ञानशक्ति का प्रधान आलम्बन 'शिरोयन्त्र' (मस्तिष्क) है।

विश्व में कितने एक सात्विक पदार्थ शिरोयन्त्र-सम्बन्धिनी ज्ञानशक्ति के उपकारक हैं, एवं कितने एक राजस-तामस पदार्थ ज्ञानशक्ति के आवरक हैं। ऐसी परिस्थिति में ज्ञानाधिष्ठाता ब्राह्मणवर्ग यदि अपने उक्त आधिकारिक कर्म्मों पर आरूढ़ रहने का इच्छुक होगा, तो उसे सात्विक नियमों, सात्विक-ज्ञानवर्द्धक, तथा ज्ञान रक्षक पदार्थों का सेवन करना पड़ेगा, एवं विपरीत तामसादि भावों का परित्याग करना पड़ेगा। उपदेश शक्तिशाली, ज्ञानाधिष्ठाता ब्राह्मणवर्ण के लिए ज्ञानशक्ति प्रवर्द्धक-रक्षक सात्विक आचार-व्यवहार-नियमोपनियम-पदार्थ ही उपयुक्त माने जायँगे। इसी आधार पर मन्वादि स्मृतियों ने ज्ञानशक्ति-विघातक, राजसतामस भावयुक्त लशुन-गृञ्जन-पलाण्डु-मद्य-मांसादि पदार्थों का इस वर्ण के लिये निषिद्ध माना है। इन पदार्थों से उत्पन्न होने वाले राजस-तामस-संस्कार लेप से ब्राह्मण का बीजरूप ब्राह्मण्य उसी प्रकार निर्वीर्य्य बन जाता है, जैसे कि धूम के स्पर्श से जौ-गेहूं आदि बीजों की प्रजननशक्ति नष्ट हो जाती है। यही व्यवस्था क्षत्रिय, वैश्यादि इतर वर्णों के सम्बन्ध में समझिए। चारों वर्णों के आधिकारिक कर्म्म भिन्न, चारों को स्वस्व कर्म्मों में नियन्त्रित रखने वाले धर्म्म भी भिन्न भिन्न। वर्णकर्म्म-वर्णधर्म्मों की समष्टिरूप यही व्यवस्था चातुर्वर्ण्य' नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी कि मूलभित्ति 'समाज' है।

समाज-सापेक्ष वर्णव्यवस्था के अतिरिक्त व्यक्ति के पारलौकिक कल्याण के लिए एक व्यवस्था और व्यवस्थित हुई है। व्यक्त्यनुबन्धिनी वही व्यवस्था 'चातुराश्रम्य' नाम से प्रसिद्ध है। वर्णव्यवस्था, एवं आश्रमव्यवस्था, इन दो दुर्गों से सुरक्षित भारतीय वर्णप्रजा कभी स्वाधिकार सिद्ध कर्म्म से विमुख नहीं हो सकती। भारतवर्ष का भारतपना, जगद्गुरुत्व, सर्वसमृद्धत्व, इन्हीं दोनों व्यवस्थाओं पर निर्भर है। जिस दिन भारतवर्ष इनकी उपेक्षा कर देगा, समझ लीजिए, उस दिन 'भारत' भारत भाइत बनता हुआ अपना सर्वस्व खो बैठेगा, जिसकी कि आशङ्का मात्र से भी भारतीय आस्तिक प्रजा का हृदय कम्पित हो पड़ता है।

इति—वैदिककर्म्मयोगः।

* *
*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४—वर्णव्यवस्था-विज्ञान

जिज्ञासु वर्ग का क्षोभ —

'वैदिक-कर्म्मयोग ही वास्तव में 'कर्म्मयोग' है, क्योंकि अभ्युदय-निःश्रेयस लक्षण कर्म्मतत्त्व इसी कर्म्मयोग से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में 'शास्त्र' हमारे लिए जिन कर्त्तव्य कर्म्मों का (वर्णधर्म्मानुसार) विधान कर रहा है, वे ही कर्त्तव्य-कर्म्म लोक, तथा परलोक-हित के साधक बनते हुए ग्राह्य हैं, एवं शास्त्र जिन कर्म्मों का निषेध करता है, वे सब अशास्त्रीय कर्म्म लोक-परलोक के वास्तविक सुख के प्रतिबन्धक बनते हुए सर्वथा हेय हैं। अतः जिस भारतीय की यह आकांक्षा है कि, वह इस लोक में, इस जीवन में भौतिक-वैभवों का सुखोपभोग करता हुआ परलोक में सद्गति प्राप्त करे तो उसे शास्त्रसिद्ध, वैध, कर्त्तव्य-कर्म्मों का ही अनुगमन करना चाहिए" पूर्व के 'वैदिक-कर्म्मयोग'—प्रकरण में यही स्पष्ट किया गया है। इस अनुष्ठेय वैदिक-कर्म्मयोग का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का समाधान तो आगे आने वाले '**कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण**' नामक प्रकरण में किया जायगा। प्रकृत में तो हमें उस क्षोभ की शान्ति के उपाय का अन्वेषण करना है, जो कि 'वर्णाश्रमव्यवस्था' को लेकर आज अधिकांश में हमारी मौलिक श्रद्धा का विघातक बनता जा रहा है।

अनृतसंहित मनुष्यों के अनृत-भाव के नियन्त्रण के लिए वर्णाश्रमव्यवस्था-दुर्ग का निर्म्माण हुआ है, यह पूर्वप्रकरणोपसंहार में स्पष्ट किया जा चुका है। यह निर्विवाद है कि, शास्त्रसिद्ध कर्म्ममार्ग में मानवसमाज को प्रवृत्त रखने का एकमात्र साधन वर्णाश्रम मार्ग का अनुगमन ही है। जब तक वर्णाश्रम मर्य्यादा का अनुगमन है, तभी तक कर्त्तव्यकर्म्म की रक्षा है। दोनों का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है। यही नहीं, तत्त्वतः वर्णाश्रमधर्म्म ही का नाम वैदिक-कर्म्मयोग है। वेदस्वाध्याय के परित्याग से, आचार त्याग से, आलस्य से, अन्नदोष से, पश्चिमी देशों के संसर्ग से भौतिक-जड़वाद की उन्नति से, शासनप्रणाली के गुप्त ·········चक्र से और और भी कई एक अदृष्ट कारणों से आर्य्य सन्तान आज अपने धर्म्म को, कर्त्तव्य कर्म्म का वर्णाश्रम-पथ का मौलिक स्वरूप, उदात्त आदर्श भूल गई है, किंवा क्रमशः भुलाती जा रही है, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। सचमुच प्रकृति-सिद्ध भारतीय आर्षधर्म्म ने सन्तमतमूलक, अनार्ष मतवादों का आश्रय लेते हुए आज अपने इस धर्म्म क्षेत्र में विप्लव-युग का दृश्य उपस्थित कर दिया है। इसके अतिरिक्त पश्चिम की वैज्ञानिक-शिक्षा ने भारतीय नवयुवकों के मस्तिष्क में भारतीय-संस्कृति से विरुद्ध सर्वथा नवीन विचारों का स्रोत बहा दिया है। वर्त्तमान युग से सम्बन्ध रखने वाले वैज्ञानिक-विविध आविष्कारों ने इन नवयुवकों के बौद्ध-जगत में 'हेतुवाद' का बीजारोपण कर दिया है। इसी हेतुवाद के अनुग्रह से आज इनके लिए —"शास्त्र की आज्ञा है, इसलिए मानलो" इस श्रद्धामय आदेश वाक्य का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। इनकी तर्कबुद्धि आज इन्हें इसके लिए विवश बना रहे हुए है कि, ये उसी शास्त्र वचन पर विश्वास करें, उसी धर्म्मादेश का अनुगमन करें, उसी कर्म्म का अनुष्ठान करें, जिसका तात्त्विक विज्ञान से सम्बन्ध हो, जिसका सफल, तथा सुफल कारण हो। यदि तर्क-विज्ञान-हेतुवादादि का आश्रय लिए बिना, केवल शास्त्र के डिण्डिम-घोष के आधार पर धर्म्म-कर्म्म का इनके आगे यशोगान किया जाता है, तो वह सर्वथा अरण्य-रोदन ही सिद्ध होता है। सिद्ध हो भी क्यों नहीं, जब कि इस सिद्धि के प्रवर्त्तक मतवादों ने आर्षधर्म्म, एवं तत्प्रतिपादक वेदशास्त्र को उपेक्षा के गर्त्त में डाल रक्खा है।

जिन मतवादों के कन्धों पर धर्म्मरक्षा का भार है, जो सनातनधर्म्मी विद्वान् धर्म्म के उपदेशक हैं, उनकी उदासीनता ही धर्म्म-शैथिल्य का मुख्य कारण है। धर्म्म की मौलिकता के सम्बन्ध में नवीनशिक्षा-दीक्षित हमारा नवयुवक समाज जिस कारणता की जिज्ञासा रखता है, उसके पूर्ण होना तो दूर रहा अपितु हमारे आचार्य, तथा विद्वत्समाज ने पहिले से ही इनके सम्बन्ध में अपनी यह धारणा बना रक्खी है कि, ये लोग तो विदेशी शिक्षा-आचार-व्यवहार का अनुगमन करने से नास्तिक बन गए। धर्म्मशास्त्रों पर इनकी श्रद्धा न रही। बात ठीक है, अवश्य ही नवयुवक समाज धर्म्म के नाममात्र से भी घृणा करता है। परन्तु ऐसा हुआ क्यों? क्या भारतीयधर्म्म, तथा भारतीय साहित्य की तुलना में पश्चिमी धर्म्म, पश्चिमी साहित्य उन्हें तात्त्विक प्रतीत हुआ? यदि हां तो तब तक आप इन पर कोई लाञ्छन नहीं लगा सकते, जब तक कि, उन्हें यह न समझा दें कि, आपके घर का साहित्य विदेशी साहित्य की अपेक्षा अधिक मौलिकता रखता है। मौलिकता आप सिद्ध करते नहीं, उनके तर्कों का समाधान करते नहीं, फिर उन शिक्षितों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो क्यों हो। केवल प्रमाणभक्ति का युग आज नहीं रहा, यह आपको इसलिए स्वीकार करना पड़ेगा कि, उनके मस्तिष्क आज वैज्ञानिकी शिक्षा के चाकचिक्य में पड़कर हेतुवाद के अनुगामी बन गए हैं। उन्हें वहां भूंठा-सच्चा जो भी कुछ सिखलाया गया है, हेतुपुरस्सर, तर्क के आधार पर। अब आप उनकी चिरभ्यस्त इस मनोवृत्ति के सर्वथा विपरीत केवल वचनों के आधार पर कैसे उन्हें धर्म्म-सीमा में सीमित रख सकते हैं। अवश्य ही आपको विज्ञान-सम्मत तर्क-युक्ति-कारणों को आगे रखते हुए ही धर्म्म का मौलिक स्वरूप उनके सामने रखना पड़ेगा। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो परिणाम यह होगा कि, दिन-दिन द्रुतवेग से प्रवृद्ध इनका वातावरण उस सामान्य प्रजा की भी स्वाभाविक धर्म्म-निष्ठा को शिथिल बना देगा, जोकि प्रजा इनके संसर्ग से अपने आपको नहीं बचा सकती। और आज यही हो रहा है। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि, जिन्हें हम सुधारक कहते हैं, जिन्हें धर्म्म से विपरीतपथानुगामी मान रहे हैं, जिन्हें पश्चिमी शिक्षा-सम्बन्धमात्र से नास्तिक मानने की भयङ्कर भूल कर रहे हैं, उनके आगे यदि आप तात्त्विक दृष्टि से धर्म्म का स्वरूप रख देंगे, तो आप उन्हें अतिशय श्रद्धालु देख लगे। वे शिक्षित हैं, समझदार हैं। भला-बुरा समझने का विवेक उनमें है। आवश्यकता है, केवल दृष्टिकोण बदलने की।

यह कब सम्भव है, और कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है, विज्ञान दृष्टि से वैदिक-साहित्य का अध्ययनाध्यापन, वैदिक तत्त्वों का प्रचार-प्रसार, लोकसंग्रह दृष्टि से प्रचलित सन्तमत पर कोई आघात-प्रत्याघात न करते हुए भी वेदसिद्ध, सम्प्रदायभाव विरहित, आर्षधर्म्म का विस्तार। देश की मनोवृत्ति देखते हुए यद्यपि कार्य्य सरल प्रतीत नहीं होता, परन्तु चिन्ता का अवसर इसलिए नहीं है कि, जब जब समाज के सामने कोई नवीन दृष्टि आती है, तब तब अपने रूढ़िवाद के अभ्यास के अनुग्रह समाज इसी प्रकार विरोध-प्रदर्शन किया करता है। उधर अपने प्रयास को विज्ञानानुमोदित, प्रकृतिसूत्र से सम्बद्ध, वेदशास्त्र द्वारा प्रमाणित, अतएव अभ्युदय-निःश्रेयस का अनन्य साधक समझने वाला सन्देश-वाहक किसी विरोध का भय न करता हुआ, एकमात्र ईश्वरीय प्रेरणा का बल अपने सामने रखता हुआ, समाज के न-न करते रहने पर भी अपने लक्ष्य पर स्थिर बना रहता है। और कालान्तर में वही विरोधी समाज उसकी सेवाओं पर कृतदृष्टि कर डालता है।

आज हम एक ऐसे ही अप्रिय-सत्य का स्वरूप अपने वर्त्तमान समाज के सामने रखना चाहते हैं, जिस के नाम श्रवण में भी कटुता का अनुभव किया जा रहा है, और वह अप्रियसत्य है—"भारतीय-चातुर्वर्ण्यव्यवस्था"। यह सनातन-व्यवस्था आज अनेक तर्क-कुतर्कों की आश्रयभूमि बन रही है। किसी क्षणिकवादी की दृष्टि में यह व्यवस्था विशुद्ध गुणकर्म्ममूला है, तो कोई नित्य-विज्ञानवादी इसे प्रकृतिविशिष्ट मानता हुआ 'जन्ममूला' कह रहा है। किसी राष्ट्रवादी की दृष्टि में भारतीय वर्णविभाग, तथा तन्मूलक प्रकृतिसिद्ध जाति-उपजाति विभाग राष्ट्रोन्नति का विघातक है, तो कोई विद्वान् इसे उभयलोक-कल्याणकारिणी बतला रहा है। कोई परिवर्त्तनवादी इसे 'सादि' मानता हुआ इसके सनातन-स्वरूप में परिवर्त्तन चाहता है, तो कोई विवेकी 'अनादि' सिद्ध करता हुआ इसे सदा एकरूप ही देखना चाहता है। किसी बुद्धिवादी का बुद्धि-वैभव इसे केवल ब्राह्मणों की स्वार्थलीला कह रहा है, तो कोई बुद्धियोगी—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (गी० ४।१३।) इस भगवद्वचन के आधार पर इसे ईश्वरीय-व्यवस्था मान रहा है। इन्हीं कुछ एक पारस्परिक विसंवादों के कारण एक तटस्थ, किन्तु जिज्ञासु व्यक्ति का अन्तर्जगत क्षुब्ध हो पड़ता है। उसके इस क्षोभ की शान्ति के लिए, साथ ही में 'वर्णाश्रमव्यवस्था' ही एकमात्र भारतीय 'कर्म्मयोग' की मूलप्रतिष्ठा है, यह सिद्ध करने के लिए प्रकृत-प्रकरण का उपक्रम किया जाता है। हमें विश्वास है कि, दोषदृष्टि से भी देखा गया यह प्रकरण हमारे भ्रान्त जगत को भ्रान्ति से निर्मुक्त कर वर्णाश्रम की उपयोगिता की ओर हम भ्रान्त पथिकों का ध्यान आकर्षित करेगा।

ब्रह्मा के द्वारा वर्णव्यवस्था का आविर्भाव—

भारतीय 'वर्णाश्रमव्यवस्था' आर्ष-महर्षियों की दृष्टि में जहां 'कर्म्म-विभाग' की मूलप्रतिष्ठा है, वहां वर्णाश्रम-मूलक कर्म्मविभाग की मूलप्रतिष्ठा 'कर्तृ-विभाग' माना गया है। कर्त्ता के विभाग से कर्म्म विभाग हुआ है, एवं वर्णविभाग के अनुसार कर्म्मविभाग हुआ है, यही तात्पर्य है। पूर्व के 'योग सङ्गति' प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, त्रिगुणात्मक-विश्व में रहने वाले, (अतएव) त्रिगुणभावापन्न मनुष्यों की प्रकृति कभी समान नहीं हो सकती। फलतः भिन्न-भिन्न प्रकृति रखने वाले मनुष्य कभी समान (एक) कर्म्म के अधिकारी नहीं बन सकते। चूंकि कर्म्मकर्त्ता मनुष्यों की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, अतएव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनका कर्म्म भी पृथक् पृथक् ही मानना पड़ेगा। कर्तृ-सम्प्रदाय का भिन्नप्रकृतित्व ही कर्म्मभेद का मूलकारण बना है। प्रकृतिसिद्ध इन भिन्न भिन्न कर्म्मों में तत्तत्-प्रकृतिविशिष्ट तत्तत् कर्त्ता नियमशः प्रतिष्ठित रहें, एक-मात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही, दूसरे शब्दों में कर्तृ-भेदसिद्ध कर्म्मविभाग को सुव्यवस्थित बनाने के लिए ही वर्णाश्रमव्यवस्थाओं का ब्रह्म-प्रजापति द्वारा आविर्भाव हुआ है।

जब हम मानव समाज के कर्म्मों की मीमांसा करने आगे बढ़ते हैं, तो इनके सम्बन्ध में पदे पदे विरुद्ध भावों का साम्मुख्य होने लगता है। प्रकृतिभेद, तथा शक्तिभेद-सापेक्ष शिशुकर्म्म-बालकर्म्म-तरुणकर्म्म युवाकर्म्म-प्रौढकर्म्म-वृद्धकर्म्मादि भेद भिन्न वैयक्तिक कर्म्म, मनुष्यकर्म्म, स्त्रीकर्म्म, पितृ-भ्रातृ-कर्म्म, मातृ-भगिनी-कर्म्म, पतिकर्म्म पत्नीकर्म्म, विवाहकर्म्म, सामाजिककर्म्म, स्वामीकर्म्म, भृत्यकर्म्म, राजकर्म्म, आदि आदि सभी कर्म्म परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं, सब की इतिकर्त्तव्यता एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि, इन सब विरुद्ध-कर्म्मों के समन्वय से ही उस 'महाकर्म्म' का स्वरूप सम्पादन होता है, जो कि, 'महाकर्म्म' मानवसमाज के वैयक्तिक कौटुम्बिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन का मुख्य आधार बना हुआ है। 'महाकर्म्म' मानव समाज का मुख्य उद्देश्य है। चूंकि इस महाकर्म के गर्भ में, इस के स्वरूप सम्पादक असंख्य अवान्तर-विरुद्धकर्म्म समा रहे हैं, अतएव हमें मानना पड़ेगा कि, इन स्वरूप-सम्पादक परस्पर विरुद्ध यच्चयावत् अवान्तर कर्म्मों का अधिकारी एक ही व्यक्ति नहीं हो सकता। अवश्य ही अवान्तर-कर्म्म भेद के आधार पर हमें मानव-समाज को विभक्त कर तत्तत्-कर्म्मविशेषों से नियन्त्रित करना पड़ेगा।

इस प्रकार महाकर्म्म के स्वरूप सम्पादक, उन गर्भीभूत परस्परात्यन्त विरुद्ध, अवान्तर यच्चयावत् कर्म्मों को अधिकारी कर्त्ता के विभाग से विभक्त कर के, एक ही समय में उन समस्त आवश्यक कर्म्मों का सञ्चालन करने वाला ही मानवसमाज अपने मुख्योद्देश्यरूप महाकर्म्म की संसिद्धि में सफल हो सकता है। और यही समाजसापेक्ष, समाजानुबन्धिनी पहिली 'वर्णव्यवस्था' है। "एक ही समय में अनेक व्यक्ति अपना अपना आधिकारिक कर्म्म करते हुए, उस महाकर्म्म', किंवा 'विश्वकर्म्म' के स्वरूप सम्पादन में जिस व्यवस्था से समर्थ होते हैं, वही व्यवस्था 'चातुर्वर्ण्यव्यवस्था' है" यही निष्कर्ष है।

विश्वकर्म्म ही विश्व की प्रतिष्ठा है, एवं कर्म्मप्रतिष्ठा ही मानव समाज की प्रतिष्ठा है। अवान्तर कर्म्मों को अपनी अपनी स्वाभाविक जन्मजात योग्यता के अनुसार अपने अपने हिस्से में लेते हुए मनुष्य एक ही काल में सहज में ही प्रतिष्ठा-लक्षण उस 'महाकर्म्म' का भार उठाने में समर्थ हो जाते हैं। यदि इस सम्बन्ध में—"सब मनुष्य सब कर्म्मों के अधिकारी हैं, अतः सब को सब कर्म्म करने चाहियें।" इस अप्राकृतिक, उच्छृंखल वृत्ति का आश्रय लिया जायगा, तो किसी भी अवान्तर कर्म्म की सिद्धि न होगी। कारण इस का यही है कि, गुणत्रय के समन्वय से उन अवान्तर कर्म्मों के प्रथम-मध्यम-उत्तमादि अनेक श्रेणी विभाग हैं। अधिकार मर्य्यादा की उपेक्षा से सभी व्यक्ति योग्यता न रहने पर भी उत्तम श्रेणी के कर्म्मों में ही प्रवृत्त होना चाहेंगे। परिणाम इस अव्यवस्था का यह होगा कि, अयोग्य मनुष्य तो उत्तमश्रेणी के कर्म्मों पर अधिकार जमा लेंगे, एवं विशेष योग्यता रखने वालों के लिए प्रथमश्रेणी के कर्म्म शेष रह जावेंगे। दोनों वर्ग दोनों में अयोग्य ठहरते हुए दोनों ही कर्म्मों की स्वरूप-सिद्धि में असमर्थ रह जायेंगे। अवान्तर कर्म्मों का स्वरूप एकान्ततः विकृत बन जायगा। और इसका कुफल भोगना पड़ेगा, उस 'महाकर्म्म' को, जो कि हमारा मुख्य उद्देश्य बना हुआ है। ऐसी दशा में समाज के शिष्ट पुरुषों का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वे मानवसमाज की स्वरूप रक्षा के लिए, दूसरे शब्दों में विश्वशान्ति की मङ्गल कामना के लिए 'महाकर्म्म' की रक्षा करें, और इस प्रयत्न-साफल्य के लिए अवान्तर कर्म्मों का अधिकारी की योग्यता के अनुसार ही नियन्त्रण करें। विश्वशान्ति के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता, जैसा कि पाठक अगले परिच्छेदों में देखेंगे।

सामाजिक कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कुछ एक प्रातिस्विक (वैयक्तिक) कर्म्म और बच रहते हैं। इन वैयक्तिक कर्म्मों को सम्पन्न कर लेना ही व्यक्ति का वैयक्तिक पुरुषार्थ कहलाता है, एवं यह पुरुषार्थ ही इसकी अपनी 'आयु' का महाकर्म्म' है। जिस प्रकार विश्वकर्म्म-लक्षण महाकर्म्म के गर्भ में अत्यन्त विरुद्ध अवान्तर कर्म्मों का समावेश है, एवमेव व्यक्ति के वैयक्तिक पुरुषार्थ रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस महाकर्म्म के गर्भ में भी अनेक विरुद्धकर्म्मों का समावेश रहता है। क्योंकि अनेक क्रत्वर्थ कर्म्मों के एकत्र समन्वय से ही एक पुरुषार्थ कर्म्म का स्वरूप-निर्म्माण होता है। एक ही व्यक्ति एक ही समय में उन विरुद्ध कर्म्मों का सम्पादन करने में असमर्थ है। भोजन-शयन-भ्रमण-पठन-पाठन-ईश्वरचिन्तन-आदि विभिन्न कर्म्मों के लिए अवश्य ही इसे कालविभाग' करना पड़ेगा। और कालविभाग-सापेक्ष वही व्यवस्था 'आश्रम-व्यवस्था' कहलाएगी। जिसका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन वर्णव्यवस्था के अन्त में होनेवाला है।

प्रकृत में केवल यही कहना है कि, व्यक्तिभेद वर्णव्यवस्था का मूलाधार है, एवं व्यक्ति के जीवन का समय-भेद आश्रम-व्यवस्था का मूलाधार है। वर्णव्यवस्था समाज का कल्याण करती है, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति का कल्याण करती है। वर्णव्यवस्था समाज की प्रतिष्ठा है, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। आश्रमव्यवस्था में व्यवस्थित व्यक्ति ही वर्णव्यवस्था का अनुगामी बन सकता है। क्योंकि व्यक्ति प्रतिष्ठा ही समाजप्रतिष्ठा की मूलभित्ति है। जिस समाज के व्यक्ति अप्रतिष्ठित हैं, निर्बल हैं, अयोग्य हैं, कर्त्तव्यविमुख हैं, ऐसे अर्बुद-खर्बुद-न्यर्बुद व्यक्तियों का समूह भी कोई अर्थ नहीं रखता। इसी आधार पर व्यक्तिप्रतिष्ठामूला इस आश्रम-व्यवस्था को हम समाजप्रतिष्ठामूला वर्णव्यवस्था की भी प्रतिष्ठा कह सकते हैं। इस प्रकार आश्रमधर्मानुकूल अपने वैयक्तिक जीवन को सफल बनाते हुए पुरुष पुङ्गव वर्णधर्म्मानुसार अधिकारसिद्ध सामाजिक कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए अपने वैयक्तिक पुरुषार्थ को भी सफल कर लेते हैं, एवं समाज व्यवस्था को भी सुपरिष्कृत तथा अभ्युदय निःश्रेयस जननी बना लेते हैं।

वर्णाश्रमव्यवस्थाओं के उक्त स्वरूप-निदर्शन से थोड़ी देर के लिए हमें इस निश्चय पर पहुंचना पड़ता है कि, भारतीय समाज शास्त्रियों ने अपने समाज को व्यष्टिरूप (व्यक्तिरूप) से, तथा समष्टिरूप से, यथायथा पूर्ण समृद्ध रखने के लिए ही दोनों व्यवस्थाओं का आविष्कार किया है। एवं ये दोनों ही व्यवस्थाएं केवल बुद्धि की कल्पना का फल है। परन्तु जब हम इस कल्पना के तथ्यांश का अन्वेषण करने चलते हैं, तो हमें अपना यह निश्चय बदलना पड़ता है, और स्वीकार करना पड़ता है कि, इन दोनों व्यवस्थाओं का मूलस्थान आधिदैविक प्राकृतिक क्षेत्र से ही प्रवाहित है। भारतीय वर्णाश्रमव्यवस्थाएं अनादि-निधना, नित्या प्रकृति की शाश्वत-नियमधारा है। प्रकृतिसिद्ध, नित्य वर्णव्यवस्था के आधार पर ही प्रकृति-रहस्य वेत्ता महर्षियों ने इस व्यवस्था का आविष्कार किया है। एवं इन महर्षियों में यह आविष्कार आदिमनु भगवान स्वयम्भू-ब्रह्मा की कृपा से ही प्रस्फुटित हुआ है।

गीताभूमिका-प्रथमखण्ड के 'गीताकालमीमांसा' नामक अवान्तर प्रकरण में युगधर्म्मों की मीमांसा करते हुए 'देवयुग' नामक युग का स्वरूप बतलाया गया है— (देखिए गी० भू० १ खण्ड पृष्ठ सं० २६ से ३१ पर्य्यन्त) वहां यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, देवयुग के आदि प्रवर्त्तक, वैदिक-आर्षधर्म्म के मूलप्रतिष्ठापक, वेद-लोक-प्रजा-धर्म्म' भेदभिन्न सृष्टिचतुष्टयी के व्यवस्थापक भगवान स्वयम्भू ब्रह्मा ने ही भारतवर्ष को जगद्गुरुत्व प्रदान किया है। इन्हीं ब्रह्म-प्रजापति के द्वारा प्रकृतिसिद्ध, नित्य, वर्णव्यवस्था के अनुसार हमारी मानव-वर्णव्यवस्था का आविर्भाव हुआ है। ब्रह्मा ही (वेदवत्) इस व्यवस्था के प्रथम सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं। दूरदर्शी, सर्वद्रष्टा आदिदेव ब्रह्मा यह जानते थे कि, मानवसमाज का कल्याण प्रकृति-सिद्ध नियमों के आधार पर चलने से ही सम्भव है। जो समाज अपने अनृत भाव को आगे करता हुआ अपनी काल्पनिक व्यवस्थाओं के आधार पर आगे बढ़ने का प्रयास करता है, वह कभी चिरस्थायी नहीं बन सकता। इसे अपनी स्थिरता के लिए स्थिर-प्राकृतिकधर्म्मों के अनुसार ही अनुगमन करना चाहिए। बस एकमात्र इसी भावना से प्रेरित होकर ब्रह्मा ने प्राकृतिक, अपौरुषेय, सत्यवाङ्मय वेदतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य वर्णधर्म के अनुसार ही वेदग्रन्थों का सम्प्रदाय प्रचलित किया, एवं इसी वर्णधर्म्म के आधार पर अपनी दिव्य-प्रजा के लिए वर्णव्यवस्था व्यवस्थित की। चूंकि भारतीय वर्णव्यवस्था इस नित्य प्राकृतिक वर्णव्यवस्था की प्रतिकृति है, अतएव इसे भी नित्य, एवं जन्मसिद्ध ही माना गया।

वर्णव्यवस्था के प्रवर्त्तक यही स्वयम्भू ब्रह्मा यत्र तत्र 'आदिमनु' नाम से भी प्रसिद्ध हुए हैं। देवयुगकालीन 'देवता-असुर-पितर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-मनुष्य-पञ्चजन-पञ्चचर्षणी-पञ्चक्षिति-पञ्चकृष्टि, आदि जितने भी समाज थे, वे सब इन्हीं आदि मनु के अनुशासन से अनुशासित करते थे। धर्म्मसम्राट्, सर्वशास्ता मनु ने वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता क्यों समझी? इस प्रश्न का जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर पूर्व में दिया गया है, उस का एक दूसरी दृष्टि से दृष्टान्त-पुरःसर समन्वय कीजिए।

यज्ञकर्म्म के साथ वर्ण-व्यवस्था का समतुलन—

हमारा आध्यात्मिक कर्म-'मानस-वाचिक-प्राणकर्म्म' भेद से तीन भागों में विभक्त है। मानसकर्म्म 'कामना' (काम, इच्छा) नाम से, वाचिककर्म्म 'शब्द' नाम से, एवं प्राणकर्म्म चेष्टा' नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनों कर्म्मों की प्रतिष्ठाभूमि कायकबल (शारीरिक बल) है। पाञ्चभौतिक, चित्य, शरीरपिण्ड में रहनेवाला अग्नि-बल ही कायिक बल है। जितनी अधिक मात्रा में शारीराग्नि प्रबल रहता है, शरीर उतना हीं अधिक स्वस्थ, तथा सबल रहता है। एवं शरीर की यह स्वस्थता-सबलता ही उक्त तीनों कर्म्मों की उद्बोधिका,तथा सञ्चालिका है। इसी आधार पर अग्नि को ही आध्यात्मिक कर्म्म की प्रतिष्ठा मान लिया जाता है'। न केवल आध्यात्मिक जगत की ही, अपितु 'अधिभूत-अधिदैवत-अधियज्ञ' नाम की इतर तीनों संस्थाओं की प्रतिष्ठा भी अग्नितत्त्व ही माना गया है। अधिकरणभेद से एक ही अग्नि के—'आध्यात्मिकअग्नि—आधिदैविक-अग्नि—आधिभौतिकअग्नि—आधियाज्ञिकअग्नि' भेद से चार स्वरूप हो जाते हैं, जैसा कि—'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' (शत० ११२१३११) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यज्ञकर्ता यजमान को अपने 'यज्ञकर्म्म' की इतिकर्त्तव्यता सम्पादन करने के लिए, दूसरे शब्दों में यज्ञातिशय उत्पन्न करने के लिए इन चारों अग्नियों का परस्पर सम्मिश्रण करना पड़ता है। 'यज्ञवेदि' के पूर्वभाग में प्रतिष्ठित चतुष्कोण आहवनीय कुण्ड में 'अग्निमन्थन-प्रक्रिया' से समुद्भूत यज्ञिय, प्रज्वलित 'आहवनीय'नामक अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। चूंकि इस में पुरोडाशादि यज्ञिय द्रव्यों की (मन्त्रपूर्वक) तत्तद्देवताओं के लिए आहुति दी जाती है, अतएव इसे 'आहवनीय' कहना अन्वर्थ बनता है। यही अग्नि "वैधअग्नि" कहलाता है, एवं यही पहिला 'आधियाज्ञिक अग्नि' है। इस वैध यज्ञाग्नि में यजमान के शरीराग्नि का 'अग्न्याधान' कर्म्म से सन्धान (मेल) कराया जाता है। वैध अग्नि के साथ संहित होनेवाला यजमान का यह शारीराग्नि ही दूसरा 'आध्यात्मिक अग्नि'[2] है। प्रादेशमित समित[1], हविर्द्रव्य, आज्य, दर्भ,पवित्रीकृत-आप, वेदि, कुण्ड, जुहू, उपभृत, आदि सब पार्थिव यज्ञिय द्रव्यों की समष्टि ही तीसरा 'आधिभौतिक[3] अग्नि' है। सौर-दिव्य-गायत्रीमात्रिक वेदत्रयी की प्रतिकृतिरूप ऋक्—साम—यजुर्मन्त्रसमष्टि ही वागग्निरूप चौथा 'आधिदैविक अग्नि' है। अग्न्याधान द्वारा यजमान के आध्यात्मिक अग्नि का वैध-आधियाज्ञिक अग्नि में सन्धान कराने के अनन्तर, इसी में समिदादि लक्षण आधिभौतिक अग्नि का सन्धान कराते हुए,यजमान के मन.प्राणवाङ्मय कर्म्मात्मा को मन्त्ररूप आधिदैविक अग्नि से युक्त कर दिया जाता है। यहीं इस यज्ञकर्म्म की स्वरूपनिष्पत्ति है। चारों अग्नियों का समन्वय हो जाने से ही यज्ञकर्म्म का स्वरूप बन जाता है। अग्निचतुष्टयमूर्त्ति इस यज्ञकर्म्म के साथ यजमानात्मा के मानस-वाचिक-प्राण नाम के तीनों भावों का योग कराना है, इसी योग से यज्ञकर्म्म यजमानात्मा की सीमा में आता हुआ 'यावद्वित्तं तावदात्मा' के अनुसार यजमान का वित्त (भाग्यसम्पत्ति) बनेगा। अब प्रश्न यह है कि, कैसे यज्ञकर्म्म के साथ यजमानात्मा के उक्त तीनों भावों का योग कराया जाय?

यज्ञकर्म्म के उक्त चारों अग्निपर्व (प्रत्येक) मनः-प्राण-वाङ्मय हैं। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० ब्रा० १०।५।१।१) के अनुसार स्वयं अग्नि वाङ्मय है। जहां जहां वाक् है, वहां वहां प्राण, एवं तदनुगत श्वोवसीयस मन भी नित्य विद्यमान है। इसी लिए वाङ्मय इन चारों अग्नियों को अवश्य ही 'मनः-प्राण-वाङ्मय' कहा जाता है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा की इसी व्यापकता के आधार पर 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईशोपनि-

---

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथ हिन्दी-विज्ञानभाष्य' के 'आध्यात्मब्राह्मणविज्ञान' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

१ शारीराग्निलक्षण (यजमान का) प्राणाग्नि प्रादेशमित (१०॥ अंगुल) स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है। चूंकि समित (लकड़ी की आहुति से यजमान के प्रादेशमित प्राणाग्नि को ही प्रज्वलित किया जाता है, अतएव समित् भी प्रादेशमित ही की जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पन १।) इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं[१]। हां तो कहना यही है कि, मनः-प्राण-वाङ्मय चारों अग्नियों के साथ यजमान के मनः-प्राण-वाक्-भावों का समन्वय कराना है। इसी समन्वय से 'महाकर्म्म' रूप यज्ञकर्म्म की स्वरूप-निष्पत्ति होगी। समन्वय भी कैसा ? सजातीयानुबन्ध-सापेक्ष। उक्त चारों अग्नि-प्रपञ्चों के मन-प्राण-वाग्-भावों के साथ यजमान के मनः-प्राण-वाग्भावों का सजातीयानुबन्ध-सापेक्षलक्षण समन्वय कर्म्म हो जाना कोई साधारण कर्म्म नहीं है। स्वयं यजमान ही इस महाकर्म्म को सम्पन्न कर डाले, यह सर्वथा असम्भव है।

इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए यजमान को दक्षिणा-साधन द्वारा अपने इस यज्ञ कर्म्म में ऋत्विक्-सम्पत्ति का सहारा लेना पड़ता है। अपने आध्यात्मिक मनः-प्राण वाक् को आधियाज्ञिक मनः-प्राण-वाक् में सन्धान करने के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को 'ब्रह्मा—अध्वर्यु—होता—उद्गाता' इन चार ऋत्विजों का वरण करना पड़ता है। यज्ञकर्त्ता यजमान 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक् के द्वारा चारों अग्निविवर्त्तों की मनः कला के समन्वय में, 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् के द्वारा चारों की प्राणकला के समन्वय में, एवं अध्वर्यु-होता-उद्गाता नामक तीनों ऋत्विजों के कर्म्मों से चारों की वाक्कला के समन्वय में समर्थ होता है। अध्वर्यु यजुर्वेद द्वारा, होता ऋङ्मन्त्रों द्वारा, उद्गाता साममन्त्रों द्वारा, एवं ब्रह्मा अपने मानस व्यापार द्वारा आधिदैविक तत्वों का संग्रह करते हुए, उन संगृहीत तत्वों के साथ यजमान के आध्यात्मिक तत्वों का ग्रन्थिबन्धन कर देते हैं। यही इस यजमान के महारम्भ यज्ञकर्म्म की सिद्धि है। यज्ञकर्म्म एक है, यज्ञ से जो फल उत्पन्न होगा, उसका भोक्ता भी स्वयं एकाकी यजमान ही है। परन्तु इस एक ही कर्म्म की सिद्धि के लिए कर्तृविभाग द्वारा अनेक कर्त्ताओं का सहयोग अपेक्षित रहता है।

ठीक यही परिस्थिति वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में समझिए। कर्त्ताओं के विभाग से कर्म्म-विभागों को व्यवस्थित करने वाले भगवान् मनु ने समाज रक्षा के लिए ही इस प्राकृतिक व्यवस्था का बीजारोपण किया है। मानव-समाज को एक व्यक्ति मानते हुए इसके मुख-बाहु-उदर-पादभेद की कल्पना के आधार पर ही उक्त व्यवस्था व्यवस्थित की है। इस प्रकार चारों वर्ण व्यवस्थित किए गए, चारों में जन्मानुगत ब्रह्म-क्षत्रादि चार वीर्य्यों का क्रमशः आधान किया गया, तत्तद्वर्ण के तत्तद्वीर्य्यों की रक्षा के लिए तत्त-न्नियमशेवधियों का विधान किया गया, एवं नियमोल्लंघन-दशा में दृढ़तम दण्ड-पाश का नियन्त्रण लगाया गया। वर्णव्यवस्थारूप महाकर्म्म से न किसी वर्णविशेष का ही उपकार है, न व्यक्ति विशेष का ही। अपितु सम्पूर्ण समाजरूप एक महा आत्मा ही इससे उपकृत होता है। सहयोग सब का, व्यक्तिगत कामभाव किसी का नहीं। समाज का जो लाभ, उसी से सब वर्ण सन्तुष्ट। जैसे यज्ञसञ्चालक ऋत्विक् अपने पारिश्रमिक रूप दक्षिणाद्रव्य से कृतकृत्य हो जाते हैं, वैसे ही समाज-कर्म्म सञ्चालक इन वर्णों में भी समाज के अधिकार में आने वाला लोकवैभव आंशिकरूप से विभक्त हो जाता है, और यही इनकी कृतकृत्यता है।

कहना न होगा कि, प्रजापति द्वारा उद्भावित इस प्रकृतिसिद्ध वर्ण-व्यवस्था ने भारतीय समाज को अभ्युदय के उस उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया, उस 'अश्माखण' (पाषाणमय) दुर्ग से वेष्टित कर दिया, जिसमें प्रतिष्ठित-सुरक्षित रहता हुआ भारतीय समाज, भारतीय साहित्य, भारतीय कलाकौशल, भारतीय वाणिज्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता, एतद्देशीय, तथा अन्य-देशीय तत्तद्राजशासनानुशासनों का प्रबल आक्रमण सहते हुए भी आजतक येनकेन रूपेण अपना स्वरूप प्रतिष्ठित किए हुए है। सचमुच आर्य्यजाति के लिए यह अतिशय दुर्भाग्य घटना है कि, पश्चिमी सभ्यता के झञ्झावात में पड़ कर आज हमारे ही देश के कतिपय शिक्षित-शिष्ट संभ्रान्त-महानुभाव, एवं तदनुगामी मुग्ध जन इस व्यवस्था को अनुपादेय, अप्राकृतिक, अतएव त्याज्य कहने की धृष्टता करते हुए आर्षसभ्यता का सर्वनाश करने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। इन अभिनिविष्ट-दुराग्रही बुद्धिवादियों को कौन कैसे समझावे ? इस प्रश्न का उत्तर तो वर्णधर्म्मोपपादक जगदीश्वर के नियति-दण्डप्रहार पर ही निर्भर है।

जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा गया है, इस सामाजिक वर्णव्यवस्था का मूल प्रकृति सिद्ध नित्य वर्णव्यवस्था

---

[१] विज्ञ दृष्टि से इन्द्रियसत्ता, एवं इन्द्रियाभाव ही चेतन-जड़भावों के विभाजक माने गए हैं। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा तो जड़-चेतन यच्चयावत् पदार्थों में अविशेषरूप से प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर—'शृणोतु ग्रावाणः'—'ओषधे ! त्रायस्व'—'स्वधिते ! मैनं हिंसीः' इत्यादि श्रौत-व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है, अतएव यह सामाजिक व्यवस्था भी प्रकृतिसिद्ध, अतएव जन्मसिद्ध, अतएव च सर्वथा नित्य है। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि,-'उस वर्णव्यवस्था का क्या स्वरूप है? प्राकृतिक, आधिदैविक मण्डल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र कौन-कौन है? एवं उन प्राकृतिक, नित्य वर्णों के क्या क्या कर्म्म हैं?'। आगे के परिच्छेद इन्हीं जिज्ञासा भावों को शान्त करते हुए पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।

वर्ण-निरुक्ति—

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे. तत् प्रमाणं बादरायणस्य, अनपेक्षत्वात्' (पूवमी० १।५।) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द एवं अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध है। अर्थ (पदार्थ) वाच्य है, शब्द (नाम) वाचक है। वाचक शब्द का वाच्य अर्थ के साथ पार्वतीपरमेश्वरवत् तादात्म्य सम्बन्ध है। घट-पदार्थ के उत्पत्तिकाल में तद्वाचक 'घट' शब्द घटपदार्थ के साथ सम्बद्ध रहता है। "पहिले पदार्थ उत्पन्न होते हैं, एवं पीछे उन उत्पन्न पदार्थों के साथ तत्तन्नामों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है" यह बात नहीं है। शब्द अर्थ का तो सदा सम-कालिक ही सम्बन्ध रहता है। शब्द-अर्थ प्रपञ्च के इस तादात्म्य-भाव का मूल रहस्य यही है कि, दोनों का मूलस्रोत एक ही वाक्-तत्व से प्रवाहित हुआ है, जो कि मौलिक वाक् अपने 'आम्भृणीवाक्'—सरस्वतीवाक् इन दो विवर्त्तों में परिणत होकर क्रमशः अर्थ-शब्दसृष्टियों की मूलप्रवर्त्तिका बनी हुई है। उसी वाक् के 'आम्भृणी' विवर्त्त से अर्थ-ब्रह्मलक्षण 'परब्रह्म' का विकास हुआ है, एवं उसी वाक् के 'सरस्वती' विवर्त्त से 'शब्दब्रह्म' का विकास हुआ है। यही कारण है कि, जो कलाविभाग, जैसा संस्थाक्रम परब्रह्मविवर्त्त का है, ठीक वही कलाविभाग, वैसा ही संस्थाक्रम अर्थब्रह्मविवर्त्त का है। एक के सम्यक् बोध से दूसरा विवर्त्त गतार्थ है[1]।

परब्रह्मविवर्त्त को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, एवं पहिले शब्दब्रह्म विवर्त्त का विचार कीजिए। आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भिता-वाक् ही सृष्टि (शब्दसृष्टि, एवं अर्थसृष्टि) का मूल है। सृष्टिमूला वाक् में आनन्द-विज्ञान गर्भ में है, मनः-प्राण-वाक्-भावों की प्रधानता है। इसी लिए सृष्टिसाक्षी प्रजापति को 'मनः-प्राण-वाङ्मय' कहा गया है। मनः प्राण-वाक् ये तीनों आत्मविवर्त्त एक प्राणतत्व के ही तीन विकसित रूप माने गए हैं। सृष्टिदशा में केवल प्राण ही तीन रूपों में परिणत हो जाता है। कारणात्मक यही प्राणतत्व 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है। इस मौलिक ऋषिप्राण से 'पितरप्राण' का, पितरप्राण के भृगुभाव से (भार्गव आपः भाग से) 'असुरप्राण' का, भार्गव वायु भाग से 'गन्धर्वप्राण' का, एवं पितरप्राण के अङ्गिराभाग से 'देवप्राण' का विकास हुआ है। इन्हीं देवासुर प्राणों के समन्वय से चर-अचर विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है।

यद्यपि—'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः, तेजोमयी वाक्' (छान्दोग्य उप० ६।४।५।) इत्यादि श्रुति ने "मनः-प्राण-वाक्" इन तीन आत्मकलाओं के क्रमशः "अन्न-आपः-तेज" ये पृथक् पृथक् तीन उपादान कारण माने हैं। ऐसी दशा में मन एवं वाक् की प्राण से उत्पत्ति मानना असङ्गत प्रतीत होता है। फलतः "मनः-प्राण-वाक् तीनों एक प्राण के ही विवर्त्त हैं" इस पूर्व कथन में कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता। तथापि एक विशेष कारण से प्राणतत्त्व की सर्वारम्भकता में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। तेज-अप्-अन्न, तीनों ही 'भूतमात्र' किंवा भूतदेवता हैं। इन तीनों भूतमात्राओं का विकास प्राण से ही माना गया है। वही असत्-प्राण (ऋषिप्राण) तेजोमय बन कर 'वाक्' कहलाने लगता है, आपोमय बनकर 'प्राण' कहलाने लगता है, एवं अन्नमय बन कर 'मन' कहलाने लगता है, जैसा कि अन्यत्र सृष्टिविज्ञान-प्रतिपादक निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। इस दृष्टि से हम अवश्य ही उस मूल-ऋषि-प्राण को तूलरूप मनः-प्राण वाक्, इन तीनों का आरम्भक मान सकते हैं।

यह मूलप्राण (जिसे कि हम 'मुख्यप्राण'—'उद्गीथप्राण'—'आत्मप्राण'—'आत्मा', इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत कर सकते हैं) तेजोमय बनकर "वाक्" नाम से व्यवहृत होने लगता है, यह कहा जा चुका है। वागवस्था में परिणत होने पर इस प्राण की सात अवस्था हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, प्राणावस्था से

---

[1] द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म, परं च यत्। शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

—ब्रह्मबिन्दूपनिषत् १७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरम्भ कर प्राण के वागवस्था में परिणत होने तक उस एक ही प्राण के अवान्तर सात स्वरूप हो जाते हैं। प्राण के के वे ही सात विवर्त्त आध्यात्मिक जगत् की अपेक्षा से क्रमशः –'तैजसप्राण[1]—वायु[2]—श्वास[3]—नाद[4]—श्रुति[5]—स्वर[6]—वर्ण[7]—'इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड में "वस्तिगुहा" से संलग्न एक 'त्रिकास्थिप्राण' है। इसे ही चयनयज्ञ-परिभाषा में 'पुच्छं प्रतिष्ठा' कहा गया है। इस प्रतिष्ठा-प्राण के ग्रन्थिबन्धन से शरीरपिण्ड सीधा तना रहता है। चूंकि वृद्धावस्था में यह त्रिकास्थिप्राण मूर्च्छित-सा हो जाता है, अतएव इस अवस्था में शरीरयष्टि-प्रतिष्ठा-शून्य-सी हो जाती है। कमर झुक जाती है, शरीर का तनाव नत हो जाता है, परप्रतिष्ठा (लकड़ी आदि के आलम्बन) की अपेक्षा हो जाती है। इस प्रतिष्ठा प्राण का वितान मेरुदण्ड के द्वारा होता है। 'ब्रह्मग्रन्थि' – 'अपान' – 'पुच्छप्रतिष्ठा'– 'त्रिकास्थि' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध प्रतिष्ठालक्षण यह मूलप्राण जबतक ब्रह्मग्रन्थि-स्थान में बिना किसी व्यापार के स्वप्रकृति में प्रतिष्ठित रहता है, तबतक इसे 'प्राण', किंवा 'तैजसप्राण' कहा जाता है, एवं उक्त सात अवस्थाओं में से यही इस प्राण की पहिली अवस्था है।

मन से कामना का उदय होता है, एवं उत्थित कामना की पूर्त्ति व्यापार पर निर्भर है। व्यापार का मूलाधार 'कायाग्नि' है। फलतः मानस कामना का सर्वप्रथम इस कायाग्नि पर ही आघात होता है। आघात से कायाग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। कायाग्नि भी तेजोमय है, इधर ब्रह्मग्रन्थिलक्षण त्रिकास्थिप्राण भी तेजोमय है। इसी सजातीयता के कारण तेजोमय-कायाग्नि के क्षोभ से तत्-सजातीय स्वप्रकृतिस्थ त्रिकास्थिप्राण भी क्षुब्ध होकर ऊर्ध्व संचरण करने लगता है। इस ऊर्ध्व-संचारावस्था में वही तैजसप्राण 'वायु[2]' कहलाने लगता है, एवं यही उक्त सात अवस्थाओं में से प्राण की दूसरी अवस्था है।

व्यापार तबतक उपरत नहीं होता, जबतक कि, कामना फलसंग्रहद्वारा शान्त नहीं हो जाती। आफलप्राप्ति व्यापार सञ्चालित रहता है। व्यापार-नैरन्तर्य्य से कायाग्नि अधिकाधिक क्षुब्ध होता रहता है। कायाग्नि के इस प्रवृद्ध क्षोभ का असर उस 'वायु' पर पड़े बिना नहीं रह सकता। अतिशय आक्रमण-आघात-प्रत्याघात से वायु मूर्च्छित हो जाता है। वायु की यह मूर्च्छित अवस्था ही प्राण की तीसरी 'श्वास[3]' नामक अवस्था कहलाई है। इस अवस्था में धारावाहिक वायु सन्तानधारा से विच्युत होकर त्रुटित अवस्था में परिणत होता हुआ एक विशेष प्रकार के 'रव' में परिणत हो जाता है। यही 'रव' भाव 'श्वास' कहलाने लगता है। जो ध्वनि 'भस्त्रा' (धौंकनी) से निकला करती है, वही स्वरूप 'श्वास' का माना गया है।

रवात्मक श्वास ऊपर चढ़ते चढ़ते शिरोगुहा में जा पहुंचता है। जिस प्रकार मुख से निकला हुआ शब्द आवृतगुहा-आदि स्थानों में टकरा कर गूंज उठता है, प्रतिध्वनित हो पड़ता है, ठीक इसी तरह श्वासात्मक वायु शिरोगुहारूप आवृत आकाश में पहुंच कर वहां आहत होता हुआ एक विशेष प्रकार की गूंज में परिणत हो जाता है। श्वासवायु की यह प्रतिध्वनित-अवस्था ही 'नाद[4]' अवस्था कहलाई है।

नादात्मक श्वासवायु शिरोगुहा में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है, जैसे कि सिंहादिवन्यपशुओं का नाद पर्वत कन्दराओं में चारों ओर फैल जाता है। नाद की इस व्याप्तिअवस्था का ही नाम पांचवीं 'श्रुति[5]' अवस्था है, जोकि श्रुति आगे जाकर स्वरद्वारा वर्णों की प्रतिष्ठा बनती है। नाद का आभ्यन्तररूप ही 'श्रुति' है। एक संगीतज्ञ स्वरसंधान से पहिले अपने मन ही मन में (अन्तर्जगत) अस्फुटरूप से कुछ कुछ गुनगुनाने लगता है। इसका यह गुनगुनाना नाद का ही दूसरा रूप है, एवं यही 'श्रुति' है। इसी श्रुति के आधार पर 'स्वर' का वितान होता है।

शिरोगुहा में चारों ओर व्याप्त रहने वाला श्रुतिभाव आगे जाकर उसी प्रकार बाह्यआकाश में वितत हो जाता है, जैसे कि पर्वतकन्दराओं में फैला हुआ निनाद कालान्तर में बाह्य आकाश में व्याप्त हो जाता है। यही उस प्राण की छठी 'स्वर[6]'अवस्था है। इसे ही सङ्गीतज्ञ 'आलाप' कहा करते हैं। श्रुति के अनन्तर ही सङ्गीतज्ञ के मुख से 'आलाप' का उत्थान होने लगता है।

आलापलक्षण स्वर की 'उरः कण्ठ-शिरः' (छाती-गला-मस्तक) इन तीन स्थानों के साथ टक्कर होती है, जो कि तीन स्थान शिक्षावादियों की परिभाषा में क्रमशः (यागयज्ञ के 'प्रातःसवन' माध्यन्दिनसवन, सायंसवन' नामों से प्रसिद्ध हैं। इसी स्थानत्रयी के आघात-प्रत्याघात में पड़ने से कायाग्नि-मिश्रित वही प्राणतत्त्व 'वर्ण[7]' रूप में परिणत हो जाता है, जिसे कि हम इस प्राण की सातवीं अवस्था

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहेंगे। प्राण की स्वरावस्था ही वर्णप्रतिष्ठा, तथा वर्ण-स्वरूपनिष्पत्ति का कारण बनती है। इस प्रकार उक्त रूप से त्रिकास्थिगत, तेजोमय प्रतिष्ठा-प्राण की सात अवस्था हो जाती हैं। इसी 'प्राणसप्तकविज्ञान' का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं—

'अथ'वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः। 'वायुं' प्रकृतिमाचार्य्याः। वायुर्मूर्च्छन् 'श्वासो' भवति। श्वासो 'नाद' इति शाकटायनः। वायुरस्मिन् काये मूर्च्छति। स खलु स्व-विशेषं प्रतिपन्नः 'श्वसिति' भवति। स श्वसितिः शिरः प्रतिपन्न आकाशमद्वारकं 'नदति' भवति। तस्येदानीं नदतेर्जिह्वाग्रेणेर्य्यमाणस्य व्यक्तयः प्रादुर्भवन्ति वर्णानाम्'।

—ऋक्तन्त्र

स्वयं प्राणतत्त्व एक 'शक्ति' विशेषरूप होने से 'अमूर्त्त' बनता हुआ अपने आप व्यापार करने में तब तक असमर्थ है, जब तक कि किसी 'मूर्त्त' द्रव्य का आश्रय न ले ले। वाक्नामक मूर्त्तभाव को अपना आलम्बन बनाकर ही अमूर्त्त प्राण उक्त सात अवस्थाओं में परिणत होता है। अतएव ऋक्तन्त्र ने प्राण की इस सप्तवृत्ति के लिए 'अथ वाचो वृत्तिं व्याख्यास्यामः' यह कह दिया है। इसी आधार पर हम इस सप्तक का 'वाग्विवर्त्त' भी कह सकते हैं, एवं 'प्राणविवर्त्त' भी कह सकते हैं। इन सात वाग्विवर्त्तों, किंवा प्राणविवर्त्तों में से प्रकृत में सबसे पहिले के प्राणविवर्त्त की ओर, अन्त के स्वरविवर्त्त, तथा वर्णविवर्त्त की ओर ही पाठकों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है। क्योंकि हमारी इस प्रस्तुत 'वर्णव्यवस्था' का सातों में से 'प्राण-स्वर-वर्ण' इन तीन अवस्थाओं के साथ ही प्रधान सम्बन्ध है।

वाक्प्रयोग (शब्दप्रयोग)—'वर्ण—अक्षर—पद—वाक्य' इन चार संस्थाओं में विभक्त माना गया है। इन चारों संस्थाओं में पूर्व-पूर्वसंस्था से उत्तर-उत्तर-संस्था का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अक्षर 'वर्णघटित' है, पद 'अक्षरघटित' है, एवं वाक्य 'पदघटित' है। वर्णसमुच्चय अक्षरस्वरूप का, अक्षरसमुच्चय पदस्वरूप का, एवं पदसमुच्चय वाक्यस्वरूप का संग्राहक बना हुआ है। यद्यपि एक एक वर्ण भी अक्षर माना गया है। 'अ—इ—उ—' ये स्वरात्मक वर्ण अक्षर भी कहलाए हैं, एवं वर्ण भी कहलाए हैं। विशुद्ध एक अक्षर भी पद कहलाए हैं। 'च—वा—ह—हि—न—' इत्यादि को अक्षर भी कहा गया है, एवं इन्हें पद भी माना गया है। एवमेव विशुद्ध एक पद भी वाक्य कहलाया है। 'किं—कथं—कोऽहं—' इन्हें पद के साथ साथ वाक्य भी माना गया है। तथापि इन सब सङ्केत-व्यवहारों का तत्तत् प्रस्थानान्तरों की अपेक्षा से ही समन्वय करना न्यायसङ्गत होगा। एवं पूर्वोक्त नियमव्यवस्था को ही सामान्य व्यवस्था मानना उचित होगा।

'वर्णाक्षरपदवाक्य'—चतुष्टयी में से पहिले वर्ण का ही विचार कीजिए। वर्णतत्त्व का हम—'स्वर—व्यजन' भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इन दोनों में 'अक्षर' स्वरात्मक वर्ण ही माना जायगा। यदि स्वरात्मक वर्ण के साथ व्यञ्जनात्मक वर्ण का सम्बन्ध रहेगा, तो व्यञ्जनविशिष्ट स्वरात्मकवर्ण को ही 'अक्षर' कहा जयगा, जैसा कि 'स्वरोऽक्षरम्—' सहाद्यै र्व्यञ्जनैः—उत्तरैश्चावसितैः' (शुक्लयजुःप्रातिशाख्य, १ अ० ।९९-१००-१०१ सू०) इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी भेद के आधार पर वर्ण, तथा अक्षर को भिन्न-भिन्न वस्तुतत्त्व माना जायगा। यदि वर्ण और अक्षर एक ही वस्तु होती,

---

१ लगभग इसी ऋक्तन्त्र-सिद्धान्त से मिलता जुलता वर्णोत्पत्ति-क्रम शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित शिक्षा-वचनों से स्पष्ट है —

१—आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्॥
२—मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। (प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥
३—कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्। तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥)
४—सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥
५—स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत॥

—पाणिनीय-शिक्षा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो व्यञ्जन को भी अक्षर कहा जाता, क्योंकि व्यञ्जन भी वर्ण है। साथ ही में उस दशा में व्यञ्जनविशिष्ट स्वर कभी 'एकाक्षर' न कहलाता। फलत: अक्षर और वर्ण का पार्थक्य भलीभांति सिद्ध हो जाता है। दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तः' इत्यादि आप्त वचन स्वर एवं वर्ण का पार्थक्य ही बतला रहा है। यहां स्पष्ट ही वर्णशब्द व्यञ्जन का अभिप्राय व्यक्त कर रहा है। 'वागित्येकमक्षरम्'—अक्षरमिति त्र्यक्षरम्' एकाक्षरा वैवाक्' (ताण्ड्य ब्रा० ४।४।३) इत्यादि श्रौत वचन भी इसी भेद का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। 'वाक्' शब्द में यद्यपि—'व्-अ-अ-क्' इस रूप से वर्ण चार हैं, परन्तु अक्षर एक ही ('आ' कार ही) माना जाता है। इसी प्रकार 'अक्षरम्' शब्द में—'अ-क्-ष्-अ-र्-अ-म्' इस रूप से वर्ण यद्यपि सात हैं, परन्तु अक्षर तीन ही (अ क्ष—रम्) माने गए हैं। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, वर्णशब्द व्यञ्जन की तरह स्वर का वाचक बनता हुआ भी प्रधानरूप से व्यञ्जन का ही द्योतक है। व्यञ्जन को वर्ण कहा जायगा, स्वर को अक्षर कहा जायगा। इस वर्ण और स्वर के अतिरिक्त एक तीसरा 'स्फोट' तत्त्व और है। वर्ण (व्यञ्जन) का आलम्बन 'स्वर' है, सर्वालम्बन 'स्फोट' है। स्फोट मनोमूर्त्ति अव्यय का प्रतिनिधि है, स्वर प्राणमूर्त्ति अक्षर का प्रतिनिधि है, एवं वर्ण वाङ्मूर्त्ति क्षर का प्रतिनिधि है। परब्रह्म के 'अव्यय अक्षर—क्षर' नामक तीन विवर्त्त ही शब्दब्रह्म के 'स्फोट—स्वर—वर्ण' नामक तीन विवर्त्त हैं। दोनों विवर्त्त समानधारा से प्रवाहित हैं।

अव्ययपुरुष मनोमूर्त्ति होने से 'ज्ञानप्रधान' है, अक्षरपुरुष प्राणमय होने से 'क्रियाप्रधान' है, एवं क्षरपुरुष वाङ्मय बनता हुआ 'अर्थप्रधान' है। मनःप्राणगर्भित (अव्यय-अक्षर गर्भित) वाक् तत्त्व ही अव्ययाक्षर-क्षर-समष्टिलक्षण 'परब्रह्म' के विकास का कारण बना है, एवं यही वाक्तत्त्व स्फोट-स्वर-वर्णसमष्टिलक्षण 'शब्द ब्रह्म' के विकास का कारण बना है। परब्रह्म, तथा शब्दब्रह्म दोनों एक ही (मनः प्राणगर्भित-) वाक्तत्त्व के विवर्त्त हैं, और शब्दार्थ के तादात्म्य का यही मौलिक रहस्य है। अव्यय अमृतप्रधान है, तो तत्सम स्फोट भी अमृतप्रधान है। अक्षर अपने व्यक्तिगतरूप से अमृतप्रधान, तथा क्षर को अपने गर्भ में रखता हुआ मृत्युमय है, तो तत्सम स्वर (अ-आ-आदि) अपने व्यक्तिगतरूप से अमृतप्रधान, तथा क्षरस्थानीय वर्णों (क-च-ट त-पादि व्यञ्जनों) को अपने गर्भ में रखता हुआ मृत्युमय है। क्षर मृत्युप्रधान है, तो तत्सम वर्ण भी मृत्युप्रधान ही है। अव्ययपुरुष सर्वालम्बन है, तो तत्सम स्फोट भी सर्वालम्बन बना हुआ है। अक्षरपुरुष भौतिक क्षरप्रपञ्च का आधार बना हुआ है, तो स्वरप्रपञ्च वर्ण-(व्यञ्जन) प्रपञ्च की आधारभूमि बन रहा है। बिना अक्षर का सहारा लिए यदि क्षरतत्त्व विकास में असमर्थ है तो बिना स्वर का सहारा लिए वर्णों (व्यञ्जनों) का भी उच्चारण असम्भव है।

वही अव्ययपुरुष अपने 'हृदयभाव' के कारण 'अक्षर' बना हुआ है, एवं वही अक्षर अपने बलप्रधान मृत्युभाव से 'क्षर' बना हुआ है। इस तरह परम्परया अव्यय की ही सर्वता सिद्ध हो रही है। अपने ही क्षररूप की दृष्टि से अव्ययेश्वर जहां वर्णसृष्टि के कर्त्ता कहे जा सकते हैं, वहां अपने विशुद्ध अव्ययरूप की दृष्टि से इन्हें अकर्त्ता भी माना जा सकता है। इन्हीं क्षरविशिष्ट-विशुद्ध, दोनों रूपों से सम्बन्ध रखने वाले कर्तृत्व-अकर्तृत्व दोनों विरुद्ध भावों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
> तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि अकर्त्तारमव्ययम्॥
>
> —गीता ४।१३।

"अव्ययेश्वर ने गुण-कर्म्म विभाग के आधार पर 'चातुर्वर्ण्य' उत्पन्न किया" इस वाक्य के गुण कर्म्म भावों की मीमांसा तो आगे चल कर होगी। अभी हमें 'वर्ण' शब्द की निरुक्ति का विचार करना है, जो कि 'वर्णनिरुक्ति' इस परिच्छेद का मुख्य विषय है। 'वर्ण' शब्द वरणार्थक 'वृञ्' धातु (वृञ्'-वरणे, स्वा० उ०से०) से भी सम्पन्न होता है, एवं प्रेरणार्थक 'वर्ण' धातु ('वर्ण'-प्रेरणे, प० स०) से भी निष्पन्न होता है। हमारी इस वर्णव्यवस्था के साथ दोनों ही अर्थों का समन्वय किया जा सकता है। कारण वर्णसृष्टि संवरण भी करती है, एवं यही वर्णसृष्टि आत्मप्रेरणा का भी आलम्बन बनती है। पहिले संवरण-दृष्टि से ही विचार कीजिए। आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान-विकास को आवृत करनेवाला आत्मा का 'सुप्त' रूप माना गया है। मायोपाधि के सम्बन्ध से एक ही आत्मतत्त्व के, किंवा ब्रह्मतत्त्व के सुप्त-प्रविष्ट-प्रविविक्त' ये तीन रूप हो जाते हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट पाञ्चभौतिक विश्व उस का 'सुप्त' रूप है। इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाञ्चभौतिक विश्व के हृदय में 'हृ-द-य' रूप से प्रतिष्ठित रह कर अपनी नित्यनियति से विश्वधर्म्मों का सञ्चालन करनेवाला, विश्वसृष्टि का निमित्त कारण बना हुआ अन्तर्यामी उसी ब्रह्म का 'प्रविष्ट' रूप है। एवं विश्वसीमा के भीतर-बाहर सब ओर असङ्गरूप से केवल आलम्बनरूप से रहता हुआ, विश्व-कार्य्य-कारणभावों से उन्मुक्त रहता हुआ व्यापकतत्व उसी ब्रह्म का 'प्रविविक्त' रूप है। इस प्रकार एक ही विश्वात्मा तीन भावों में परिणत हो रहा है, जिसे कि हम 'परब्रह्म' नाम से अबतक व्यवहृत करते आए हैं।

उक्त तीनों रूपों का क्रमशः 'अव्यय-अक्षर-क्षर' भावों के साथ सम्बन्ध है। आत्मा का क्षररूप भौतिक विश्व का 'उपादान' बनता हुआ 'सृष्टब्रह्म' है, अक्षररूप विश्व का नियन्ता बनता हुआ 'प्रविष्टब्रह्म' है, एवं अव्ययरूप असङ्ग रहता हुआ 'प्रविविक्तब्रह्म' है। इन तीनों में अव्ययब्रह्म ज्ञानज्योतिप्रधान, अक्षरब्रह्म क्रियाशक्तिप्रधान, एवं क्षरब्रह्म अर्थशक्तिप्रधान बतलाया गया है। अर्थतत्व ही ज्ञान-क्रिया का संवरण करता हुआ सृष्टरूप में परिणत हो रहा है। इसी सृष्टरूप से—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (गी० ७।२५) इस गीतासिद्धान्त के अनुसार आत्मविकास आवृत हो रहा है। और अपने आवरणलक्षण इसी संवरणभाव से सृष्टात्मक क्षरपुरुष को हम 'वर्ण' कहने के लिए तय्यार हैं, जो कि क्षरात्मक, संवरणधर्म्मा वर्ण आगे जाकर चार भागों में विभक्त होता हुआ 'चातुर्वर्ण्य' भाव का प्रेरक बनता है। जहाँ यह अपने संवरणधर्म्म के कारण वरणार्थक 'वृञ्' धातु से अपने वाचक 'वर्ण' शब्द का स्वरूप सम्पादक बनता है, वहां यह अपने इस वर्णसृष्टिप्रेरणाभाव के कारण प्रेरणार्थक 'वर्ण' धातु से अपने वाचक वर्ण शब्द की स्वरूप निष्पत्ति का भी हेतु बना हुआ है। परब्रह्मविवर्त्त में जिस प्रकार सृष्ट क्षरप्रपञ्च अपने संवरण तथा प्रेरणाधर्म्मों से वर्ण बना हुआ है, एवमेव शब्दब्रह्मविवर्त्त में क्षरस्थानीय व्यञ्जन-प्रपञ्च ने अपने बाह्यरूप से शब्दप्रपञ्च का संवरण तथा प्रेरणा करते हुए 'वर्ण' नाम धारण कर रक्खा है। परब्रह्म का सृष्टरूप क्षर है, तो शब्दब्रह्म का सृष्टरूप 'वर्ण' व्यञ्जन है। परब्रह्म में जैसे अव्ययाक्षरक्षर तीनों में से केवल सृष्ट क्षरब्रह्म ही दृष्टि का विषय बनता है, अव्ययाक्षर निगूढ बने रहते हैं, एवमेव शब्दब्रह्मविवर्त्त में स्फोट स्वर निगूढ बने रहते हैं, एवं वर्णसमाम्नाय ही दृष्टि का आलम्बन बनता है। कहने का तात्पर्य यही हुआ कि, संवरण और प्रेरणाधर्म्मों से ही परब्रह्म का क्षरभाग, एवं शब्दब्रह्म का व्यञ्जन भाग 'वर्ण' कहलाया है, एवं यही वर्णशब्द की सामान्य निरुक्ति है, जिसका कि विशेष विस्तार पाठक अगले परिच्छेद में देखेंगे।

ब्रह्ममूला, किंवा वर्णमूला-वर्णव्यवस्था—

सम्पूर्ण विश्व 'शब्द-अर्थ' भेद से दो भागों में विभक्त है, एवं—'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गी० १५।१६) इस गीतासिद्धान्त के अनुसार शब्द-अर्थ, दोनों ही क्षरप्रधान बनते हुए वर्णात्मक हैं। और इसी दृष्टि से विश्व एक "वर्णात्मक" वस्तुतत्व ही माना जायगा। जब तक विश्व में वर्णकृता (क्षरकृता, एवं व्यञ्जनकृता) वर्णव्यवस्था व्यवस्थित है, तभी तक शब्दार्थ-समष्टिरूप विश्व की स्वरूपरक्षा है। जो वर्ण जिस गुण-कर्म्म के द्वारा जिस स्थान पर प्रतिष्ठित है, उस स्थान-गुण-कर्म्म से युक्त रहता ही वह वर्ण अपने स्वरूप-विकास का कारण बना हुआ है। जिनके वर्णस्थान भ्रष्ट हो जाते हैं, अपनी स्थान-करण-प्रयत्नादि व्यवस्थाओं को छोड़ देते हैं उनका वाग्ब्रह्म अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठता है इसी प्रकार अर्थब्रह्मविवर्त्त से सम्बन्ध रखनेवाले वर्ण भी स्व-स्व वर्णधर्म्मों का परित्याग करते हुए अपना स्वरूप खो बैठते हैं। वर्णतत्त्व ही पदार्थ का संग्राहक है, इसी ने पदार्थस्वरूप का रक्षादुर्ग की भांति संवरण कर रक्खा है। संवरणभाव एक प्रकार की सीमा है, छन्द है। यह छन्दोरूप वर्ण ही तत्तद्वर्गों का स्वरूपरक्षक माना गया है। छन्दोवर्णात्मिका अपनी २ सीमा में प्रतिष्ठित रहता हुआ वर्ण स्वस्वरूप से सुरक्षित, तथा प्रतिष्ठित रहता है। जिस पदार्थ ने अपना संवरणलक्षण यह वर्णधर्म्म खो दिया, समझ लीजिए उसका अस्तित्व ही संसार से उठ गया। क्योंकि—'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गी० १८।४५) की मूलप्रतिष्ठा—'स्वे स्वे वर्णेऽभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' यही सिद्धान्त बनता है।

शब्दात्मिका वर्णनिरुक्ति को थोड़ी देर के लिए यहीं विश्राम देकर अर्थात्मक वर्णभाव का विचार कीजिए। पाठकों को स्मरण होगा कि हमने क्षरपुरुष को ही वर्ण की मूलप्रतिष्ठा बतलाया था, एवं साथ ही उसे वाङ्मय कहा था। अन्त में यह भी स्पष्ट किया गया था कि, अव्ययपुरुष ही परम्परया क्षरमूला इस वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। अव्ययपुरुष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सदसल्लक्षण बनता हुआ ब्रह्म-कर्म्म (ज्ञान-क्रियामय) है जैसा कि, 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। आनन्द विज्ञान-मनोमय (अन्तर्म्मनोमय) अव्यय 'ब्रह्माव्यय' है, एवं मनः-(बहिर्मनः) प्राण-वाङ्मय वही अव्यय 'कर्म्माव्यय' है। ब्रह्मात्मक वही अव्यय मुमुक्षावृत्ति से 'मुक्तिसाक्षी' बना हुआ है, एवं कर्म्मात्मक वही अव्यय सिसृक्षावृत्ति से सृष्टिसाक्षी' बना हुआ है। ब्रह्ममय अव्ययमन ज्ञानघन है। इस ज्ञान का स्रोत कर्म्माव्ययभागस्थ मन में प्रवाहित होता है। इस ज्ञानधर्म्म के समावेश से ज्ञानमय बने हुए सृष्टिसाक्षी कर्म्ममय अव्यय मन में सृष्टि-कामना उदित होती है। कामना से प्राण में क्षोभ का सञ्चार होता है, जोकि विक्षेपात्मक प्राणक्षोभ 'तपःकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। इस तपःकर्म्म से तीसरा वाक्तत्त्व क्षुब्ध हो पड़ता है, जोकि वाक्क्षोभ 'श्रमकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। काम-तपः-श्रम के समन्वय से सृष्टिधारा चल पड़ती है। इन तीनों व्यापारों में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षरपुरुष निमित्त बनते हैं। काम का विकास मनःप्रधान स्वयं अव्यय से, तप का सञ्चालन प्राणप्रधान अक्षर से, एवं श्रमव्यापार वाक्प्रधान क्षर से होता है। कारण इसका यही है कि, कर्म्माव्यय का ज्ञानमय मनोभाग स्वयं कर्म्माव्यय का प्रतिष्ठा बनता है, क्रियामय प्राणभाग अक्षर की प्रतिष्ठा बनता है, एवं अर्थमय वाग्भाग क्षर की प्रतिष्ठा बनता है। स्फोट स्थानीय, मनोमय, कामसमुद्र, अव्यय सृष्टि का आलम्बन कारण है, स्वरस्थानीय, प्राणमय, तपोमूर्त्ति अक्षर सृष्टि का निमित्त कारण है, एवं वर्णस्थानीय, वाङ्मय, श्रमप्रवर्त्तक, क्षर सृष्टि का उपादान कारण है। उपादान कारण की सत्ता से कार्यसत्ता का उदय होता है, अतएव उपादानकारण, और तदुत्पन्नकार्य्य, दोनों अभिन्नसत्तात्मक माने गए हैं। इसी दृष्टि से वाङ्मय क्षररूप उपादान कारण से उत्पन्न होनेवाले इस कार्य्यरूप विश्व को भी हम वाङ्मय, किंवा क्षररूप ही कहने के लिए तय्यार हैं।

सृष्टिसाक्षी मनः प्राण-वाङ्मय कर्म्मात्मा अपने मनोरूप की अपेक्षा से भारूप है, सत्यसंकल्प है। प्राणरूप की अपेक्षा से वही सर्वकर्म्मा है, एवं वाक्भाव की अपेक्षा से आकाशात्मा है। आकाश ही 'वाक्' कहलाता है। वाक् इन्द्रतत्त्व है, एवं इन्द्रतत्त्व ही विकास लक्षण आकाश है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। कर्म्मात्मा के इसी त्रिकल स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> 'मनोमयः, प्राणशरीरो, भारूपः, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्म्मा, सर्वकामः'
>
> —छान्दोग्यउप० ३।१४।२।

अर्थप्रपञ्च रूप-प्रधान है, एवं शब्दप्रपञ्च नाम-प्रधान है। दोनों की मूलप्रतिष्ठा वाग्रूप आकाश ही माना गया है, जैसा कि—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० उ० ८।१४।१) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। 'आकाश एव सर्वेषां भूतानामेकायतनम्' (वृ० आ० ३।६।१०) इत्यादि श्रुति के अनुसार आकाशात्मिका वाक् ही सम्पूर्ण भूतों का महाआलम्बन है। यही आलम्बनरूपा वाक् विश्वरूप में परिणत होती हुई अर्थब्रह्म-लक्षण 'महापुरुष' का, एवं शब्द ब्रह्मलक्षण 'छन्दःपुरुष' का आयतन (शरीर) है।

भूतजननी, किंवा विश्वजननी वाग्देवी मनः-प्राण से नित्य युक्त बतलाई गई है। मन पर प्रतिष्ठित प्राण 'हित' कहलाया है, एवं प्राण पर प्रतिष्ठित वाक् 'उपहिता' कहलाई है—(देखिए, शत० ६।१।२।१५)। हितप्राण अपनी मूलभूता क्षर नाम की बहिरङ्गप्रकृति के अन्न अन्नादभावों से युक्त होता हुआ 'सौम्य-आग्नेय' भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। इस हितप्राण के सम्बन्ध से इस पर उपहिता वाक् के भी सौम्य-आग्नेय, दो भेद हो जाते हैं। साथ ही में दोनों के पारस्परिक गर्भभाव से दो विभिन्नरूप हो जाते हैं। आग्नेयीवाक्गर्भिता 'सौम्या वाक्' 'सरस्वती' नाम से, एवं सौम्यावाक्गर्भिता 'आग्नेयीवाक्' 'आम्भृणी' नाम से व्यवहृत हुई है। सरस्वतीवाक् से शब्दब्रह्म का, एवं आम्भृणीवाक् से परब्रह्म-लक्षण अर्थब्रह्म का विकास हुआ है, यह पूर्व की वर्णनिरुक्ति में कहा ही जा चुका है।

आग्नेयी वाक् 'अमृताकाश' है, यही 'इन्द्र' है, एवं इसी से 'देवसृष्टि' हुई है। सौम्यावाक् 'मर्त्याकाश' है, यही 'इन्द्रपत्नी' है, एवं इसी से 'भूतसृष्टि' हुई है। आत्म-प्रजापति अपनी वाक्द्वयी से देव-भूत निम्ना इसी प्रजाद्वयी से प्रजापति बन रहे हैं। यद्यपि-देवसृष्टि की प्रभूप अमृतावाक् लक्षण इन्द्र से ही हुई है, परन्तु भौतिक मर्त्य-जगत में इस देवसृष्टि की प्रतिष्ठा मर्त्यवाक् लक्षण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रपत्नी ही बनती है। न केवल देवसृष्टि की ही, अपितु भूतसृष्टि के गर्भ में रहने वाली गन्धर्व-पशु-मनुष्यादि जितनी भी सृष्टियां हैं, सबकी प्रतिष्ठाभूमि यही इन्द्रपत्नी है, जैसा कि, निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।

निष्कर्ष यही हुआ कि, सृष्टिसञ्चालिका वाक् अग्नि-सोम, दोनों धर्म्मों से नित्य युक्त है। अग्नितत्त्व 'उष्माप्रधान' है, सोमतत्व 'स्पर्शप्रधान' है। विकास उष्मा से सम्बन्ध रखता है, यही तेज का स्वाभाविक धर्म्म है, एवं यही अग्नि की प्रतिष्ठा है। संकोच स्पर्श से सम्बन्ध रखता है, यही 'स्नेह' का स्वाभाविक धर्म्म है, एवं यही सोम की प्रतिष्ठा है। वाग्देवी के स्पर्श-ऊष्मालक्षण (संकोच-विकास लक्षण) सौम्य-आग्नेय धर्म्मों के सम्बन्ध तारतम्य से एक ही अकार से वैदिक-'पथ्यास्वस्ति' (वर्णमातृका) से सम्बन्ध रखने वाले २८८ वर्ण विकसित हुए हैं, जैसा कि महीदास कहते हैं—

'अकारो वै सर्वा वाक्—
सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति'।

—ऐतरेय आरण्यक २।३।६।

यही स्पर्श-ऊष्माभाव अर्थसृष्टि का विभाजक बनाहुआ है। मर्त्यावाक्-रूप मर्त्याकाश बलग्रन्थियों से सर्वप्रथम 'वायु' रूप में (अविकृतपरिणामवाद को लक्ष्य में रखता हुआ) परिणत होता है। वायु से 'तेज' (अग्नि), तेज से 'जल', जल से 'पृथिवी' (मिट्टी) उत्पन्न होती है। आकाश की स्थूलावस्था 'वाक्' है। वाक् की स्थूलावस्था अग्नि है, अग्नि की स्थूलावस्था जल है, एवं जल की स्थूलावस्था मिट्टी है। सर्वारम्भ में स्थूलतम मिट्टी, इससे ऊपर जल, जल से ऊपर तेज, तेज से ऊपर वायु, वायु से ऊपर आकाश (वाक्) है। आकाशात्मिका वाक् की अपेक्षा 'हित' नामक प्राणतत्त्व सूक्ष्म है, प्राणापेक्षया मन सूक्ष्म है। मन की स्थूलावस्था प्राण है, प्राण की स्थूलावस्था वाक् है, वाक् की स्थूलावस्था पञ्चमहाभूत वर्ग है। सुसूक्ष्म मन एवं सूक्ष्म प्राण, दोनों की समष्टि मूलकारण लक्षण अविकृत आत्मा है, स्थूलवाक् प्रपञ्च इस कारण आत्मा का कार्य है। निष्कर्ष यही हुआ कि, आत्मा से (मनोमय सौम्य प्राण से) सर्वप्रथम 'वाक्' का विकास होता है, एवं वाक् से बलग्रन्थियों के तारतम्य से भूतवर्ग विकसित होता है। इसी क्रमिक सृष्टिधारा का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद्वायुः
वायोरग्निः
अग्नेरापः
अद्भ्यः पृथिवी'

—तै० उपनिषत् २।१।

मन ज्ञानशक्तियुत है, प्राण क्रियाशक्तियुत है, पञ्चभूतात्मिका वाक् अर्थशक्तियुत है, तीनों की समष्टि ही विश्व है, एवं तीनों की समष्टि ही विश्वगर्भ में रहने वाली प्रजा है। प्रजा का स्वरूप चूंकि इन्हीं तीनों विवर्त्तों से सम्पन्न हुआ है, अतएव प्रजावर्ग को अपनी स्वरूपरक्षा के लिए इन तीनों की सतत अपेक्षा बनी रहती है, जैसा कि—'यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' (बृ. आ. १।५।१) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। प्रत्येक मनुष्य निरन्तर कुछ न कुछ जानने की चेष्टा किया करता है, एवं यथाशक्ति चेष्टानुसार कुछ न कुछ जाना करता है। यही पहिला मानस—'ज्ञानान्न' है। निरन्तर कुछ न कुछ करते रहना भी प्रजा जीवन का स्वाभाविक हेतु बना हुआ है, यही दूसरा प्राणरूप—'क्रियान्न' है। तीसरा वाग्रूप अर्थान्न पांच भूतों के कारण पांच भागों में विभक्त है। शब्द—'आकाशान्न' है, श्वास-प्रश्वास 'वाय्वन्न' है, प्रकाश 'तेजोऽन्न' है, 'जलान्न' एवं मृण्मय गोधूमादिलक्षण 'ओषधि-वनस्पत्यन्न' प्रसिद्ध ही है। इन सात प्राकृतिक अन्न में से ज्ञान-क्रिया-शब्द-श्वासप्रश्वास तेज, ये पांच अन्न तो प्रजापति की ओर से मिलते रहते हैं, एवं शेष दो (पानी-मिट्टी) के लिए प्रजा को अपनी ओर से भी थोड़ा प्रयास करना पड़ता है। इस सम्पूर्ण वाक् प्रपञ्च से बतलाना हमें केवल यही है कि, विश्वातीत अव्ययपुरुष के मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मभाव का ही विकास है।

विद्या-कर्म्म अव्ययात्मा का मनःप्राण-वाङ्मय यह कर्म्मरूप ही अपनी मुग्धावस्था में 'सत्' नाम से प्रसिद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। 'सत्ता' में तीनों कलाओं का समावेश है, किंवा तीनोंके समन्वितरूप का ही नाम सत्ता है। 'मनः-प्राण-वाचां सघातः सत्ता' ही सत्ताभाव का निर्वचन है। सत्ता से परे तदभिन्न चित है, यही विज्ञान है। एवं सर्वान्तरतम आनन्द है। आनन्द 'आनन्द' है, विज्ञान 'चित' है, मनः-प्राणवाक्-भावों की समष्टिरूपा सत्ता 'सत' है, सब का समुच्चय 'सच्चिदानन्दब्रह्म' है। इन तीनों रूपों में (सत-चित-आनन्द रूपों में) ब्रह्म का सत्यलक्षण 'सत्ता' रूप ही विश्वप्रजा का प्रधान उपास्य बनता है। सत्तोपासना से चित की प्राप्ति होती है, चित विकास से आनन्द विकसित हो पड़ता है। अतएव 'आनन्द-चित सत' इस प्राकृतिक क्रम को बदल कर उपासना-क्रम की दृष्टि से ब्रह्म का 'सत-चित-आनन्द' यह क्रम रक्खा गया है। सत्ता-ग्रहण से तीनों गृहीत हैं। सर्वानुभूत 'अस्ति' तत्त्व ही ब्रह्म के साक्षात दर्शन हैं। इसी सत्तोपलब्धि का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१–नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

—कठोपनिषत् ६।१२

२–असन्नेव स भवति, 'असद् ब्रह्मे' ति वेदचेत्।
'अस्ति ब्रह्मे' ति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

३–अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

—कठोपनिषत् ६।१३

सत्ताब्रह्म के 'मनः-प्राण-वाक्' ये तीन रूप कहने भर के लिए तीन रूप हैं। वस्तुतः तीनों तीन न होकर एकतत्त्व' है। भाति तीन हैं, सत्तारस एक है। वह एक ही सत्तारस बलचिति के तारतम्य से इन तीन भातियों में परिणत दिखलाई पड़ रहा है। इसी प्रकार 'आनन्द- चित-सत' भी परमार्थकोटि में एक ही तत्त्व है। जो 'है' वही तो जाना जाता है, उपलब्धि ही तो ज्ञान है, 'घटोऽस्ति' यह सत्तोपलब्धि ही तो ज्ञान, किंवा चित है, सत्ता का ही तो ज्ञान होता है, ज्ञान ही तो एक प्रकार की तृप्ति है, तृप्ति ही तो रस है, और रस ही तो आनन्द है। फलतः तीनों का एकतत्त्वभाव भलीभांति सिद्ध हो जाता है।

सृष्टिप्रपञ्च से पहिले ब्रह्म सर्वथा एकाकी था वह अपने इस एकाकी रूप से वैभवशाली न बन सका। इसी वैभव की कामना से उसे अपने अपने ब्रह्मरूप को 'ब्रह्म-कर्म्म' भेद से दो भागों में परिणत करना पड़ा। आनन्द-विज्ञान-मनोरूप से वह ब्रह्म 'ब्रह्ममूर्त्ति' बन गया, एवं 'मनः-प्राण-वाग्, रूप से वह ब्रह्म 'कर्म्ममूर्त्ति' बन गया। परन्तु अभी वैभवप्राप्ति न हो सकी। क्योंकि बिना ब्रह्म-कर्म्म (ज्ञान-क्रिया) की संसृष्टि के सृष्टि-वैभव सम्भव नहीं है। फलतः ब्रह्म ने अपने ब्रह्मभाग को आधार बना कर कर्म्मभाग से सृष्टिवितान की कामना प्रकट कर डाली। इस इच्छापूर्त्ति के लिए उसे ब्रह्माधार पर (आनन्द-विज्ञान-अन्तर्मनोमय ब्रह्म भाग पर) प्रतिष्ठित अपने कर्म्मभाग को ज्ञान (मन), क्रिया (प्राण), अर्थ (वाक्) इन तीन भागों में विभक्त करना पड़ा। जब ज्ञान क्रिया-अर्थभावों से भी कामनापूर्त्ति न हुई, तो एक चौथा 'भूतभाव' उत्पन्न किया। इन चारों से भी काम न चला, तो सर्वान्त में 'धर्म्म' तत्त्व का आविर्भाव हुआ। ज्ञानमय मन, किंवा मनोमय ज्ञानभाव 'दिव्यभाव' कहलाया। क्रियामय प्राण, किंवा प्राणमय क्रियामय 'वीरभाव' कहलाया। अर्थमयी वाक् किंवा वाङ्मय अर्थभाव 'पशुभाव' कहलाया। अर्थोच्छिष्ट भाग 'भूतभाव' कहलाया। ये ही चारों भाव क्रमशः—'ब्रह्म-क्षत्र-विट् शूद्र' भावों के प्रवर्त्तक बने; जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

ज्ञानशक्ति 'दिव्यभाव' है यही 'ब्रह्मवीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'ब्राह्मणवर्ण' का विकास हुआ है। क्रियाशक्ति 'वीरभाव' है, यही 'क्षत्रवीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'क्षत्रियवर्ण' का विकास हुआ है। अर्थशक्ति 'पशुभाव' है, यही 'विड्वीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'वैश्यवर्ण' का विकास हुआ है। उच्छिष्टभाग 'भूतभाव' है यही 'शूद्रवीर्य्य' है, एवं इसी से प्राकृतिक 'शूद्रवर्ण' का विकास हुआ है। इन चारों प्राकृतिक वर्णों की स्वरूप-रक्षा उसी पांचवें धर्म्मतत्त्व से हो रही है, जिसे कि वैभव-कामुक प्रजापति ने सर्वान्त में उत्पन्न किया था।

पूर्व की 'वर्णनिरुक्ति' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, परब्रह्म का अक्षर विवर्त्त अपने सूत्ररूप के कारण सवरण करता हुआ, एवं प्रेरक बनता हुआ 'वर्ण' कहलाया है। चूंकि उक्त वर्णसृष्टि इसी (मनःप्राणगर्भित) वाङ्मय अक्षर-वर्ण से हुई है, अतएव इस चातुर्वर्ण्य को हम वर्णकृता-वर्णसृष्टि' (अक्षरकृता वर्णसृष्टि) कह सकते हैं। वर्ण (अक्षर) से उत्पन्न होने वाली वर्णसृष्टि ने ही प्रजावर्ग के स्वरूपों का संवरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर रक्खा है। जो धर्म्म क्षत्रात्मक 'वर्ण' में था, वही (संवरण) धर्म्म इस वर्णसृष्टि का है। अतएव इस व्यवस्था को भी 'वर्णव्यवस्था' कहना अन्वर्थ बन जाता है। इसी वर्णकृता-वर्णसृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए योगी याज्ञवल्क्य' कहते हैं—

१—ब्रह्म वाऽइदमग्र आसीत्—एकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं—यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि—इन्द्रो[1], वरुणः[2], सोमो[3], रुद्रः[4], पर्जन्यो[5] यमो[6], मृत्यु[7], रीशान[8]—इति। तस्मात् परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति। सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्, य उ एनं हिनस्ति, स्वां स योनिमृच्छति। स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा।,

२—'स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत—यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते—वसवो[1], रुद्रा[2], आदित्या[3] विश्वेदेवा[4], मरुत[5], इति'।

३—'स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत—पूषणम्। इयं वै पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति, यदिदं किञ्च'।

४—'स नैव व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमसृजत—धर्म्मम्। तदेतत्-क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म्मः। तस्मात् धर्म्मात् परं नास्ति। अथोऽअबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा एवम्। यो वै-स धर्म्मः, सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः—'धर्म्मं वदति' इति। धर्म्मं वा वदन्तं—'सत्यं वदति' इति। एतद्ध्येवैतदुभयं भवति'।

५—'तदेतत्-ब्रह्म, क्षत्रं, विट्, शूद्रः। तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवत्, ब्राह्मणो मनुष्येषु। क्षत्रियेण क्षत्रियो, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः। तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येषु। एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माऽभवत्'।

६—'अथ यो ह वाऽ अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति, स एनमविदितो न भुनक्ति। यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्म्माकृतं, यदि ह वाऽअप्यनेवंविन्महत् पुण्यं कर्म्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयतऽएव। आत्मानमेव लोकमुपासीत, स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते, न हास्य कर्म्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामयते, तत्तत् सृजते ++++ ++ तद्वाऽएतद्विदितं मीमांसितम्'।

—शतपथ ब्रा० १४ कां० ४ अ० २ ब्रा०

—बृ० आ० उप० १।४।११

(१)—"यह (प्रत्यक्षदृष्ट वर्ण प्रपञ्च, किंवा चातुर्वर्ण्य) पहिले (सृष्टि से पूर्वावस्था में) एक 'ब्रह्म' रूप ही था। अर्थात् आज जो हम विश्व में ब्राह्मण क्षत्रियादि भेद भिन्न ब्रह्म के नानारूप देख रहे हैं, सृष्टि से पहिले ब्रह्म के ये नाना रूप न थे, अपितु उस समय स्वयं ब्रह्म ही, एकाकी ही था। वह एकाकी रहता हुआ (स्वसृष्टिकर्म्म के लिए) समर्थ न हो सका। (इस कमी को दूर करने के लिए उस ब्रह्म ने) अपने से भी अधिकश्रेष्ठ 'क्षत्र' रूप उत्पन्न किया जो कि क्षत्रदेवता (आज लोक-वेद में) इन्द्र[1]-वरुण[2]-सोम[3]-रुद्र[4]-पर्जन्य[5]-यम[6]-मृत्यु[7]-ईशान[8], नामों से प्रसिद्ध हैं। चूंकि ब्रह्म का यह अष्टविध 'क्षत्ररूप' स्वयं ब्रह्म से भी उत्कृष्ट था, (श्रेष्ठ था) अतएव (लोक में) क्षत्र से बढ़ कर दूसरा कोई उत्कृष्ट रूप नहीं है। इस (वैशिष्ट्य के) कारण (राजसूययज्ञ में सिंहासनासीन) क्षत्रिय (राजा) की (सिंहासन से नीचे खड़ा हुआ) ब्राह्मण (आशीर्वचनरूप) उपासना किया करता है। (ऐसा करता हुआ) ब्राह्मण (मूर्द्धाभिषिक्त इस) क्षत्रिय राजा में यशोरूप 'वीर्य्य' का ही आधान करता है। यह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्र (क्षत्रिय) की योनि (उत्पत्ति स्थान, निर्गमनद्वार) है। यही कारण है कि, क्षत्रियराजा (अपने क्षत्र-वीर्य्य के अतिशय से, एवं ब्राह्मण प्रदत्त वीर्य्य के प्रभाव से) भले ही कितने ही उत्कृष्ट वैभव पर पहुँच जाय, परन्तु अन्ततोगत्वा (राज्य शासन की ग्रन्थियां सुलझाने के लिए, राजनीतिसूत्र का धर्म्मनीतिपूर्वक सञ्चालन करने के लिए) यह क्षत्रियराजा स्वयोनि (स्वप्रभव प्रतिष्ठा-परायण) रूप ब्रह्म (ब्राह्मण) का ही आश्रय लेता है—(आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है)। जो (अविवेकी, मदान्ध राजा) अपने राज्यवैभव के मद में आकर (अभिमान वश) इस (स्वयोनिरूप) ब्राह्मण की हिंसा (अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा) कर बैठता है, वह अपनी योनि का ही मूलोच्छेद कर डालता है। (स्वयोनिनाशक)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह क्षत्रिय (अपने इस कुकर्म्म से) उसी प्रकार महापापी बन जाता है— (उसी प्रकार इसका पतन हो जाता है), जैसे कि, एक (नीची श्रेणि का) मनुष्य अपने उस पूज्य, श्रेष्ठ, आश्रयदाता की हिंसा कर (जिस का कि आश्रय लेकर वह वैभवशाली बना था) पाप का भागी बन जाया करता है।"

(२)—"(इस प्रकार एकाकी ब्रह्म ने अपने सृष्टि-कर्म्म की सिद्धि के लिए अपने से भी श्रेष्ठ उक्त क्षत्र-देवताओं को उत्पन्न तो कर लिया, परन्तु) अभी उसका लक्ष्य पूरा न हुआ। फलतः उसने 'विट्' प्रजा उत्पन्न की, जो कि 'देवविट्'जा' देवताओं से उत्पन्न होने के कारण 'देवजात' कहलाती है, जिन्हें कि 'गणदेवता' कहा जाता है, एवं जो कि गणदेवता (८)—वसु, (११)—रुद्र, (१२)–आदित्य, (१३)—विश्वेदेवता, (७–किंवा ४९)—मरुत्, इन नामों से प्रसिद्ध हैं"

(३)—"(उक्त गण प्रजारूप 'वैश्य' देवताओं को उत्पन्न कर लेने से भी ब्रह्म का काम पूरा पूरा न बना)। फलतः ब्रह्म ने 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध 'शूद्रवर्ण' उत्पन्न किया। पृथिवी ही 'पूषा' है। जो कुछ (पार्थिव सृष्टि में) हम देख रहे हैं, उस सब की पुष्टि, पोषण, पालन चूंकि इसी पृथिवी से हो रहा है, (अतः इसे अवश्य ही 'पूषा' कहा जा सकता है)"।

(४)—"(इस प्रकार स्व-कर्म्मसिद्धि के लिए ब्रह्मप्रजापति' ने क्रमशः क्षत्र विट् शूद्र देवता उत्पन्न कर, अपने ब्रह्मरूप का इस त्रयी के साथ संयुक्त कर चातुवर्ण्यसृष्टि का स्वरूप सम्पादन कर तो लिया, परन्तु) अभी वह पूर्ण सफल न हो सका। इस पूर्ण सफलता के लिए ही (सर्वान्त में—चारों वर्णों से) उत्कृष्ट, श्रेष्ठ 'धर्म्म' तत्त्व उत्पन्न किया। (धर्म्मतत्त्व चारों वर्णप्रजाओं से श्रेष्ठ बनता हुआ, सर्वज्येष्ठ, तथा सर्वश्रेष्ठ है, इसमें यही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि) जैसे एक क्षत्रिय राजा अपने राजदण्ड के बल पर एक अपराधी को दण्ड देने में अणुमात्र भी संकोच नहीं करता एवमेव एक निर्बल मनुष्य धर्म्मदण्ड का सहारा लेता हुआ एक ऐसे सबल मनुष्य की भी भर्त्सना कर डालता है, जो कि सबल मनुष्य अधर्म्मपथ का अनुगमन करता है। अर्थात् धर्म्मसूत्र को आगे कर एक छोटी श्रेणी का मनुष्य बड़ी श्रेणी के मनुष्य का भी तिरस्कार कर देता है। जो यह धर्म्म है, वह 'सत्य' ही है। सत्य का ही नाम धर्म्म है। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जो मनुष्य सत्य-सत्य बात कहता है उस) सत्य कहनेवाले के लिए (लोक में)—'यह धर्म्म की बात कह रहा है' यह कहा जाता है। एवं धर्म्मपूर्वक निर्णय करनेवाले के लिए—'यह सच सच कह रहा है' यह कहा जाता है। वास्तव में सत्य ही धर्म्म है, धर्म्म ही सत्य है। दोनों दोनों हैं, एकरूप हैं।"

(५)—"(ब्रह्मद्वारा प्रादुर्भूत उक्त देवता ही क्रमशः प्राकृतिक, नित्य) ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' नामक चार वर्ण हैं। (जिस ब्रह्म ने इतर तीन वर्णों का विकास किया, वह स्वयं देववर्ण-समुदाय में (प्राकृतिक देव-वर्णों में) 'अग्नि' रूप से ब्राह्मण बना, एवं मनुष्यवर्ग में (अपने इसी अग्निरूप से) ब्राह्मण बना। अर्थात् प्रकृति में अग्निजातीय प्राणदेवता 'ब्राह्मण' कहलाते हैं, एवं विकृतिरूप मनुष्यसम्प्रदाय में वे मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं, जिन मनुष्यों के उपादान द्रव्यरूप शुक्र शोणित में जन्मकाल से ही अग्निब्रह्म की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार क्षत्र-इन्द्रादि देवताओं के प्रवेश से वह ब्रह्म मनुष्यों में 'क्षत्रिय' बना, विट्देवताओं के प्राधान्य से मनुष्यों में वह ब्रह्म 'वैश्य' बना, एवं 'पूषा' नामक शूद्रदेवता के समावेश से मनुष्यों में वह ब्रह्म 'शूद्र' बना। इस तरह प्रकृति के चार वर्ण ही मनुष्यों के जन्मकाल से ही मनुष्यों के शुक्र में क्रमशः प्रतिष्ठित होते हुए मनुष्य-सम्बन्धी 'चातुर्वर्ण्य' के कारण बने। चूंकि अग्नि ही देवसम्प्रदाय में 'ब्रह्म' है, एवं अग्निवीर्यप्रधान मनुष्य ही मनुष्य सम्प्रदाय में ब्राह्मण हैं, अतएव देवलोक (स्वर्गलोक) के इच्छुक मनुष्य देवताओं में से (देवलोकाधिष्ठाता) अग्निदेवता में ही अपनी भक्ति प्रकट करते हैं, एवं मनुष्यों में से (अग्निसम, अतएव देवलोक प्राप्ति का उपाय बतलानेवाले) ब्राह्मणवर्ण के मनुष्यों में ही आत्मसमर्पण करते देखे गए हैं। कारण यही है कि, देवताओं में अग्निरूप से, मनुष्यों में ब्राह्मणरूप से ही साक्षात् 'ब्रह्म' प्रतिष्ठित है— (जो कि उभयरूप ब्रह्म देवलोक का एकमात्र अधिष्ठाता है)"।

(६)—"ऐसी दशा में (प्राकृतिक-वर्णव्यवस्थामूलक, उक्त वर्णधर्म्म की उपेक्षा करता हुआ) जो मन्दबुद्धि (अपने बुद्धिवाद के अभिमान में आकर) अपने 'आत्मलोक' (वर्णानुकूल आत्मधर्म्म, तथा आत्मकर्म्म) को बिना पहिचाने, वर्णानुगत स्वधर्म्म का अनुष्ठान किए बिना, साथ ही वर्णधर्म्म के विरुद्ध अशास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता हुआ) परलोक गमन करता है, वह वर्णधर्म्म के अविज्ञान से, एवं अनुष्ठान से पारलौकिक सुख का भोक्ता नहीं बन सकता। मान लीजिए, एक ब्राह्मण ने अर्थलालसा में पड़ कर वेदस्वाध्याय का तो परित्याग कर दिया, एवं अपने वर्णधर्म्म से सर्वथा विपरीत वाणिज्यधर्म्म का अनुगमन किया तो ऐसा व्यक्ति विपरीतपथ का अनुगामी बनता हुआ आत्मस्वरूप से वञ्चित रह जायगा। एवं ऐसे उत्पथ-गामी को अवश्य ही-'अनेवंवित्' (जैसा समझना चाहिए, जैसा करना चाहिए, ठीक उस से उलटा समझने, तथा करनेवाला) कहा जायगा। शास्त्रसिद्ध कर्म्मशून्य ऐसा व्यक्ति यदि अपने वर्णधर्म्म के विपरीत (लोकदृष्टि की अपेक्षा से समाजसुधार देशसेवा, दान, दया, इत्यादि महापुण्य कर्म्मों का भी अनुगमन करता रहता है, तब भी अन्ततः उनका परिणाम वर्णधर्म्म विरोध भाव के सम्मिश्रण से बुरा ही होता है। इस लिए (हम-श्रुति-आदेश करते हैं कि यदि तुम आत्मा का अभ्युदय चाहते हो, संसार में शान्ति बनाए रखना चाहते हो तो, आत्मलोक (वर्णधर्म्मानुकूल स्वकर्म्म) की ही उपासना करो। जो व्यक्ति (अनन्यनिष्ठा से अपने इस सर्वथा नियत, जन्मसिद्ध) आत्मलोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म्म कभी निन्दनीय नहीं बन सकता। वह अपने इस आत्मसम्मत (शास्त्रसम्मत) कर्म्म के बल पर अपनी सारी आवश्यकताएं पूरी कर लेता है" + + + + + + + । "मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ? इस प्रश्न की बहुत सोची समझी हुई, (अतएव सर्वथा प्रामाणिक) यही संक्षिप्त मीमांसा है"।

इस प्रकार 'याज्ञवल्क्य' ने स्पष्ट शब्दों में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, वर्णसृष्टि के प्राकृतिक, एवं वैकृतिक भेद से दो संस्थान हैं। प्राकृतिक सृष्टि में भी (देवसृष्टि में भी) 'चातुर्वर्ण्य' है, एवं-'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरंस्थाण्वानुपूर्वशः' (मनु० ३।२०१।) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार वर्णधर्म्मानुगामी प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समुत्पन्न वैकृतिक प्रजावर्ग में भी चातुर्वर्ण्य का नियामक सत्यात्मक 'धर्म्म' सूत्र है। इसके साथ ही पूर्वश्रुति से यह भी प्रमाणित हो रहा है कि, वर्णविभागमूला इस वर्णसृष्टि का, तथा वर्णों को स्व स्व कर्म्म में नियन्त्रित रखनेवाले सत्यात्मक धर्म्मसूत्र का, आनन्दविज्ञानगर्भित मनः-प्राणमय वाङ्मूर्त्ति 'ब्रह्म' के साथ ही सम्बन्ध है। न मनुष्य वर्णसृष्टि का कारण है, न वर्णानुगत धर्म्मसृष्टि का ही मानवीय कल्पना से कोई सम्बन्ध है। और यही भारतीय वर्णव्यवस्था, तथा वर्णधर्म्म की प्राकृतता, नित्यता, शाश्वतता में मुख्य हेतु है, जिस हेतु का कि श्रुति-स्मृति शास्त्र उपबृंहण कर रहे हैं। श्रुति ने वर्णसृष्टि का जो तात्त्विक स्वरूप बतलाया है, उसका केवल अक्षरार्थ जान लेने से समन्वय नहीं हो सकता। अतः संक्षेप से तात्त्विक अर्थ का दिग्दर्शन करा देना भी अप्रासङ्गिक न होगा।

(१)—"सब से पहिले तो हमें यह विचार करना है कि, पूर्वश्रुति ने (१-श्रुति ने) जिस 'ब्रह्म' तत्त्व को सृष्टि-दशा से पहिले एकाकी मानते हुए दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण नाना प्रपञ्च को केवल 'ब्रह्ममय' मानते हुए उससे इतर तीन वर्णों का विकास बतलाया है, वह 'ब्रह्म' कौन है ? उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है ? एवं उससे आरम्भ में क्षत्र की योनिरूप किस ब्रह्मवर्ण (ब्राह्मणवर्णात्मक देवताओं) का विकास हुआ है ? । उक्त श्रुतिवचनों में केवल क्षत्र-विट्-शूद्र देवताओं की ही गणना हुई है ब्राह्मणदेवता अभी तक अश्रुत हैं, अतः एतत् सम्बन्धिनी जिज्ञासा अभी तक सुरक्षित है। ब्रह्मानुगता, ब्राह्मणवर्णसम्बन्धिनी इस देवजिज्ञासा की शान्ति के लिए 'वाग्ब्रह्म' की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

उक्त श्रुति-वचनों के पौर्वापर्य्य का विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि, वर्णसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ 'वागग्नि' ही है, जो कि वागग्नि 'सत्याग्नि' 'ब्रह्माग्नि' 'सार्वयाजुषअग्नि' इत्यादि विविध नामों से यत्र-तत्र उपवर्णित है। वर्णमूलभूत ब्रह्म सत्यमूर्त्ति 'अग्नि' ही है, इसी रहस्य को संकेतदृष्टि से व्यक्त करने के लिए श्रुति ने 'तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवत्' यह कहा है। और इस मूलाग्नि की उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) चूंकि 'वाक्' तत्त्व है, अतएव हम अवश्य ही वाग्ब्रह्म को 'वागग्नि' कह सकते हैं। यह वाक्तत्त्व पाठकों का सुपरिचित नहीं मनः-प्राण गर्भित वाङ्मय कर्म्मात्मा, किंवा कर्म्माव्यय है। मनोमय अव्यय पुरुष ही प्राणमय अक्षर को निमित्त कारण बनाकर, वाङ्मय क्षर ब्रह्म को उपादान कारण बनाता हुआ वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, यह पूर्व में स्पष्ट

१ "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"—शत० ब्रा० १०।५।१।१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किया ही जा चुका है। चूंकि क्षरतत्त्व कर्म्माव्यय के वाग्-भाग से अनुगृहीत है, अतः हम क्षर को अवश्य ही 'वाङ्मय, कहने लिए तय्यार हैं। इस वाक् का विकास ही 'अग्निब्रह्म' है, अतएव अग्निब्रह्म को 'वाग्ब्रह्म' कहा जा सकता है। निष्कर्ष यही निकला कि, श्रुत्युक्त ब्रह्मशब्द 'क्षरब्रह्म' का वाचक है।

गीताभूमिका द्वितीय खण्ड में प्रतिपादित 'आत्मपरीक्षा' में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त विशुद्ध 'ब्रह्म' शब्द (कुछ एक अपवाद-रूप विशेष स्थलों को छोड़ कर) सर्वत्र 'क्षरपुरुष' का ही वाचक मानागया है। 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गी० १४।२७) 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गी० ३।१५) इत्यादि गीतावचनों में पठित निरुपाधिक 'ब्रह्म' शब्द इसी परिभाषा के अनुसार क्षरपरक मना गया है। अक्षर से क्षरब्रह्म का ही समुद्भव हुआ है। ऐसी दशा में बिना किसी विशेषण के विशुद्धरूप से प्रयुक्त प्रकृत श्रुति के ब्रह्मशब्द को भी हम 'क्षरपरक ही मानेंगे। क्षरब्रह्म ही व्यञ्जनस्थानीय वर्णसृष्टि का प्रभव बनता है। अव्यय, और अक्षरपुरुष तो क्रमशः स्फोट, तथा स्वरस्थानीय बनते हुए वर्णसृष्टि-मर्य्यादा से बहिर्भूत हैं। चूंकि क्षरपुरुष कर्म्माव्यय के वाग्-भाग को लेकर ही वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, इस दृष्टि से तो अव्यय को वर्णसृष्टि का कर्त्ता कह दिया जाता है। साथ ही अव्यय चूंकि मनःप्रधान है, इधर वर्णसृष्टि का अकर्त्ता कहना भी अन्वर्थ बन जाता है। तात्पर्य्य इस ऊहापोह से यह निकला कि, प्रकृतश्रुति वर्णसृष्टि का प्रतिपादन कर रही है। वर्णसृष्टि का मूल कारण 'ब्रह्म' का मान रही है। चूंकि वर्णसृष्टि का मूलकारण वर्णधर्म्मावच्छिन्न 'क्षर' ही बन सकता है, अतएव इस श्रुति के ब्रह्म शब्द से हम वाङ्मय 'क्षरपुरुष' का ही ग्रहण करेंगे।

अव्यय-अक्षर-क्षरमूर्त्ति षोडशीपुरुष का विचार करते हुए ज्ञानमय अव्यय, तथा क्रियामय अक्षर, दोनों की अपेक्षा से क्षरतत्त्व अर्थमय ही माना जायगा। परन्तु जब भौतिक विश्व को आगे करते हुए क्षरब्रह्म के स्वरूप का विचार किया जायगा, तो उस दशा में मैं अर्थमय क्षर को हम 'ज्ञानमय' कहने लगेंगे। कारण स्पष्ट है। अव्ययपुरुष का आनन्दविज्ञान-मनोमय विद्याभाग 'ज्ञानात्मा' है, एवं मनः-प्राण-वाङ्मय कर्म्मभाग 'कर्म्मात्मा' है ज्ञानात्मा में 'रस' की प्रधानता है कर्म्मात्मा में बल की प्रधानता है। स्वयं कर्म्मात्मा में मनोभाग प्राण वाक् की अपेक्षा से रसप्रधान है, अतएव कर्म्मात्मा के कर्म्मरूप इस मनोमय अव्यय को ज्ञानप्रधान कह दिया जाता है। इसी अपेक्षाभाव की कृपा से प्राणमय अक्षर क्रियाप्रधान, तथा वाङ्मय क्षर अर्थप्रधान बन जाता है। परन्तु पाञ्चभौतिक, सर्वथा बलप्रधान विश्व की अपेक्षा से तन्मूलभूत वाङ्मय-क्षरब्रह्म 'ब्रह्म' (ज्ञान) बना हुआ है और इसी दृष्टि से हम अर्थमूर्त्ति क्षर को ज्ञानप्रधान मान लेते हैं। विश्व में जो ज्ञानधारा प्रवाहित हुई है, उसका निमित्त क्षरब्रह्म ही बना है, अतः विश्वदृष्टि से, विश्व के लिए तो ज्ञानात्मा 'क्षरब्रह्म' ही कहलाएगा।

अब अव्ययाक्षरविवक्षा को छोड़ते हुए केवल ज्ञानमूर्त्ति क्षरब्रह्म को आधार मान कर वर्णविवर्त्तसृष्टि का विचार करना है। वागग्निमूर्त्ति क्षरब्रह्म है, और विश्वसृष्टि से पहिले ज्ञानलक्षण यह क्षरब्रह्म 'एकाकी' है। यही आगे जाकर अपनी बहुत्व-कामना को सफल बनाने के लिए विश्व की योनि बननेवाला है। परन्तु बिना क्रिया, तथा अर्थ-सहयोग के यह 'विश्वयोनि' बनने में समर्थ है विश्ववैभव केवल ज्ञान से ही तो प्राप्त नहीं हो जाता। देखिए न! यदि कोई व्यक्ति पूर्ण ज्ञानी है, साथ ही में वह यदि समृद्धि की भी इच्छा रखता है, तो केवल ज्ञान ही उसकी यह इच्छा पूरी नहीं कर सकता। अवश्य ही उसे स्व-ज्ञानवैभव के प्रसारार्थ क्रिया, एवं अर्थ का आश्रय लेना पड़ेगा, साथ ही में भृतभाव, और अपने ज्ञानक्रिया-अर्थ-भृतभावों को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए नियति लक्षण धर्म्म का भी अनुगमन करना पड़ेगा। ज्ञानमय ब्रह्म, क्रियामय क्षत्र, अर्थमयविट्, भृतरूप शूद्र नियतिरूप धर्म्म, इन पांचों कारणों के एकत्र समन्वय से ही वह ज्ञानी पूर्ण समृद्ध बन सकेगा। हम उसी के तो अंश हैं, उसी कारण के तो कार्य्य हैं। कार्य्य-धर्म्मों से ही तो कारणधर्म्मों का अनुमान किया जाता है। जब कार्य्यरूप प्रजावर्ग में उक्त पांचों साधनों की नित्य अपेक्षा है, तो मानना पड़ेगा कि प्रजावर्ग के मूलकारणरूप ज्ञानमूर्त्ति वह क्षरब्रह्म भी पांच साधनों से युक्त होकर ही वर्णसृष्टिलक्षणा समृद्धि का उपभोक्ता बनता है।

ब्रह्म का क्या स्वरूप? इस प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई। अब ब्राह्मणवर्ण-सम्बन्धिनी जिज्ञासा सामने उपस्थित हुई। ब्रह्म किन किन शक्तियों का सहयोग प्राप्त कर के वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है? इस प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत जिज्ञासा की शान्ति का उपाय है। ज्ञानविलक्षण ब्रह्म को स्वविकास लक्षण 'ब्राह्मणवर्ण' की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप निष्पत्ति के लिये—"सोम सविता, मित्र, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, सरस्वती," इन ६ प्राणदेवताओं का सहयोग और प्राप्त करना पड़ता है। इस प्रकार इन ६ के योग से सप्तमूर्ति बनता हुआ वह वागब्रह्म 'ब्राह्मणवर्ण' की मूलप्रतिष्ठा बन जाता है। इन सातों में वागग्नि मुख्य है, शेष ६ प्राण गौण हैं। ये सातों देवता प्रकृति के 'ब्राह्मदेवता' कहलाए हैं। इन सातों के क्या क्या धर्म्म है? यह भी प्रसङ्गात् जान लेना चाहिए।

१-वागग्निः—प्रतिष्ठातत्व इस वागग्नि का मुख्य धर्म है। इसके रहने से धृति-क्षमा-आदि गुणों का विकास रहता है। इसके अतिरिक्त सांसारिक विपत्तियों का सहने की शक्ति, आसुरभाव विनाश की शक्ति, नियमपरिपालन की दृढ़ता, अनन्यभाव से कर्म में प्रवृत्ति, आयु की स्वरूप रक्षा, यज्ञकर्म की ओर प्रवृत्ति रखना, ये सब इसी 'वागग्नि' के धर्म हैं। जिसमें यह प्राणाग्नि प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहेगा, उसमें जन्म से ही इन अग्निधर्मों का समावेश रहेगा। इन सब धर्मों के अतिरिक्त वर्च' नाम का तपालक्षण 'तेज' इसी ब्रह्माग्नि का मुख्य धर्म है। देखने में सर्वथा शान्त, किन्तु अन्तर्जगत् में महाप्रदीप्त बलवत्तर वीर्य्य ही 'वर्च्च' नाम का तेज है, और यही ब्राह्मणवर्ण का मुख्य धन है। अग्निधर्मावच्छिन्न, प्राणाग्नि के इन्हीं कुछ एक धर्मों का निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण हो रहा है।

"वीर्यं वा अग्निः" (गो० ब्रा० ६।७)—'अग्निह सर्वेषां पाप्मानामपहन्ता" (शत० ७।३।२।१६)—"अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः" (शत० १।१।१।२)—'अग्निरेव ब्रह्म" (शत० १०।४।१।५)-"तपो वा अग्निः" (शत० ३।४।३।२)-"अग्निर्वाऽआयुष्मानायुष ईष्टे" (शत० १३।८।४।८)।

२—सोमः—आचार-व्यवहार को सर्वथा निर्म्मल रखनेवाला, शरीरगत दूषित मलभागों का अपने पवित्रधर्म्म से विशोधन करनेवाला, 'मति' को दिव्यभाव की ओर प्रवृत्त रखनेवाला, श्रोत्रेन्द्रिय, तथा मन की स्वरूप-रक्षा करनेवाला; ब्राह्मण्य-वृत्ति का प्रतिष्ठित रखनेवाला, वृत्ति को शान्त बनाए रखनेवाला, ब्राह्मणप्रतिष्ठामूलक 'वर्च' भाव को सुदृढ़ रखनेवाला, सच्चित यशःप्राण का उद्बोधक, इत्यादि धर्मों का प्रेरक प्राणविशेष ही सोमदेवता है। जिसमें जन्मतः इस सौम्यप्राण का प्राधान्य रहता है, उसमें उक्त धर्म्म स्वभावतः विकसित रहते हैं। निम्न लिखित वचन प्राणात्मक सोमदेवता के धर्म्मों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

"सोमो वै पवमानः" (शत० २।२।३।२२)—"सोमः पवते" (ऋक् सं० ६।९६।५)—'जनिता मतीनाम्' (ऋक् सं० ९।९६।५)—"दिशःश्रोत्रे"—'मनश्चन्द्रेण"—'सोमो वै ब्राह्मणः" (ताण्ड्यब्रा० २३।१६।५)—'सोम्यो हि ब्राह्मणः" (तं०ब्रा० २।७।३।१)—"एष वै ब्राह्मणानां सभासाहः सखा, यत् सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १।१३) —"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" (यजुः सं०)—'यशो वै सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १।१३)

३—सविता— आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग, आदि को तत्तत् कर्म्मों की ओर प्रेरित करनेवाला, अपने विद्युत्रूप से इन सब आध्यात्मिक पर्वों में विद्युत्-सम स्फूर्ति रखने वाला, मन-बुद्धि को दानशक्ति की ओर प्रेरित रखने वाला, वेदधर्म्म की ओर हमारी प्रवृत्ति बनाए रखनेवाला, यज्ञ की स्वरूपरक्षा करनेवाला राष्ट्रसञ्चालक राजा पर प्रभुत्व बनाए रखनेवाली वृत्ति का प्रदाता, यज्ञवृत्ति में प्रेरित करने वाला, इत्यादि धर्म्मों का प्रेरक, आदित्यमण्डलस्थ, प्राणविशेष ही 'सवितादेवता' है। जिसमें सवितादेवता जन्मतः प्रधान रहेगा, उसमें स्वभावतः उक्त धर्म्मों का विकास रहेगा। निम्न लिखित वचन इन्हीं धर्म्मों का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

"सविता वै देवानां प्रसविता" (शत० १।१।२।१७)—"विद्युदेव सविता" (गो० पू० १।३३)—"दातारमद्य सविता विदेय, यो नो हस्ताय प्रसुवाति यज्ञम्"(तं०ब्रा० ३।१।१।६)—"वेदा एव सविता" (गो० पू० १।३३)-"अहरेव सविता" (गो०पू० १।३३)—"यज्ञ सविता" शत० १०।६।१।१५)—"सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः" (तं० ब्रा० २।५।७।४)—'यज्ञ एव सविता" (तं० उ० ४।२।७।७)।

४—मित्रः—आध्यात्मिक प्राणाग्नि के उग्रभाव को शान्त रखने वाला, आध्यात्मिक पापवृत्तियों का उपशमन करने वाला, इष्ट-श्रेय भावों की ओर मन-बुद्धियों का अनुगत रखने वाला, सत्यनियति का सञ्चालन करनेवाला, भूतमात्र के साथ निष्कारण सौहार्द रखनेवाला, अपने आधिदैविकरूप से पूर्वकाल का अपना आवासस्थान बनाने वाला, एवं आध्यात्मिक रूप से शरीर के आग्नेय दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित रहनेवाला प्राणविशेष ही 'मित्रदेवता' है। जिन के कुक्ष में जन्मतः इस प्राण का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राधान्य रहेगा, वह स्वभावतः उत्कृष्टवृत्तियों का अधिकारी रहेगा। मित्रदेवता के ये ही धर्म्म निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो रहे हैं—

"सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम्" (शत० ५।३।२।७)—'अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष भवति मित्रः" (शत० २।३।२।१२)—"तं यद् घोरसंस्पर्शं सन्तं मित्रकृत्येवोपासते, तदस्य मैत्रं रूपम्" (ऐ० ब्रा० ३।४)—"मित्रेणैव यज्ञस्य स्विष्टं शमयति" (तै० ब्रा० १।२।५।३)—"मित्रः सत्यानां सुवते" (तै० ब्रा० १।७।४।१)—"मैत्रो वै दक्षिणः" (तै० ब्रा० १।७।१०।१)।

५ – बृहस्पतिः—वाणी में ओजबल का आधान करते हुए वाणी को सबल बनाए रखने वाला, विज्ञानचक्षु को अपने दिव्यबल से दिव्यदृष्टियुक्त बनाए रखनेवाला, शरीरकान्तिलक्षण 'द्युम्न' नामक तेज की स्वरूप रक्षा करनेवाला, अपनी स्वाभाविकी ब्रह्मशक्ति से आध्यात्मिक बुद्धि-मन इन्द्रियादि परिकरों पर शासन रखनेवाला, शरीरगत 'अङ्गिरा' तत्त्व की रक्षा करनेवाला, ब्रह्मरन्ध्र को अपनी प्रतिष्ठाभूमि बनानेवाला, 'ब्रह्मवर्चं' का आदान करनेवाला प्राणविशेष ही 'बृहस्पतिदेवता' है। जिस के शुक्र में जन्म से इस प्राण की प्रधानता रहती है, उस में उक्त धर्म्म, विशेषतः वाग्बल स्वभावतः विकसित रहता है। निम्न लिखित वचनों से बृहस्पति के इन्हीं धर्म्मों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

"वाग्वै बृहती, तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः" शत० ६।३।१६)—'बृहस्पतिः—(एवंनां) वाचां (सुवते)" (तै० ब्रा० १।७।४।१)—"यच्चक्षुः (विज्ञानं), स बृहस्पतिः" (गो० उ० ४।११)—'द्युम्नं हि बृहस्पतिः" (शत० ३।९।४।१६ –"ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः" (तै० ब्रा० १।३।८।४)—'बृहस्पतिर्वाआङ्गिरसो देवानां ब्रह्मा" (गो० उ० १।१)—'स (बृहस्पति प्रजापति) अब्रवीत्, क्रौञ्च साम्ना वृणे 'ब्रह्मवर्चसम्' इति" (जै० उ० १।५१।१२)—"एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्" (शत० ५।५।१।१२)।

६—ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्मणस्पति उस बृहस्पति की मूलप्रतिष्ठा माना गया है, जो कि वाक्-पति बृहस्पति सूर्य्य संस्था से तो ऊपर, एवं पारमेष्ठ्य जगत् से नीचे, दोनों की सन्धि में प्रतिष्ठित माना गया है। 'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' के अनुसार सत्य तप-जन-महः इन चार पूर्वलोकों के अन्त में बृहस्पति की सत्ता मानी गई है, एवं स्वः-भुवः-भूः इन तीन उत्तरलोकों के आरम्भ में इन्द्र (स्वर्लोकाधिष्ठाता, 'मघवा' नामक सौर इन्द्र) की सत्ता मानी गई है। इस परिस्थिति से बतलाना यही है कि, बृहस्पतिदेवता (जो कि सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह एवं 'लुब्धक बन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति, इन दोनों से सर्वथा पृथक् तत्त्व है) सूर्य्य से ऊपर महर्लोक की अन्तिम सीमा में प्रतिष्ठित रहने वाला वाङ्मय प्राण है। इसी के सम्बन्ध से प्राकृतिक, नित्य, आधिदैविक 'वाजपेय' यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। अतएव वाजपेय यज्ञ 'बृहस्पतिसव' कहलाया है। इस बृहस्पति से ऊपर पारमेष्ठ्य जनर्लोक में सौम्यप्राणमूर्त्ति 'ब्रह्मणस्पति' प्रतिष्ठित है। इस के सौम्य-धर्म्म को लेकर ही बृहस्पति को स्वरूप-रक्षा हो रही है। अतएव—'बृहस्पते ब्रह्मणस्ते' (तै० ब्रा० ३।११।४।२) इत्यादि रूप से दोनों को अभिन्न भी मान लिया गया है। परन्तु तत्त्वतः दोनों पृथक् हैं। 'ब्रह्मणस्पतिः' नामक सौम्यप्राण से ही 'गङ्गातोय' का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि अन्यत्र निरूपित है। इस प्राण का मुख्य काम है, शरीर दूषित भावों को नष्ट कर शरीरसंस्था को सर्वथा निर्म्मल रखना। अन्तरात्मा के पवित्र विचार इसी ब्रह्मणस्पति के अनुग्रह पर निर्भर हैं। जैसा कि निम्न लिखित ऋङ्मन्त्र से स्पष्ट है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥

ऋक् सं० १३।१।

७—सरस्वती—वाणी में माधुर्य्य की प्रतिष्ठा करने वाला, वाणी में ऐसा ओज डालने वाला, जिस के कि समावेश से वाणी गम्भीर निनाद करती हुई, श्रोताजनों को प्रभावित करती हुई बाहर निकलती है, वाणी में वज्रसम प्रभावशक्ति उत्पन्न करनेवाला, सर्वथा वाक्तत्त्व का उपकार करनेवाला प्राणविशेष ही 'सरस्वतीदेवता' नाम से प्रसिद्ध है। जिस के शुक्र में जन्म से इस वाग्देवी का प्राधान्य है, वह स्वभावतः वाणी का प्रभु है। निम्न लिखित कुछ एक वचन इन्हीं वाग्धर्म्मों का प्रदर्शन कर रहे हैं—

"वाग्वै सरस्वती पावीरवी" (ऐ० ब्रा० ३।३७)—"सरस्वती वाचमदधात्" (तै० ब्रा० १।६।२।२)—'अथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यत् स्फूर्जयन वाचमिव वदन् दहति, तदस्य सारस्वतं रूपम्" (ऐ० ब्रा० ३।४)—"सा (वाक्) ऊर्ध्वोदातनोद्यथापांधारा सन्तता–एवं (सरस्वती–वाक्)" (ताण्ड्य ब्रा० २०।१४।२)—"सरस्वतीति, तद् द्वितीयं वज्ररूपम्" (कौ० ब्रा० १२।२) ।

संक्षेपतः प्रतिष्ठासमर्पक प्राण ही 'अग्नि' है, आचार-व्यवहार की पवित्रता सम्पादन करनेवाला प्राण ही 'सोम' है, बुद्धि-मन-इन्द्रियादि को दिव्यभावों की ओर प्रेरित करनेवाला प्राण ही 'सविता' है, भूतमात्र के साथ निष्कारण सौहार्द बनाए रखनेवाला प्राण ही 'मित्र' है, वाक्-तत्त्व को परिमार्जित रखनेवाला प्राण ही 'बृहस्पति' है, अन्तर्जगत् को पूत रखनेवाला प्राण ही 'ब्रह्मणस्पति' है, एवं वाक् में ब्रह्मवीर्य्य का आधान करनेवाला प्राण ही 'सरस्वती' है। अग्निगर्भित, अग्नि से परिगृहीत, इस प्राणसप्तक की समष्टि ही श्रुत्युक्त 'ब्रह्म' पदार्थ है। दूसरे शब्दों में 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' के ब्रह्म शब्द को सातों प्राणों का उपलक्षण समझना चाहिए। क्योंकि सातों ही ब्रह्मवीर्य्य के प्रवर्त्तक बनते हुए ब्राह्मणवर्ण की प्रतिष्ठा बनते हैं। सप्तप्राणकृतमूर्त्ति-ब्राह्मणवर्णसम्पादक इसी ब्रह्म ने वैभव-प्रसार के लिए अपने से भी श्रेष्ठ क्षत्र-देवता उत्पन्न किए।

ब्रह्मवीर्य्यसम्पादक इस क्षररूप वागग्नि को हमने 'सावेयाजुष' कहा है। यजुर्वेदसम्बन्ध से ही इसे सावेयाजुष कहा गया है। यजु में 'यत्—जू' दो भाग हैं। यत् 'प्राणतत्त्व' है, जू 'वाक्तत्त्व' है। वाक् आकाश है, यही इन्द्र है, प्राण वायु है। आकाशवाय्वात्मक-वाक्प्राण की समष्टि ही 'यज्जू' है, एवं यही यज्जू परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुः' है—(देखिए-शत० १०।३।५।२)। यह यजु 'वय' है, पुरुष है। ऋक्-साम, दोनों वयोनाध हैं, छन्द हैं। इन्हीं दोनों को वाग्रूप इन्द्र के हरी (अश्व-छन्द) कहा गया है—'ऋक्-सामे वै इन्द्रस्य हरी' (ऐ० ब्रा० २।२४) यही त्रयी वाक् सत्यावाक् है यही क्षरब्रह्म है, एवं सत्यावाङ्मूर्त्ति यही क्षरब्रह्म वर्णत्रयी का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। ऋक् पार्थिव अग्निप्रधान है, यही 'वैश्यवर्ण' का जनक है। यजु आन्तरिक्ष्य वायुप्रधान है, क्षत्रियवर्ण का जनक है। साम दिव्य आदित्यप्रधान है, एवं यही 'ब्राह्मणवर्ण' की प्रतिष्ठा है। अग्निमय ऋग्वेद अर्थशक्ति का सञ्चालक बनता हुआ अर्थशक्तिप्रधान वैश्यवर्ण की प्रतिष्ठा बन रहा है, वायुमय यजुर्वेद क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ क्रियाशक्तिप्रधान क्षत्रियवर्ण की प्रतिष्ठा बन रहा है, एवं आदित्यमय सामवेद ज्ञानशक्ति का सञ्चालक बनता हुआ ज्ञानशक्तिप्रधान ब्राह्मणवर्ण की प्रतिष्ठा बन रहा है। इसी प्राकृतिक, वेदवाङ्मूलक वर्णरहस्य का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि 'तित्तिरि' कहते हैं—

> ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः—
> यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽऽहुर्योनिम् ।
> सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः—
> पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः ॥
>
> —तै० ब्रा० ३।१२।९।२ ।

'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्' इस वाक्य के 'श्रेयोरूपम्' अंश पर इस लिए आपत्ति उठाई जा सकती है कि,—'तेनार्हति ब्राह्मणा स्पर्द्धितुं कः'—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'—'सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते'—'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'—'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'—'नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः' 'उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्त्तिर्धर्म्मस्य शाश्वती'—'ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचन ज्ञान-क्रिया-अर्थ भावों में से ज्ञान की, एवं ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति-प्रधान ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में से ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्राह्मणवर्ण की श्रेष्ठता, तथा ज्येष्ठता का जब समर्थन कर रहे हैं, तो श्रुति ने—'ब्रह्म (ब्राह्मण) ने अपने से भी श्रेष्ठ रूप क्षत्रिय देवता उत्पन्न किए" यह किस आधार पर कहा ? श्रुति ने क्यों क्षत्रिय वर्ण को ब्राह्मवर्ण से श्रेष्ठ बतलाया ?

आपत्ति यथार्थ है। यद्यपि चारों वर्णों में एकमात्र ब्राह्मणवर्ण ही सर्वश्रेष्ठ एव सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु एक विशेष हेतु से श्रुति ने ब्रह्म की अपेक्षा क्षत्र का श्रेष्ठ बतलाना आवश्यक समझा है। ब्रह्म की श्रेष्ठ ज्येष्ठता क्षत्रवीर्य्य पर ही अवलम्बित है। क्षत्र के आधार पर ब्रह्म का विकास होता है। विश्व की स्वरूप सत्ता कर्म्मप्रधान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। कर्म्म क्रियातत्त्व है, क्रियातत्त्व ही क्षत्र है। इस क्रिया-रूप के सहयोग से ही ज्ञान का विश्व में विकाश हुआ है। यदि क्रियामय क्षत्र न हो, तो ज्ञानमय ब्रह्म निर्विकल्पक बनता हुआ सर्वथा तिरोहित हो जाय। दूसरे शब्दों में क्रियाविरहित विशुद्ध-ज्ञान निर्विकल्पक बनता हुआ विश्वसीमा से बाहर की वस्तु है। इस दृष्टि से हम अपने व्यावहारिक जगत में ज्ञानप्रधान ब्रह्म के विकासभूत क्रियाप्रधान क्षत्र को ही ब्रह्म की अपेक्षा श्रेयोरूप कह सकते हैं। 'इन्द्र—वरुण—सोम-रुद्र-पर्जन्य यम-मृत्यु-ईशान'—इन प्राणदेवताओं की समष्टि ही क्षत्रतत्त्व है। इन्हीं आठ प्राणदेवताओं से (पूर्वोक्त ब्रह्मसप्तक के आधार पर) विश्वकर्म्म का सञ्चालन, विश्वकर्म्म की स्वरूपरक्षा, तथा विश्वज्ञान का विकास हो रहा है। इन्द्रात्मक—'विकास', वरुणात्मक 'संकोच', सोमात्मिका 'पवित्रता', रुद्रात्मक 'दण्डविधान', पर्जन्यात्मक 'वर्षणकर्म्म', यमात्मक—'नियमन', मृत्युलक्षण 'अवसान', ईशानात्मक 'प्रभुत्त्व', ये आठ क्षात्रधर्म्म हीं विश्व के स्वरूपरक्षक हैं, एवं इन आठों धर्म्मों के प्रवर्त्तक इन्द्रादि अष्ट प्राणदेवता ही प्रकृति के क्षत्रियदेवता हैं। जिसके वीर्य्य में जन्मतः इन आठों प्राणदेवताओं का प्राधान्य रहता है, मनुष्यप्रजा में वही 'क्षत्रिय' कहलाता है। चूंकि कर्म्ममय विश्व में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय श्रेयोरूप है, अतएव राजसूय यज्ञ में सिंहासीन क्षत्रिय राजा को नीचे खड़ा हुआ ब्राह्मण आशीर्वाद दिया करता है। सचमुच कर्म्ममय विश्व में क्षत्र से उत्कृष्ट अन्य वर्ण नहीं है।

श्रुति ने इस प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा क्षत्र को श्रेयोरूप बतला तो दिया, परन्तु अपने ब्रह्म लक्ष्य का परित्याग न किया। 'तत्त्वतः ब्राह्मण ही श्रेष्ठ ज्येष्ठ है' इसी सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए आगे जाकर श्रुति को कहना पड़ा कि, "यद्यपि यह ठीक है कि, राजा सिंहासनासीन है, ब्राह्मण नीचे खड़ा उसे आशीर्वाद दे रहा है। परन्तु तत्त्वतः ब्राह्मण ही ज्येष्ठ श्रेष्ठ है। ब्राह्मण नीचे खड़ा खड़ा भी राजा में यशःप्राण का आधान कर रहा है। ब्राह्मणप्रदत्त इस यशोबल से ही राजा साम्राज्य-सञ्चालन में समर्थ बनता है। ब्राह्मण ही क्षत्रिय की योनि है। योनि यद्यपि निगूढ़भाव है, बीजात्मिका है, अतएव उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष होता है वृक्ष का। परन्तु वृक्षस्थानीय क्षत्रिय को अन्ततोगत्वा योनि-स्थानीय ब्रह्म का ही आश्रय लेना पड़ता है। बिना ज्ञान (ब्रह्म) के क्रिया (क्षत्र) की प्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है। विश्व की भौतिक समृद्धि के चरम शिखर पर पहुंचे हुए क्षत्रिय राजा को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, उसकी अपनी योनि, अपनी मूलप्रतिष्ठा, अपने स्वरूप रक्षा का साधन एकमात्र ब्राह्मण ही है, और इसकी रक्षा में, इसके अनुगमन में ही क्षत्रियराजा की समृद्धि है, जैसा कि 'मैत्रावरुणग्रह' प्रतिपादिका अन्यश्रुति से स्पष्ट है।

क्रतु[1] 'मित्र' है, दक्ष वरुण' है। इरादा (इच्छा-संकल्प-कामना) क्रतु है, इच्छा का कार्य्यरूप 'दक्ष' है। ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' के अनुसार इच्छा का ज्ञान से सम्बन्ध है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं 'कृति' (यत्न) का विकास हो पड़ता है, कृति से कर्म्म होता है, कर्म्मसिद्धि ही दक्षता है। इच्छा का अधिष्ठान 'मित्रब्रह्म' है, कर्म्म का आरम्भक 'वरुण क्षत्र' है। ब्रह्म 'अभिगन्ता' है, क्षत्र 'कर्त्ता' है। पथप्रदर्शक ब्रह्म 'पुरोधा' है, पथानुगामी क्षत्र 'राजा' है। राजा कर्म्ममूर्त्ति है, ब्रह्म ज्ञानमूर्त्ति है। दोनों बल (ब्रह्म तथा क्षत्रबल) पृथक् पृथक् रहते हुए समृद्धि से वञ्चित हैं। क्षत्र को अपनी स्वरूपरक्षा के लिए ब्रह्म की अपेक्षा है, तो ब्रह्म को अपने विकास के लिए क्षत्र का आश्रय अपेक्षित है। आगे जाकर श्रुति कहती है कि, "यदि ब्रह्म क्षत्र का अनुगामी न बनेगा, तो उसका विकास अवश्य ही रुक जायगा, परन्तु उसके स्वरूप की कोई हानी न होगी। इधर यदि क्षत्र ब्रह्म-सहयोग की उपेक्षा कर देगा, तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। अतएव प्रत्येक क्षत्रिय का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि, वह ब्राह्मण पुरोधा को आगे कर, उसकी अनुमति से ही राष्ट्र का सञ्चालन करे" (देखिए, शतपथ ब्रा० ४ कां० ।१।४।)।

ब्रह्म की इस प्राकृतिक व्याप्ति का कौन विरोध कर सकता है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि, आज हमारा राष्ट्र 'ब्रह्म क्षत्र' दोनों शासकवर्गों से वञ्चित होता हुआ शासित विट् वीर्य्य का अनुगामी बन कर सर्वथा अरक्षित बन रहा है। विट् वीर्य्य को यह नहीं भुला देना चाहिए कि,

---

१ क्रतु-दक्षात्मक ब्रह्म क्षत्र भावों का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड के 'विज्ञानात्माधिकरण' में एवं 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य' भूमिका' प्रथम खण्ड के 'प्रकीर्णकोपनिषद्निरुक्ति' प्रकरण में देखना चाहिए।

जब तक वह कर्त्ता क्षत्रवीर्य्य, एवं अभिगन्ता 'ब्रह्मवीर्य्य', दोनों का आश्रय न ले लेगा, तब तक वह अपनी स्वाभाविक अर्थनीति में कभी सफल न बन सकेगा। प्रकृत में इस सन्दर्भ का उपसंहार यही है कि, सप्तप्राणात्मक दिव्यभाव प्रधान ब्रह्मने स्वविकास के लिए वीरभाव प्रधान अष्टप्राणात्मक क्षत्रतत्त्व उत्पन्न किया। सप्तप्राण समष्टि प्रकृति का 'ब्राह्मणवर्ण' कहलाया एवं अष्टप्राणसमष्टि प्रकृति का क्षत्रियवर्ण कहलाया। ये ही दोनों वर्ण मानवप्रजा के ब्राह्मण-क्षत्रियवर्णों के क्रमशः आरम्भक बनें।

(२) "क्षत्र से भी काम न चला। चल भी नहीं सकता। बिना भौतिक - अर्थों का सहयोग प्राप्त किए केवल ज्ञान-कर्म्म कुछ नहीं कर सकते। भौतिक पदार्थ ही ज्ञान - कर्म्म के आधार बना करते हैं। ज्ञान भी किसी न किसी पदार्थ को अपने गर्भ में लेकर विकसित होता है। एवं क्रियालक्षण व्यापार का संचार भी किसी पदार्थ के आधार से ही होता है। ज्ञान - कर्म्मभावों को अपने गर्भ में रखने वाला, स्वस्वरूप से प्रकट रहता हुआ भी गुप्त, तीसरा पशुभाव ही 'विड्वीर्य्य' है, जिसका कि विकास 'वसु-रुद्र-आदित्य, विश्वेदेव मरुद्गणों' के रूप में हुआ है। इन्द्रियदृष्ट पदार्थ ही—'यदपश्यत्-तस्मात् पशुः' (शत० ६।२।१।१) के अनुसार 'पशु' है। ज्ञान-क्रिया दोनों ही इन्द्रियातीत हैं, इन्द्रियदृष्ट एकमात्र है—भौतिक अर्थप्रपञ्च। अतः इस अर्थभाव को, एवं तद्रूप विड्वीर्य्य को अवश्य ही 'पशुभाव' कहा जा सकता है।

दूसरी दृष्टि से पशुभाव का विचार कीजिए। भोग्यवस्तु को वैदिक परिभाषा में 'पशु' कहा गया है। ज्ञान 'भोक्ता' है, कर्म्म 'भोगसाधन' है, एवं अर्थप्रपञ्च 'भोग्य' है। चूंकि विड्वीर्य्य अर्थप्रधान बनता हुआ भोग्यरूप है, ज्ञान-कर्म्म से इसी अर्थ का भोग होता है, इस लिये भी विड्वीर्य्य को पशुभाव' मानना युक्तिसङ्गत बन जाता है। 'वसुरुद्रादित्य-विश्वेदेवमरुद्गण' समष्टिरूप, पशुभावप्रधान यही विट्-तत्त्व प्राकृतिक वैश्यवर्ण है। जिस प्राणी में जन्मतः इस पञ्चगणगणात्मक विट्-वीर्य्य की प्रधानता रहती है, वह वैश्यवर्ण कहलाता है"।

(३)—'अर्थशक्ति का विकास पार्थिव प्राण से सम्बन्ध रखता है, जो कि पार्थिव प्राण 'पूषा'[१] नाम से प्रसिद्ध है। पूषाप्राण आत्मप्रतिष्ठाशून्य प्राण है, अतएव इसे 'मृतभाव' कहा जाता है। 'अम्भः-मरीचिः-मरः-आपः' इन चार जाति के पानियों का क्रमशः 'परमेष्ठी-सूर्य्य पृथिवी-चन्द्रमा' इन चार लोकों से सम्बन्ध माना गया है। पृथिवी का उपादानभूत मूर्च्छित, मरणधर्म्मावच्छिन्न पानी ही 'मर' है। इसी मरअप्तत्त्व के सम्बन्ध में पुष्टिप्रवर्त्तक पार्थिव पूषाप्राण 'मृतभाव' कहलाया है। बाह्य जगत् की पुष्टि मृतभाव ही है। अर्थप्रपञ्च की पुष्टि इसी पूषादेवता पर निर्भर है, एवं यही पूषाप्राण प्रकृति का मृत-भावप्रधान शूद्रवर्ण है। जिस प्राणी में जन्मतः इस प्राण का प्राधान्य रहता है, वह भी शूद्रवर्ण माना गया है"।

(४)—"इस प्रकार अपने वैभव-प्रसार के लिए व्यञ्जनस्थानीय, वाङ्मय, वह क्षरब्रह्म क्रमशः 'दिव्य-वीर-पशु-मृत्' भावप्रवर्त्तक 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र' इन चार वीर्य्यों में विभक्त होता हुआ 'ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य-शूद्र' इन चार वर्णों में परिणत हो गया। परन्तु अभी एक कमी रह गई। चारों वर्ण परस्पर मिल न जायँ, चारों में कर्त्तव्य-साङ्कर्य्य न आ जाय, अपितु चारों अपने क्षेत्र में सुव्यवस्थित रहते हुए परस्पर सहयोग बनाए रक्खें, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी ऐसे नियतिदण्ड की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके नियन्त्रण में रहने से वर्णों का स्वरूप सुरक्षित बना रहे। इसी कमी की पूर्त्ति के लिए ब्रह्म ने सर्वान्त में चारों वर्णों से श्रेष्ठ 'धर्म्म' तत्त्व उत्पन्न किया, एवं इसी स्व-धर्म्मलक्षण मर्य्यादासूत्र से चारों का नियन्त्रण किया।

घट-पट-मठ सूर्य्य-चन्द्रमा-मनुष्य-पशु-पक्षी, इत्यादि पदार्थ परस्पर भिन्न क्यों हैं? इनके नाम-रूप कर्म्म सर्वथा विभक्त क्यों हैं? इसका उत्तर है-'स्वभाव'। घटत्व-पटत्व-मठत्वादि ने ही इनको भिन्न बना रक्खा है, एवं इसी ने इनकी स्वरूपरक्षा कर रक्खी है। यही सुप्रसिद्ध 'स्वभाव' 'धर्म्मपदार्थ' है। ब्राह्मण में जो 'ब्राह्मणतत्त्व' है, (जिस ब्राह्मणत्व ने कि ब्राह्मणवर्ण को इतर वर्णों से पृथक् बना रक्खा है) वही धर्म्म है। क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व ही क्षत्रिय वैश्य-शूद्रवर्णों के भिन्न भिन्न

१ 'पूषा' प्राण का विशद वैज्ञानिक विवेचन "ईशोपनिषद्-विज्ञानभाष्य" प्रथमखण्ड में "पूषन्नेकर्षे०" इत्यादि मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म्म है। जिस दिन इन वर्णों में से ब्राह्मणत्वादि स्व-स्व धर्म्म निकल जायंगे, उस दिन इन धर्म्मभ्रष्ट वर्णों का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जायगा। क्योंकि धर्म्म ही धर्म्मापदार्थ की मूलप्रतिष्ठा है, एवं धर्म्मत्याग ही धर्म्मी-स्वरूप का विनाश है—'धर्म्म एव हतो हन्ति, धर्म्मो रक्षति रक्षितः'।

चारों वर्णों के स्वरूप सम्पादक प्राणदेवता भिन्न भिन्न हैं। अतएव चारों के धर्म्म भी भिन्न भिन्न ही माननें पड़ेंगे। ऐसी परिस्थिति में धर्म्मभेदभिन्न प्राणदेवताओं से उत्पन्न वर्णप्रजा का कभी समानधर्म्म नहीं हो सकता। धर्म्मभेद ही इन विभिन्न-धर्म्मियों की मूलप्रतिष्ठा है। आज इस प्राकृतिक धर्म्मभेद को लेकर अनेक प्रकार के कुतर्क उठाए जाते हैं। इनके निराकरण के लिए भारतीय सनातनधर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले धर्म्मभेद का मौलिक रहस्य आगे के परिच्छेदों में बतलाने की चेष्टा की जायगी। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, चातुर्वर्ण्य-धर्म्म 'वैदिक धर्म्म' है, वेद सत्य है, सत्य-मयी वेदवाक् ब्रह्म है। यही ब्रह्म जब-'ब्रह्म क्षत्र-विट् शूद्र-धर्म्म' इन पांच भावों में परिणत हुआ है, तो इसके वर्णों को, एवं वर्णधर्मों को कैसे सत्यमर्य्यादा से बाहिर किया जा सकता है। चारों में सबसे श्रेयोरूप 'ब्रह्म' है। जो नियति-लक्षणधर्म्म सर्वश्रेय स्वयं ब्रह्म तक का नियन्त्रण कर रहा है, उस सत्यधर्म्म के श्रेयस्त्व में क्या सन्देह रह जाता है"।

(५)—एकाकी ब्रह्म अपनी वैभवकामना को चरितार्थ करने के लिए चातुर्वर्ण्य तथा वर्णधर्म्म रूप में परिणत हो गया। क्षरब्रह्म अक्षरसमुद्भव है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। एक ही प्रकृति के विभिन्न दो विवर्त्तों को 'अक्षर क्षर' कहा जाता है। अमृतप्रधाना प्रकृति 'अक्षर' है, मृत्युप्रधाना प्रकृति 'क्षर' है। एवं—'अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृत आहितः' के अनुसार दोनों अविनाभूत हैं। फलतः मृत्युधर्म्मावच्छिन्न क्षरब्रह्म का अमृतधर्म्मावच्छिन्न अक्षर के साथ अविनाभाव सिद्ध हो जाता है। इस अक्षरतत्व के 'ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम' नामक पांच पर्व माने गए हैं। पांचों में आद्य-त्र्यक्षर 'हृदयाक्षर' हैं, एवं अग्नि-सोमक्षर 'पृष्ठ्याक्षर' हैं। इन हृद्य तीन अक्षरों की समष्टि ही 'अन्तर्य्यामी' है, एवं पृष्ठ्य दो अक्षरों की समष्टि ही 'सूत्रात्मा' है। हमारा क्षरब्रह्म हृद्य अन्तर्य्यामी के सहयोग से तो सत्यात्मिका 'धर्म्मसृष्टि' का प्रवर्त्तक बनता है, एवं पृष्ठ्य सूत्रात्मा के सहयोग से 'वर्णसृष्टि' का आरम्भक बनता है। धर्म्म-एवं धर्म्मी, दोनों प्राकृतिक सृष्टियों से ही क्रमशः पार्थिववर्णों, एवं वर्णधर्म्मसृष्टियों का विकास हुआ है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, उसके प्राकृतिक ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मणदेवताओं से ब्राह्मणवर्ण का, क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रियदेवताओं से क्षत्रियवर्ण का, विड्वीर्य्यप्रधान वैश्यदेवताओं से वैश्यवर्ण का, एवं शूद्रदेवता से शूद्रवर्ण का विकास हुआ है। इसी अभिप्राय से—'क्षत्रियेण क्षत्रियः, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः' यह कहा गया है"।

(६)—"जो वर्ण अपने वर्णधर्म्म का अनुगमन न कर उत्पथ गमन करता है, उस वर्ण की क्या दशा होती है? छठी कंडिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है। वर्णधर्म्म ही 'स्वधर्म्म' है, एवं धर्म्मी आत्मा स्वधर्म्म से उसी तरह अभिन्न है, जैसे कि धर्म्मी अग्नि अपने तापलक्षण स्वधर्म्म से अभिन्न है। जो व्यक्ति अपने आत्मलक्षण धर्म्म को न पहिचानता हुआ परलोक गमन करता है, वह आत्मसुख से वञ्चित रह जाता है।

आगे जाकर वर्णधर्म्मरूप इस आत्मधर्म्म की अवश्य-कर्त्तव्यता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि, मान लो, एक ब्राह्मण वेदस्वाध्याय से वञ्चित है। साथ ही लोकसेवा जैसे महापुण्यकर्म्म का वह अनुगामी बन रहा है। अपने स्वधर्म्मसिद्ध अध्ययनाध्यापन, वेदप्रचार, वेदगुप्ति, ज्ञानप्रसार आदि कर्म्मों का (अज्ञानवश) परित्याग कर सामयिक प्रवाह में पड़ते हुए उसने इतर लोकसेवा, कृषिकर्म्मादि कर्म्मों में आत्मसमर्पण कर रक्खा है। अवश्य ही लोकदृष्टि से इसके ये कर्म उत्तम मानें जायंगे। परन्तु वर्णधर्म्ममर्य्यादा से च्युत होते हुए ये कर्म्म एक ब्राह्मण को शोभा नहीं देते। यदि सभी ब्राह्मण ऐसा करने लगें, तो वेदगुप्ति को कैसे अवसर मिलेगा। इस सुधारप्रेमी ब्राह्मण को यह नहीं भुलाना चाहिए कि, उसका वर्णधर्म्म विरोधी कर्म यद्यपि बड़ा ही उत्तम है, परन्तु अन्ततोगत्वा स्वधर्म्म विरोध के कारण वह पतन का ही कारण बनता है। अतएव हम इन वर्णों को यह आदेश करते हैं कि, वे आत्मलोकरूप स्व स्व वर्णधर्म्मों का ही अनुगमन करें। आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाज के अन्नवस्त्र के प्रश्न को हल करने के लिए ही तो सुधारप्रेमी ब्राह्मण वर्णधर्म्म विरोधी कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। परन्तु हम (श्रुति) उसे यह विश्वास दिलाते हैं कि, यदि प्रत्येक वर्ण अपने अपने कर्म्म में नियतरूप से प्रतिष्ठित रहता है, तो उसको, उसके कुटुम्ब की, उसके समाज की तथा राष्ट्र की सब आवश्यकताएँ अपने आप पूर्ण हो जातीं हैं। यही वर्णमूला (क्षरब्रह्मकृता) वर्णसृष्टि का संक्षिप्त निदर्शन है।"

प्राकृतिकवर्णचतुष्टयी-परिलेखः— (सैषा—ब्रह्ममूला, वर्णकृता वा वर्णसृष्टिः)

१ १—अग्निः, २—सोमः, ३—सविता, ४—मित्रः, ५—बृहस्पतिः, ६—ब्रह्मणस्पतिः, ७—सरस्वती, }—ब्राह्मणा देवाः—ततो ब्राह्मणवर्णसृष्टिः

२ १—इन्द्रः, २—वरुणः, ३—सोमः, ४—रुद्रः, ५—पर्जन्यः, ६—यमः, ७—मृत्युः, ८—ईशानः, }—क्षत्रिया देवाः—ततः क्षत्रियवर्णसृष्टिः

३ १—वसवः, २—रुद्राः, ३—आदित्याः, ४—विश्वेदेवाः, ५—मरुद्गणः, }—वैश्या देवाः—ततो वैश्यवर्णसृष्टिः

४ १—पूषाप्राणः, }—शूद्रो देवः—ततः शूद्रवर्णसृष्टिः

१—ब्रह्मवीर्य्यम्—	दिव्यभावः—	ज्ञानमयः—	तन्मया ब्राह्मणाः।
२—क्षत्रवीर्य्यम्—	वीरभावः—	क्रियामयः—	तन्मया क्षत्रियाः।
३—विड्वीर्य्यम्—	पशुभावः—	अर्थमयः—	तन्मया वैश्याः।
४—शौद्रवर्ण—	मृतभावः—	गुणमयः—	तन्मया सच्छूद्राः।

अदिति-दितिमूला वर्ण-अवर्णसृष्टि—

ब्रह्ममूला वर्णसृष्टि का संक्षिप्त स्वरूप पूर्व परिच्छेद में पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब एक दूसरी दृष्टि से वर्णसृष्टि का मौलिक रहस्य वर्णधर्म्मप्रेमियों के सामने रक्खा जाता है हमें अपनी (मानवी) वर्णव्यवस्था का विचार करना है, एवं हमारा सम्बन्ध पृथिवी लोक से है। ऐसी दशा में पृथिवीलोक से सम्बन्ध रखनेवाली वर्ण-अवर्णव्यवस्था हमारे लिए विशेष उपयोगिनी सिद्ध होगी।

'इयं वै अदितिः' (कौ० ब्रा० ७।६) 'इयं वै दितिः' इत्यादि श्रौतवचन इसी पृथिवी को 'अदिति' कह रहे हैं, एवं इसी को 'दिति' मान रहे हैं। अदिति-दितिभाव परस्पर विरोधी हैं। जहाँ अदिति रहती है, वहाँ दिति नहीं रह सकती, एवं जहाँ दिति का साम्राज्य है, वहाँ अदिति का प्रवेश निषिद्ध है। ऐसी अवस्था में एक ही पृथिवी को अदिति-दिति, दोनों मान लेना कैसे सङ्गत हुआ? यह प्रश्न सामने आता है, और इस प्रश्न के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध 'कश्यपप्रजापति' हमारे सामने उपस्थित होते हैं।

पुराणसिद्धान्त के अनुसार कश्यपप्रजापति की अदिति, दिति, कद्रु, विनता, संज्ञा, दनु, काला आदि १३ पत्नियाँ मानी गई हैं। दक्षप्रजापति[1] की ६० कन्याओं में से १३ कन्याओं का पाणिग्रहण सम्बन्ध कश्यप के साथ हुआ है। इन १३ पत्नियों में से प्रकृत में 'अदिति-दिति' नाम

---

१ दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु, सप्तविंशतिमिन्दवे। ददौ स दश धर्म्माय, कश्यपाय त्रयोदश॥१॥
द्वे चैवाङ्गिरसे प्रादाद् द्वे कृशाश्वाय धीमते। द्वे चैव भृगुपुत्राय वत्स्योऽरिष्टनेमिने॥

—सर्वपुराणेषु।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum, LUCKNOW.

की दो पत्नियाँ हीं अभिप्रेत हैं। कश्यपप्रजापति के 'रेतःसेक' से दिति-पत्नी के गर्भ से दैत्योपलक्षित ९९ असुर उत्पन्न हुए हैं, एवं उसी प्रजापति के रेतःसेक से अदिति-पत्नी के गर्भ से आदित्योपलक्षित ३३ देवता[१] उत्पन्न हुए हैं। इसी आधार पर अदिति 'देवमाता' कहलाई है, एवं दिति 'दैत्यजननी' कहलाई है।

'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध अपने नियत दीर्घवृत्त (अण्डाकार-वृत्त) पर भूपिण्ड सूर्य को केन्द्र बनाकर सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। पृथिवी की यही क्रान्तिगति 'साम्वत्सरिकगति' नाम से प्रसिद्ध है। घूमते हुए भूपिण्ड में सूर्य का प्रवर्ग्य तेज समाविष्ट होता रहता है। जो सौर-प्रवर्ग्य तेज पृथिवी में 'अन्तर्याम' सम्बन्ध में प्रतिष्ठित होता है, वह पृथिवी की अपनी वस्तु बन जाता है। पृथिवी की वस्तु बन कर यह तेज सूर्य की ओर अपना रुख कर लेता है। सूर्य की ओर जाते हुए सूर्य-समक्षाम्मुख्य-पार्थिव इसी दिव्य-तेजोमण्डल को 'अदिति' कहा जाता है। चूंकि इस पार्थिव तेजोमण्डल में सौरतेज अखण्डरूप से आता रहता है, अतएव इस मण्डल को 'अदिति' कहना अन्वर्थ बनता है। इस तेजोमय अदिति मण्डल के ठीक विरुद्ध भाग में, इसी मण्डल के आकार का जो छायामय, किंवा तमोमय पार्थिवमण्डल है, वही सौरप्रकाश-विच्छेद से 'दिति' कहलाया है। अदितिमण्डल में प्रतिष्ठित वही पार्थिव प्राणाग्नि तेजोमय बनता हुआ, अतएव तेजःप्रधान देववर्ग का मुखस्थानीय बनता हुआ देवदूत' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव यज्ञिय देवता स्व-साम्वत्सरिक यज्ञ की सिद्धि के लिए इसी अग्नि को अपना दूत बनाते हैं, एवं इसी को अपना होता बनाते हैं, जैसा कि--'अग्निं दूतं वृणीमहे (ऋक् सं० १।१२।१) 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋक् सं० १।१।१) इत्यादि मन्त्रवर्णनों से स्पष्ट है। दितिमण्डल में प्रतिष्ठित वही पार्थिव प्राणाग्नि तमोमय बनता हुआ, अतएव तमः-प्रधान असुर-वर्ग का मुखस्थानीय बनता हुआ 'असुरदूत' कहलाया है। देवदूत अग्नि 'अग्नि' है, असुरदूत अग्नि 'सहरक्षा' है—(देखिए-शत० ब्रा० १।४।१।३४।)।

जहां तक पार्थिवप्राणाग्नि व्याप्त है, वहां तक पृथिवी (महिमा पृथिवी) की स्वरूप सत्ता मानी गई है, जैसा कि योगमञ्जूति प्रकरण के 'वेदस्वरूप निर्वचन' नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जाचुका है। भूपिण्ड को केन्द्र में रख कर अपने प्राणाग्नि से मण्डलाकार में परिणत यही पार्थिववृत्त 'पृथिवी' है, एवं उक्तरूप से इसी के अदिति-दिति दो विभाग हैं। दोनों विभाग परस्परात्यन्त विरुद्ध होते हुए भी एक ही पृथिवीमण्डल के दो विभाग हैं, अतएव पृथिवी को ही अदिति कह दिया जाता है, एवं पृथिवी को ही दिति मान लिया जाता है। अदितिमण्डलोपलक्षिता तेजोमयी पृथिवी में प्रतिष्ठित, देवदूतलक्षण प्राणाग्नि की व्याप्ति २१वें अहर्गण तक व्याप्त इसी प्राणाग्नि के त्रिवृत्-पञ्चदश एकविंशस्तोमों में घन तरल-विरलावस्था-लक्षण अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन रूपों का (पूर्व की वेदनिरुक्ति में) अवस्थान बतलाया गया है। एवं उसी वेदनिरुक्ति में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, घनावस्थापन्न प्राणाग्नि (अग्नि) त्रिवृत्-स्तोमस्थानीय बनता हुआ पार्थिव है, तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि (वायु) पञ्चदश-स्तोमस्थानीय बनता हुआ आन्तरिक्ष्य है, विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि (आदित्य) एकविंश-स्तोमस्थानीय बनता हुआ दिव्य है। इस प्रकार ३३ अहर्गणात्मक पार्थिव-वषट्कार के २१ वें अहर्गण तक व्याप्त, तेजोमयी अदिति मण्डलात्मिका एक ही महापृथिवी में स्तोम-भेद सहकृत अग्नित्रयी के भेद से तीन लोकों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। महापृथिवी का त्रिवृत् प्रदेश पृथिवी है, वैदिक परिभाषा में पृथिवी को 'माता' कहा जाता है, इस दृष्टि से हम अदिति को 'माता' भी कह सकते हैं। महापृथिवी का पञ्चदश-प्रदेश अन्तरिक्ष है, एवं इस प्रदेश की दृष्टि से अदिति को 'अन्तरिक्ष' भी कहा जा सकता है। महापृथिवी का एकविंश-प्रदेश द्युलोक है, द्युलोक ही वैदिकपरिभाषानुसार 'पिता' कहलाया है, एवं इसी दृष्टि से अदिति को पिता भी कहा जा सकता है। तीनों रसों के सम्मिश्रण से ही पार्थिव प्रजा उत्पन्न होती है, एवं तीनों रसों के समन्वय से ३३ देवता अदितिगर्भ में जन्म लेते हैं, अतएव अदिति को 'पुत्र' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अपने त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-रससमन्वय, आदि विभिन्न भावों की अपेक्षा से महापृथिवीलक्षणा अदिति 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-माता-पिता-अपत्य' सब कुछ बन रही है, सब कुछ मानी जा सकती है। अदिति पृथिवी की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अदितिर्द्यौ, रदितिरन्तरिक्ष मदितिर्माता, स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

—ऋक् सं० १।८९।१०

---

१ अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम !
आदित्या, वसवो, रुद्रा, अश्विनौ च परन्तप !

—वाल्मीकिः।

त्रिवृत्स्तोम में प्रतिष्ठित अग्नि की अपेक्षा से यही अदिति 'प्रातःसवन' की, पञ्चदशस्तोम में प्रतिष्ठित वायु की अपेक्षा से यही अदिति 'माध्यन्दिन-सवन' की, एवं एकविंशस्तोम में प्रतिष्ठित आदित्य की अपेक्षा से यही अदिति सायंसवन' की अधिष्ठात्री बन रही है। प्रातःसवनोपलक्षित प्रातः-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काल से आरम्भ कर सायंसवनोपलक्षित सायंकाल तक इसी अदिति का साम्राज्य है। एक ही अहःकाल उक्त तीन सवनों में विभक्त हो रहा है। प्रातःसवन में प्रतिष्ठित अदितिपुत्रस्थानीय पार्थिवाग्नि 'ब्रह्म' है, माध्यन्दिनसवन में प्रतिष्ठित वायुगर्भित इन्द्र 'क्षत्र' है, एवं सायंसवन में प्रतिष्ठित विश्वेदेवात्मक आदित्य 'विट्' है। ब्रह्मवीर्य्य 'ब्राह्मणभाव' है, क्षत्रवीर्य्य 'क्षत्रियभाव' है विड्वीर्य्य 'वैश्यभाव' है।

पार्थिव तेजोयुक्त प्रातःकालीन सौरतेज ज्ञानशक्तिप्रधान बनता हुआ 'ब्राह्मण' है, मध्याह्न का सौरतेज क्रियाशक्तिप्रधान बनता हुआ 'क्षत्रिय' है, एवं सायंकालीन सौरतेज अर्थशक्तिप्रधान बनता हुआ 'वैश्य' है। प्रातःसवनीय अग्निदेवता अष्टाक्षर 'गायत्रीछन्द' से छन्दित बनता हुआ 'गायत्र' है, माध्यन्दिनसवनीय वायुगर्भित (मरुत्वान् नामक) इन्द्रदेवता एकादशाक्षर 'त्रिष्टुप्छन्द' से छन्दित होता हुआ 'त्रैष्टुभ' है, एवं सायसवनीय आदित्यगर्भित विश्वेदेवता द्वादशाक्षर 'जगतीछन्द' से छन्दित बन कर 'जागत' है। गायत्र अग्नि 'ब्राह्मण' है, त्रैष्टुभ इन्द्र 'क्षत्रिय' है, एवं जागत विश्वेदेव 'वैश्य' है।

प्रातःकाल का ब्रह्म-सौरतेज 'वर्द्धिष्णु' है, मध्यान्ह का क्षत्र-सौरतेज 'वृद्धिगत' है, एवं सायंकाल का विट्-सौरतेज 'क्षयिष्णु' है। जो स्थिति 'ब्रह्म' की है, वही स्थिति 'विट्' की है, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित क्षत्र दोनों का शासन कर रहा है। इसी आधार पर—'तस्मात् क्षत्रात परं नास्ति' कहा जाता है। क्षत्रबल मध्य में ऊँचा उठा हुआ है। ब्रह्म और विड्बल क्रमशः पूर्व-पश्चिम क्षितिज में प्रतिष्ठित रहते हुए समानधरातल पर प्रतिष्ठित हैं। इसी आधार पर—'ब्राह्मण बनिए का जोड़ा' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। ब्राह्मण और वैश्य का समन्वय प्राकृतिक है, परन्तु क्षत्रिय कभी इनके युग्म में नहीं आया करता। ठाकुरों की ठकुराई दोनों से कभी मेल नहीं खाती।

पार्थिवतेजोयुक्त सौर इन्द्रतत्त्व ('मघवा' नामक इन्द्रतत्त्व) 'गायत्री-सावित्री-सरस्वती' इन तीन प्रणालियों के भेद से क्रमशः 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-' वीर्य्यों की प्रतिष्ठा बनता है। प्रातःसवनीय, पार्थिव, प्राणाग्निप्रधान गायत्रप्रणाली से निकला हुआ सौरतेज 'ब्रह्म' है। माध्यन्दिनसवनीय, आन्तरिक्ष्य, वायुगर्भितइन्द्रप्रधान, सावित्रप्रणाली से आगत सौरतेज 'क्षत्र' है। एवं सायंसवनीय, दिव्य, आदित्यगर्भित विश्वेदेवप्रधान, सारस्वतप्रणाली से आया हुआ वह सौरतेज 'विट्' है। इस प्रकार-गायत्र अग्नि, त्रैष्टुभ इन्द्र, जागत विश्वेदेव, ये तीनों सच्छन्दस्क प्राणदेवता ही (अदितिपृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित) प्रकृतिमण्डल के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वर्ण हैं। एवं तीनों क्रमशः ज्ञान क्रिया-अर्थ प्रधान हैं।

पूर्वप्रतिपादित सवनों में से सारस्वत-प्रणाली से सम्बन्ध रखनेवाला सायंसवन 'तेजः-तमः' के भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। सायंकाल का कुछ भाग तो ऐसा है जिस में प्रकाश रहता है, एवं सायंकाल की ही एक ऐसी भी अवस्था मानी गई है, जिसमें प्रकाश नहीं रहता। सूर्यास्त हो गया, परन्तु प्रकृतिमण्डल में अभीतक भूभा से प्रतिफलित सौरतेज विद्यमान है, धूप नहीं है, छायामय प्रकाश अवश्य है, यही सायंकाल की एक अवस्था है एवं इसी को 'तेजोमय सायंसवन' माना गया है। भूभा का प्रतिफलन भी अस्त हो गया, सूर्य बिलकुल डूब गया, प्रकाश की आभा विलुप्त हो गई, अन्धकार आया तो नहीं, किन्तु उपक्रम हो गया, यही सायंकाल की एक अवस्था है, एवं इसी को 'तमोमय सायंसवन, माना गया है।

दोनो में से तेजोमय सायंसवन का 'विड्वीर्य्य' से सम्बन्ध है, एवं तमोमय सायंसवन से पूषाप्राणात्मक 'शूद्र' का सम्बन्ध है। तेजोमय सायंसवन में तेजःप्रधान विश्वेदेवों के विकास से पार्थिव पूषा को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता . जब तेजोंऽश का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, तभी पूषाप्राण स्वस्वरूप से प्रकट होता है। सायंसवनीय, तमःप्रणाली से आया हुआ यह पूषाप्राण ही शूद्रसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। इस प्रकार अदितिमण्डलात्मक केवल अहःकाल में ही 'प्रातःसवन[1]—माध्यन्दिनसवन[2]—तेजोमयसायंसवन[3]—तमोमयसायंसवन[4]' भेद से 'अग्नि—इन्द्र—विश्वेदेव—पूषा' प्राणों के द्वारा चारों वर्णों की प्रतिष्ठा सिद्ध हो जाती है।

यह तो हुआ अदितिमूलक वर्णभाव का संक्षिप्त विचार। अब क्रमप्राप्त दितिमूला अवर्णसृष्टि का भी विचार कर लीजिए। पृथिवी का वह अंधामण्डल, जहां कि सौरतेज का सम्बन्ध नहीं होने पाता 'दितिमण्डल' है। तमोभाव के तारतम्य से इस दितिमण्डल के भी चार ही विभाग मान लिए गए हैं। 'वर्ण' का देवभाव से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में देवसम्बन्ध से ही 'वर्ण' का विकास होता है। जिसमें देवप्राण का विकास नहीं होता, देवप्राण तम के अतिशय से सर्वथा अनुद्बुद्ध रहता है, वह 'अवर्णसृष्टि' कहलाती है। अदितिगत तमोमय प्राण से ही चूंकि अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु म्लेच्छों का आत्मा सम्पन्न हुआ है, अतएव इन्हें 'अवर्णप्रजा' ही माना जायगा। ब्राह्मणवर्ण तथा अन्त्यज अवर्ण, दोनों का एक युग्म है। क्षत्रियवर्ण, तथा अन्त्यावसायीअवर्ण, दोनों का एक युग्म है। वैश्यवर्ण तथा दस्यु अवर्ण, दोनों का एक युग्म है। एवं शूद्रवर्ण, तथा म्लेच्छ अवर्ण इन दोनों का एक युग्म है। इस युग्मभाव का तात्पर्य्य यही है कि, जो श्रेणिविभाग-क्रम वर्णसृष्टि में है, वही श्रेणिविभाग-क्रम अवर्णसृष्टि में है। उत्तर-उत्तर वर्ण की अपेक्षा पूर्व-पूर्व वर्ण श्रेष्ठ है, एवं उत्तर-उत्तर अवर्ण की अपेक्षा पूर्व-पूर्व अवर्ण श्रेष्ठ है।

ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य, तीनों वर्णों के आत्मा में तेज का साक्षात् सम्बन्ध है, अतएव इन्हें 'वर्ण' कहा जाता है। शूद्रतेज चूंकि तमोभाग से युक्त है, साथ ही इसका कोई छन्द भी नहीं है, अतएव इसे 'अवरवर्ण' माना गया है। अवरवर्णता का दूसरा कारण है, पार्थिव पूषाप्राण। स्वयं पूषाप्राण अवरकोटि में प्रतिष्ठित पृथिवी का प्राण है। इसलिए भी तद्युक्त शूद्र को अवरवर्ण कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। पूषाप्राण देवता है, एवं देवता देवता के स्पर्श से देवबल में कोई क्षति नहीं होती, अतएव अवरवर्णात्मक सच्छूद्रों को 'स्पृश्यशूद्र' माना गया है। तक्षा (खाती), अयस्कार (लुहार), गोप, नापित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदि सच्छूद्र हैं. एवं इनके स्पर्श से कोई दोष नहीं माना जाता। इन्हीं को 'अनिरवसित' (अबहिष्कृत) कहा गया है—'शूद्राणामनिरवसितानाम्' (पा० सू० २।४।१०)। दितिमण्डल के देवविरोधी आसुरभाव से सम्बन्ध रखनेवाले अन्त्यजादि चारों अवर्ण अस्पृश्य हैं, बहिष्कृत हैं। इन चारों निरवसितों में अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, ये तीन अवर्ण तो भारतीयप्रजा है, एवं चौथे म्लेच्छ अवर्ण कोई सम्बन्ध नहीं है। महत्तर, चर्म्मकार, कोली, आदि अन्त्यज हैं। खटीक, वधिक आदि अन्त्यावसायी हैं। कञ्जर, भिल्ल, सांधी आदि दस्यु हैं। वक्तव्यांश यही है कि, पृथिवी के अदिति-दिति भागों से ही वर्ण—एवं अवर्णसृष्टि का विकास हुआ है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

उक्त कथन से निष्कर्ष यह निकला कि, अदितिमण्डलस्थ ज्योतिर्म्मय देवता वर्णरूप हैं, एवं इन से वर्णसृष्टि हुई है। तथा दितिमण्डलस्थ तमोमय असुर अवर्णरूप हैं, एवं इनसे अवर्णसृष्टि हुई है। देवी, तथा आसुरी सम्पत् ही विश्व का स्वरूपलक्षण है। सर्वत्र सब में दोनों का साम्राज्य है, परन्तु कहीं देवीविभूति का विकास, एवं आसुरीविभूति का तिरोभाव, कहीं आसुरी विभूति का विकास, एवं देवीविभूति का पराभव 'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'।

अदिति से सम्बन्ध रखने वाली वर्णसृष्टि के सम्बन्ध में पूर्व में कहा गया है कि, विश्व में 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्' ये तीन वीर्य्य हैं, तीनों का क्रमशः 'गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती' इन तीन छन्दों से सम्बन्ध है, प्रातः गायत्री का साम्राज्य है, मध्याह्न में सावित्री का प्रभुत्व है, एवं सायंकाल जगती का शासन है, जो कि जगती सरस्वती से सम्बद्ध है। सवनत्रयी से सम्बन्ध रखने वाली 'गायत्री-सावित्री-सरस्वती' इन तत्त्वों का क्या स्वरूप है ? संक्षेप से यह भी जान लेना चाहिए।

सूर्य्य का वह तेज, जो सूर्य्य बिम्ब से निकल कर चारों ओर फैलता हुआ, हमारी ओर भी आ रहा है—'सावित्री' नाम से प्रसिद्ध है। केवल सौरतेज का ही नाम सावित्री नहीं है। क्योंकि सावित्री उस तत्त्व का नाम है, जो सविता से निकल कर चारों ओर फैलती है। सविताप्राण जहां-जहां रहेगा, सर्वत्र सावित्री का नित्य सम्बन्ध माना जायगा। प्रवर्त्तक पिण्डमात्र सविता है, एवं पिण्ड से निकलने वाला प्रेरक प्राण ही 'सावित्री' है। इस परिभाषा के अनुसार सर्वत्र सविता-सावित्री का अवस्थान सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट है—

१—" मनः "—सविता—" वाक् "—सावित्री।
२—" प्राणः "—सविता—" अन्नं "—सावित्री।
३—" वेदाः "—सविता—"छन्दांसि "—सावित्री।
४—" यज्ञः "—सविता—"दक्षिणा "—सावित्री।
५—" अग्निः"—सविता—" पृथिवी "—सावित्री।
६—" वायुः "—सविता—"अन्तरिक्षं"—सावित्री।
७—"आदित्य"—सविता—" द्यौः "—सावित्री।
८—"चन्द्रमाः"—सविता—"नक्षत्राणि"—सावित्री।
९—" अहः "—सविता—" रात्रिः "—सावित्री।
१०—" उष्णं "—सविता—" शतं "—सावित्री।
११—" अभ्रं "—सविता—" वर्षं "—सावित्री।
१२—" विद्युत्"—सविता—"स्तनयित्नुः"—सावित्री।

"तमुपसङ्गृह्य पप्रच्छ—अधीहि भोः, कः सविता ? का सावित्री ! इति। 'मन' एव सविता, 'वाक्' सावित्री। यत्र ह्येव मनस्तद् (तत्र) वाक्, यत्र वै वाक् तन्मनः। इत्येते द्वे योनी, एकं मिथुनम्। 'अग्नि' रेव सविता, 'पृथिवी' सावित्री। यत्र ह्येवाग्निस्तत् पृथिवी, यत्र वै पृथिवी, तदग्निरित्येते द्वे योनी, एकं मिथुनम्" इत्यादि। (गोपथब्राह्मण पू० १।३३ मौद्गल्यविद्या)।

उक्त परिभाषा के अनुसार अग्नि से नकलने वाला साक्षात तेज भी 'सावित्री' कहलाएगा। दीपार्चि (दीपशिखा-लौ) सविता होगा, उसका साक्षात् (सीधा) प्रकाश 'सावित्री' कहलाएगा। गुरू सविता माना जायगा, गुरुपदेशलक्षण वाक् सावित्री कहलाएगी। सविता से निकल कर सीधा आने वाला प्रकाश ही, प्राण ही, प्रेरणा ही सावित्री मानी जायगी। यही साक्षात् तेज किसी अन्य वस्तु से प्रत्याहत (टकराकर) होकर जब प्रतिफलित होगा, तो उस समय इसे सावित्री न कहकर 'गायत्री' कहा जायगा। उदाहरणार्थ, आता हुआ सौरतेज यदि सावित्री है, तो पृथिवी से टकरा कर वापस सूर्य्य की ओर जाता हुआ वही सौरतेज गायत्री है। प्रातःसवनीय पार्थिव अग्नि चूंकि इसी गायत्रतेज से युक्त रहता है, अतएव पृथिवी को, एवं पार्थिव अग्नि को 'गायत्री' कह दिया जाता है, जैसा कि—'या वै सा गायत्री आसीत्, इयं वै सा पृथिवी' (शत० १४।१।३४) स्पष्ट है। अपि च पृथिवी (चित्यभूपिण्ड) का स्वरूप 'आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य' इन आठ भागों में विभक्त है। एवं अष्टाक्षरछन्द को ही चूंकि गायत्रीछन्द' कहा जाता है, इसलिए भी अष्टावयवा पृथिवी को गायत्री कहना अन्वर्थ बनता है—(देखिए शत० ६।१।१।१५)। इसके अतिरिक्त अग्निज्येष्ठ आठ वसुगणों के सम्बन्ध से भी पृथिवी अष्टाक्षरा बनती हुई गायत्री कहला रही है।

जिस प्रकार प्रातःसवनीय, प्रतिफलित सौरतेज 'गायत्री' है, तथा माध्यन्दिनसवनीय, साक्षात् सौरतेज जैसे 'सावित्री' है, एवमेव सायंसवनीय प्रतिफलित वही सौरतेज (गायत्री न कहला कर) 'सरस्वती'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नाम से व्यवहृत हुआ है। कारण स्पष्ट है। प्रातःसवनीय गायत्र-लोक 'पृथिवीलोक' है, माध्यन्दिनसवनीय सावित्रलोक अन्तरिक्षलोक है, एवं सायंसवनीय सारस्वतलोक 'द्युलोक' है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' (कौ० ब्रा० १८।२) के अनुसार चौथा 'आपोलोक' है। यही 'सरस्वान्' नामक पारमेष्ठ्य समुद्र है। रात्रि में इसी सरस्वान् समुद्र के सौम्यप्राण की प्रधानता रहती है, अतएव रात्रि 'सौम्या' कहलाई है। इस सरस्वान् के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठिनी वाक् 'सरस्वती' कहलाई है, जैसा कि पूर्व की वर्णनिरुक्ति में स्पष्ट किया जा चुका है। चतुर्थलोकाधिवासिनी इस सरस्वती के साथ तृतीय (द्यु) लोकस्थ प्रतिफलित सौरतेज का सम्बन्ध रहना प्रकृति सिद्ध है। इसी सम्बन्ध से यह सायंकालीन तेज 'गायत्री' न कहला कर 'सरस्वती' कहलाया है।

अग्नि गायत्र है, एवं अपने प्रतिफलनधर्म्म के कारण यह गायत्र तेज सर्वथा शान्त है। यही साक्षात 'ब्रह्म' है। दूसरे शब्दों में गायत्री, किंवा गायत्र अग्नि ही ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं यही वेदमाता गायत्री ब्राह्मणवर्ण का मूलधन है। सर्वथा शान्त, किन्तु विकासलक्षण अग्निरूपता से उत्तरोत्तर वर्द्धिष्णु यही ब्रह्मवीर्य्य इतर सब वीर्य्य-अवीर्य्यों का, वर्ण-अवर्णों का मूल है, जैसा कि—'सर्वं ब्रह्म स्वंभुक्तं'—'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्' इत्यादि स्मार्त्तवचनों से प्रमाणित है। मध्याह्न का सावित्रतेज उग्र है, यही 'क्षत्र' है, एवं यही क्षत्रियवर्ण का मूलधन है। सायंकालीन सारस्वत तेज संकोचलक्षण सोम के सम्बन्ध से उत्तरोत्तर क्षयिष्णु है, यही विड्वीर्य्य है। एवं रात्रि का तमोभावापन्न तेज 'शूद्र' की प्रतिष्ठा है।

उक्त चारों वर्णों में वैश्य का सायंकालीन क्षयिष्णु सारस्वत तेज के साथ सम्बन्ध होने से ही वैश्य को 'प्रजा' कहा जाता है। इसी आधार पर श्रुतियों में 'विट्'-और 'प्रजा' शब्दों को अभिन्नार्थक माना गया है। सायंसवनीय, शान्त, किन्तु क्षयिष्णु, सारस्वत तेजोरूप इस विट् पर (इसके अन्नादभाव से) माध्यन्दिनसवनीय, वृद्धिगत, सावित्र तेजोरूप क्षत्रवीर्य्य का भी शासन है, एवं प्रातःसवनीय, शान्त किन्तु वर्धिष्णु गायत्रतेजोरूप ब्रह्मवीर्य्य का भी अनुशासन है।

पृथिवी में जहां 'अग्निब्रह्म' का साम्राज्य है, वहां अन्तरिक्ष में वायु, मरुत्वान् नामक इन्द्र, एवं चन्द्रमा का शासन माना गया है, तथा द्युलोक में सूर्य्य का आधिपत्य बतलाया गया है। पूर्वपरिभाषानुसार अग्नि-चन्द्रमा-सूर्य्य, तीनों का साक्षात तेज सावित्र है, एवं यह सावित्र तेज ही क्षत्रियवर्ण का आत्मा बनता है। यही कारण है कि, समस्त आर्य्यावर्त्त में क्षत्रियवंश—'अग्निवंश-चन्द्रवंश-सूर्य्यवंश' भेद से तीन ही प्रधान शाखाओं में विभक्त हुआ है। विवस्वान् मनु के वंशज सूर्य्यवंशी क्षत्रिय हैं, एवं इनका स्थान सर्वोच्च है। मनुपुत्री इला के वंशज चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं, एवं इनका स्थान मध्यम है। इन चन्द्रवंशी क्षत्रियों की 'पुरु-अणु-द्रु-ह्यु-तुर्वसु-यदु' ये पांच शाखा प्रधान थीं। यही पञ्चक वैदिक-इतिहास में 'पञ्चजन' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इन पांचों में से पुरु और यदु तो भारतवर्ष में ही रहे, शेष तीनों वंश महाराज 'मान्धाता' द्वारा यूनान में निकाल दिए गए। स्वधर्म्मच्युत ये ही तीनों चन्द्रवंशी आगे जाकर 'यवनवंश' के मूलप्रवर्त्तक बने। पमार, परिहार, सोलंकी, चौहान, आदि वंश 'अग्निवंशी' कहलाए, एवं इनका तीसरा स्थान रहा, जैसा कि, 'गीता-भूमिका प्रथमखण्ड' के 'ऐतिहासिक सन्दर्भसङ्गति' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

सवनभेदभिन्न इस तेजोविभाग से प्रकृत में हमें यही कहना है कि, पृथिवी के (सम्वत्सरात्मक) अदिति भाग से तो वर्णसृष्टि हुई है, एवं दितिभाग से अवर्णसृष्टि हुई है। वर्णसृष्टि के आरम्भक अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव, तीनों देवता क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप-जगती छन्दों से छन्दित रहते हुए सच्छन्दस्क हैं, मर्य्यादित हैं, नियमितेच्छाचार-विहार-परायण हैं। चौथा शूद्रवर्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्राजापत्य अनुष्टुप्छन्द से छन्दित रहता हुआ, नाममात्र का परच्छन्दानुवर्त्ती है, शेष चारों अवर्णशूद्र किसी छन्द से सम्बन्ध न रखते हुए स्वच्छन्द हैं, अमर्य्यादित हैं, यथेच्छाचार-विहारपरायण हैं। छन्दोमूलक इसी वर्णविज्ञान का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

१—"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्,

२—त्रिष्टुभा राजन्यं (निरवर्त्तयत्),

३—जगत्या वैश्यं (निरवर्त्तयत्),

४—न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्"।

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः'—'देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्' इत्यादि श्रौत-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार चार वर्णों में विभक्त देवात्मक प्राणदेवताओं से, एवं चार अवर्णों में विभक्त देवतात्मक प्राणरूप असुरदेवताओं से विश्वात्मक कार्य्य का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। 'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते' इस न्याय के अनुसार विश्व के यच्चयावत् (जड़-चेतन, सर्वविध) पदार्थों में हम चातुर्वर्ण्यव्यवस्था मानने के लिए तय्यार हैं। सृष्टि का स्वरूप इसी प्राकृतिक वर्णव्यवस्था पर अवलम्बित है। आइए ! पहिले चेतनसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली वर्णव्यवस्था का ही विचार किया जाय।

जिन चेतन प्राणियों के आत्मा में जन्मतः गायत्र-ब्रह्म प्राण की प्रधानता रहेगी, वे (इतर सब प्राणों के रहने पर भी) 'तद्वाद' न्याय से 'ब्राह्मण' कहलाएंगे। जिनके आत्मा में इन्द्रादि क्षत्र देवताओं का प्रधान्य रहेगा, वे 'क्षत्रिय' कहलाएंगे। जिनके आत्मामें वसु-रुद्र-आदित्यादि (गणात्मक) विट्देवता प्रधान रहेंगे, वे 'वैश्य' कहलाएंगे एवं जिनके आत्मा में पूषाप्राण का प्राधान्य रहेगा, वे 'शूद्र' नाम से प्रसिद्ध होंगे। अग्निप्रधान देवता 'ब्राह्मण' का आत्मा बना हुआ है। अग्नितत्त्व अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से नित्य युक्त है। एक एक वर्ष में (पृथिवी की एक एक साम्वत्सरिक परिक्रमा से) एक एक अग्निमात्रा की स्वरूप निष्पत्ति होती है। इस क्रम से आठवें वर्ष में अग्निब्रह्म पूर्ण बनता है। इसी समय ब्राह्मण में छन्दोलक्षण मर्य्यादा सूत्र का विकास होता है, जिसकी कि प्रतिकृति 'यज्ञोपवीत' माना गया है। इन्द्रप्रधान देवता क्षत्रिय का आत्मा है। इन्द्रतत्त्व एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द से नित्य युक्त है। इस दृष्टि से ११ वें वर्ष में क्षत्रिय बालक के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का विधान हुआ है। आदित्यप्रधान देवता वैश्य का आत्मा है। आदित्यतत्त्व द्वादशाक्षर जगतीछन्द से नित्य युक्त है। अतएव वैश्यबालक १२ वें वर्ष में यज्ञोपवीत का अधिकारी बनता है। शूद्र का अच्छन्दस्क पूषाप्राण से सम्बन्ध है, अतएव यह यज्ञमर्य्यादा से बहिष्कृत है। यज्ञ का सम्वत्सर मण्डल से सम्बन्ध है, किंवा सम्वत्सरमण्डल का ही नाम यज्ञ है। सम्वत्सर को अदितिमण्डल माना गया है। इस अदितिमण्डल में गायत्र अग्नि, त्रैष्टुभ इन्द्र, जागत आदित्य, इन तीन प्राणदेवताओं का ही साम्राज्य है चौथा पूषाप्राण भूपिण्ड से सम्बन्ध रखता हुआ यज्ञात्मक अदिति मण्डल से, महापृथिव्यात्मक सम्वत्सरयज्ञमण्डल से बहिर्भूत है। अतएव तत् प्रधान शूद्र भी प्रकृत्या यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव इसे यज्ञोपवीत-संस्कार का अनधिकारी माना गया है, जैसा कि, आगे आने वाले 'संस्कारविज्ञान' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

पाठकों को स्मरण होगा कि हमने पूर्व में मनः-प्राण-वाङ्मूर्त्ति, सत्तालक्षण, कर्म्मात्मय को, किंवा तदनुगृहीत क्षरब्रह्म को ही वर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक बतलाया था। उक्त वर्णसृष्टि के साथ इन छन्दोभावों का समन्वय करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानमय मन ही 'ब्रह्म' है, क्रियामय प्राण ही 'क्षत्र' है, अर्थमयी वाक् ही 'विट्' है, एवं प्रवर्ग्यलक्षण मृतभाग ही 'शूद्र' है। इन चारों का मूल वही क्षरब्रह्मतत्त्व है। ज्ञान साक्षात् ब्रह्म है—'तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्'। अर्थ-क्रिया-आदि इतर भावों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है। ज्ञान ही अर्थ-क्रियावच्छिन्न-रूप विश्व का प्रभव है, ज्ञान ही प्रतिष्ठा है, ज्ञान ही परायण है। क्षत्रवीर्य्य का काम कर्म्म करना है, विड्वीर्य्य का काम कर्म्म करना है। भोक्ता तो एकमात्र ब्रह्म ही बनता है।

मन के द्वारा वही अव्यय ब्रह्मवीर्य्य की, प्राण के द्वारा क्षत्रवीर्य्य की, एवं वाक् के द्वारा विड्वीर्य्य की प्रतिष्ठा बना हुआ है। मनः-प्राण-वाक् की समष्टि ही सत्ता', किंवा 'अस्तित्व' है। एवं यही अव्यय ब्रह्म का 'अमृतरूप' है। मन से उत्पन्न रू.ों का, प्राण से उत्पन्न कर्म्मों का, एवं वाक् से उत्पन्न नामों का समुच्चय ही उसका मर्त्यरूप है। मर्त्यभाग अमृत से अविनाभूत है। अमृतभाग वर्णरूप है। जब कि इस अस्तिलक्षण अमृताव्यय का कहीं भी अभाव नहीं, तो हम कह सकते हैं कि, संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जिसमें कि वर्णव्यवस्था न हो। सभी 'अस्ति' से युक्त हैं। सृष्टि के आरम्भ में केवल 'ब्रह्म' रूप से प्रतिष्ठित वह एक ही वर्ण सृष्टिदशा में अपने स्वाभाविक कर्म की महिमा से 'चातुर्वर्ण्य रूप में परिणत हो गया है, जैसा कि निम्न लिखित व्यास वचन से स्पष्ट है—

---

१ देव शब्द जहां केवल सौर ३३ देवताओं का वाचक है, वहां 'देवता' शब्द देव असुर-गन्धर्वादि यच्चयावत् प्राणों का वाचक है। इसी आधार पर हमने यहां ३३ वर्ण देवताओं को 'देवात्मक प्राणदेवता' कहा है, एवं ९९ अवर्ण असुरों को देवता कहा है। इस विषय का विवेचन 'शतपथ विज्ञानभाष्य' के 'अष्टविध देवता निरूपण' प्रकरण में देखना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न विशेषोऽस्ति (आसीत्) वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, १८८ अ० । १० श्लोक ।

कितने एक कल्पना रसिक उक्त वचन को आगे करते हुए बड़े आग्रह के साथ वर्णव्यवस्था का कर्म्ममूलत्व सिद्ध करते देखे गए हैं । वास्तव में व्यवस्था तो यह कर्म्ममूला ही है । परन्तु उन काल्पनिकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, वह कर्म्म हमारा नहीं है, अपितु अव्ययेश्वर का कर्म्म है । कर्म्माव्यय ही वर्णव्यवस्था का प्रवर्त्तक है । उसने अपने मनः-प्राण-वाग् रूप कर्मभाग से ही अपने एकरूप ब्रह्मवर्ण को 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ-उच्छिष्ट' भागों में विभक्त करते हुए वर्णव्यवस्था की है । जो कि व्यवस्था अव्ययेश्वर सम्बन्ध से कर्म्ममूला बनती हुई भी हमारे लिए विशुद्ध जन्ममूला ही बन रही है । अस्तु, वर्णव्यवस्था जन्मना है ? अथवा कर्म्मणा ? इन प्रश्नों की मीमांसा आगे होने वाली है । प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, सत्तालक्षण, कर्म्ममूर्त्ति, अव्यय ब्रह्म ही क्षरावच्छेदेन वर्णों का प्रभव है, एवं समष्टि व्यष्टि रूप से चर-अचर पदार्थों में सर्वत्र यह व्यवस्था व्याप्त हो रही है ।

बिना चातुर्वर्ण्य के किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रह सकता । "वृक्ष-कृमि-कीट-पशु-पक्षी-सरीसृप-मनुष्य-देवता गन्धर्व" आदि सब में (प्रत्येक में) चारों वर्णों का भोग हो रहा है । लेखिनी, पुस्तक, मसीपात्र, वस्त्र, गृह, आभूषण, द्रव्य, आदि आदि में सर्वत्र इस व्यवस्था का साम्राज्य है । जिस प्रकार महादशा, दशा, अवान्तरदशा, अन्तरदशा, प्रत्यन्तरदशा, सूक्ष्मान्तरदशा, प्राणदशा, आदि के क्रम से दशाएं परस्पर ओत-प्रोत हैं, एवमेव परमाणु-परमाणु में हमारे ये चारों वर्ण व्याप्त हो रहे हैं ।

उदाहरण के लिए 'पुस्तक' पर ही दृष्टि डालिए । पुस्तक में जो एक प्रतिष्ठा (ठहराव, धृति-विधृति) है, वही ब्रह्ममूलक 'ब्राह्मणवर्ण' है । 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।७) के अनुसार प्रतिष्ठा ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । पुस्तक में रहने वाला आदान-विसर्गात्मक क्रियाभाग ही 'क्षत्रियवर्ण' है । इसी ने अपने क्षात्रधर्म से पुस्तक की स्वरूप रक्षा कर रक्खी है । ऐसी स्वाभाविक क्षत्रक्रिया से पुस्तक की अवस्थाओं में परिवर्त्तन होता रहता है । पुस्तकरूप वह अर्थभाग (पदार्थ) विड्मूलक वैश्यवर्ण है, जिसके कि आधार पर प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म, एवं क्रियालक्षण क्षत्र प्रतिष्ठित हैं प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म, एवं क्षत्रलक्षण क्रिया, दोनों से यह विट्-लक्षण पुस्तक नामक पदार्थ सुरक्षित रहता हुआ अपनी वैश्यमूला 'गुप्तमर्य्यादा' का अधिकारी बन रहा है । ब्रह्मप्रतिष्ठा की उत्क्रान्ति से जिस दिन क्षत्रक्रिया उत्क्रान्त हो जायगी, उस दिन विट्-अर्थ (पुस्तक) स्मृतिगर्भ में विलीन हो जायगा । पुस्तकरूप अर्थ, अपने अर्थभाव की पुष्टि के लिए अन्य वस्तुओं के जिन प्रवर्ग्य भागों का आदान कर रहा है, वे ही प्रवर्ग्यभाग, एवं रूप-नाम-संख्या-परत्त्व-अपरत्त्व-गुरुत्त्व दिक्त्व-आदि बहिरङ्ग (आश्रित), धर्म्म, सब शूद्रकोटि में अन्तर्भूत हैं । इस प्रकार केवल पुस्तक में 'प्रतिष्ठा-क्रिया-अर्थ-बहिरङ्गधर्म्म' भेद से चारों वर्णों का उपभोग हो रहा है ।

ब्रह्मभावोपेत मनुष्य 'ब्राह्मण' है, क्षत्रभावोपेत मनुष्य क्षत्रिय है' विड्भावोपेत मनुष्य 'वैश्य' है, एवं पूषायुक्त मनुष्य 'शूद्र' है । अब केवल ब्राह्मण में ही चारों वर्णों का समन्वय देखिए । ज्ञानशक्तियुक्त 'मस्तक' ब्राह्मण है, क्रियाशक्तियुत वक्षस्थल तथा बाहु क्षत्रिय है, भुक्तसम्पत्ति का अधिष्ठाता अर्थशक्तियुत उदर 'वैश्य' है, एवं सेवाभावपरायण पैर शूद्र है । केवल मस्तक विवर्त्त पर दृष्टि डालिए । अग्निमय वागिन्द्रिय ब्राह्मण है, वायुमय प्राणेन्द्रिय (नासेन्द्रिय) क्षत्रिय है, आदित्यमय चक्षुरिन्द्रिय वैश्य है, सोममय श्रोत्रेन्द्रिय शूद्र है । वाग्ब्रह्म बोलने में कुशल है प्राणक्षत्रिय श्वासप्रश्वासात्मक पौरुष कर्म्म में कुशल है चक्षु-वैश्य देखभाल किया करता है. श्रोत्रशूद्र सुनने मात्र में अधिकृत है । केवल वाग्विवर्त्त (शब्दविवर्त्त) पर दृष्टि डालिए । सर्वालम्बन अतएव ब्रह्मस्थानीय स्फोट ब्राह्मण है, स्वर क्षत्रिय है, स्वरयुक्त वर्ण वैश्य है, विशुद्ध व्यञ्जन शूद्र है ।

एक अङ्गुली में चारों वर्णों का उपभोग देखिए । अङ्गुली उठाने से पहले—'मैं अङ्गुली उठाऊं' यह कामना ही (ज्ञानमयी बनती हुई) ब्रह्म, किंवा ब्राह्मण है । कामनानुसार अङ्गुली का 'हिलना' (क्रिया) क्षत्रिय है । अङ्गुल्यवच्छिन्न अस्थिमांसादि अर्थ (भूतभाग) वैश्य है । लोम-संख्या-परत्त्व-गुरुत्त्वादि बहिरङ्ग धर्म्म शूद्र हैं । इस प्रकार सर्वत्र वर्णव्यवस्था का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो रहा है, जैसा कि पाठक आगे चलकर देखेंगे ।

इसी प्रकार गौ-अश्व-सर्प-श्वान-काक आदि पशु पक्षियों में भी वर्णविभाग व्यवस्थित रूप से उपलब्ध हो रहा है । शुक्ल गौ ब्राह्मण है, रक्त गौ क्षत्रिय है, पीत गौ वैश्य है, कृष्ण गौ शूद्र है । सर्पजाति के चारों वर्ण भी सुप्रसिद्ध हैं ही । सर्पों के वर्णों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वश्री सुश्रुताचार्य कहते हैं—

१—मुक्ता रूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः ।
सुगन्धिनः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥(१४)॥

२—क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः।
सूर्य्य-चन्द्राकृति-च्छत्र लक्ष्म तेषां तथाम्बुजम् ॥(२५)॥
३—कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा।
धूम्राः पारावताश्चैव वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः ॥(२६)॥
४—महिषद्वीपिवर्णाभास्तथैव परुषत्वचः।
भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्त्तिताः ॥(२७)॥

—सुश्रुत, कल्पस्थान, सर्पदष्टविषविज्ञानीयाध्याय ४।

भूपिण्ड से सम्बद्ध सूर्य्यसम्मुखा तेजोमयी अदिति अग्नि—इन्द्र—आदित्य—पूषा प्राणात्मक ज्ञानक्रिया-अर्थ-प्रवर्ग्य भावों से ब्रह्म-क्षत्र-विट् शूद्र भावों की प्रवर्त्तिका बनती हुई वर्णसृष्टि की अधिष्ठात्री बन रही है, एवं भूपिण्ड से सम्बद्ध सूर्य्यविरुद्धा तमामयी दिति तारतम्येन चतुर्द्धा विभक्त तमोभावों से अवर्णसृष्टि की प्रवर्त्तिका बन रही है, एवं अदिति-दितिमूला यह वर्ण अवर्णसृष्टि सर्वत्र तारतम्येन व्याप्त है, यही प्रकरणनिष्कर्ष है, जैसा जैसा कि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

१—अदितिमण्डलोपलक्षिता—वर्णव्यवस्था—

१—प्रातःसवनम्—	गायत्रम्—	अग्निः—	ब्रह्म—	(ब्राह्मणवर्णविकासः)
२—माध्यन्दिनं सवनम्—	त्रैष्टुभम्—	इन्द्रः—	क्षत्रम्—	(क्षत्रियवर्णविकासः)
३—तेजोमयं सायंसवनम्—	जागतम्—	विश्वेदेवाः—	विट्—	(वैश्यवर्णविकासः)
४—तमोमयं सायंसवनम्—	आनुष्टुभम्—	पूषा—	शूद्रः—	(सच्छूद्रवर्णविकासः)

१—गायत्रप्रणाली—	अग्निमयी—	ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तिका—	दिव्यभावोपेता।
२—सावित्रप्रणाली—	इन्द्रमयी—	क्षत्रवीर्य्यप्रवर्त्तिका—	वीरभावोपेता।
३—सारस्वतप्रणाली—	विश्वेदेवमयी—	विड्वीर्य्यप्रवर्त्तिका—	पशुभावोपेता।
४—तामसप्रणाली—	पूषाप्राणमयी—	शूद्रबलप्रवर्त्तिका—	मृतभावोपेता।

२—दितिमण्डलोपलक्षिता—अवर्णसृष्टि—

१—साधारणं तमः—	ततः—	अन्त्यजविकासः।
२—घृद्धिगतं तमः—	ततः—	अन्त्यावसायिविकासः।
३—निबिडं तमः—	ततः—	दस्युविकासः।
४—असुर्य्यं तमः—	ततः—	म्लेच्छविकासः।

स्पृश्यास्पृश्यविवेक—

पूर्वपरिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि, वर्णसृष्टि का परस्पर में स्पृश्य-व्यवहार शास्त्रसम्मत है, एवं अवर्णसृष्टि वर्णप्रजा के लिए सर्वथा अस्पृश्य है। शास्त्रसिद्ध इस 'स्पृश्यास्पृश्य' विवेक को लेकर आज भारतवर्ष के उन्नतिशील क्षेत्र में बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। वैदिकतत्त्वानभिज्ञ कितने एक प्रतिष्ठित महानुभावों की दृष्टि में, एवं 'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (कठोपनिषत् १।२।५) को चरितार्थ करने वाले इन प्रतिष्ठित महानुभावों के अन्धानुयायी कुछ एक सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में 'अस्पृश्यता हिन्दुजाति का कलङ्क' बन रहा है। सम्भव है, इनकी दृष्टि तत्त्वदृष्टा आप्त महर्षियों की आपदृष्टि से भी कहीं अधिक सूक्ष्म हो, और अपनी इसी दिव्यदृष्टि के बल पर इन महारथियों ने यह आन्दोलन खड़ा किया हो। परन्तु शास्त्रनिष्ठ, एक आस्तिक भारतीय तो उनके इस 'कलङ्क' शब्दोच्चारण को ही हिन्दुजाति का कलङ्क मानेगा।

हम मानते हैं कि, मनुष्यत्व चारों वर्णों का समानधर्म्म है, परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी मानना पड़ता है कि, प्राकृतिक प्राण देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि विशेषधर्म्म चारों के लिए सर्वथा नियत हैं। सामान्यधर्म्म जहां हमारे सामान्य स्वरूप की रक्षा करते हैं, वहां विशेषधर्म्म विशेष स्वरूपों के रक्षक माने गए हैं, और ऐसे सामान्यधर्म्म, जो यत्र-तत्र विशेषधर्म्मों के घातक सिद्ध होते हैं, अपवादमर्य्यादा के प्राबल्य से उन उन अवसरों पर उन सामान्य धर्म्मों का परित्याग कर विशेष धर्म्मों की ही रक्षा की जाती है।

यह ठीक है कि, अन्त्यजादि अवर्णों से स्पर्श सम्बन्ध करने से प्रत्यक्ष में वर्णों की कोई हानि प्रतीत नहीं होती। परन्तु जिस प्रकार प्रत्यक्ष में न दिखाई देने वाला भी सूक्ष्मकीटाणुसंक्रमण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सर्वमान्य है, एवमेव अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखने वाला यह दोष भी केवल बाह्य प्रत्यक्ष दृष्टि के बल पर यों ही नहीं टाला जा सकता। किसी बुरी भावना से शास्त्र ने अन्त्यजादि को अस्पृश्य माना हो, यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो बुद्धिवादी यह कहते हैं कि, 'शास्त्र ब्राह्मणों के बनाए हुए हैं, अतः उन्होंने पदे पदे अपना ही श्रेष्ठत्व सिद्ध किया है'। इस कथन को हम इसलिये कोई महत्त्व नहीं देना चाहते कि, हमारे बुद्धिवादी सहयोगी अभी शास्त्र के स्वरूपज्ञान से सर्वथा असंस्पृष्ट हैं। शास्त्र किसी के भी बनाए हुए हों, इस कलह का कोई अवसर नहीं है। 'शास्त्र प्रमाणभूत है' इस सिद्धान्त पक्ष को लेकर ही विचार किया जा सकता है। एवं शास्त्र प्रमाण्य के आधार पर ही वे बुद्धिवादी भी अपने उपासनाकाण्ड को सुरक्षित रख सकते हैं। 'शूद्रों को मन्दिर में जाने देना चाहिए' उनका यह आग्रह बिना शास्त्रनिष्ठा के इसलिए सर्वथा निरर्थक बन जाता है कि, मन्दिर गमन मूर्त्तिदर्शन, आदि सभी विषय एकमात्र शास्त्रप्रमाण पर ही अवलम्बित हैं। ऐसी दशा में उन बुद्धिवादियों को आज से ही यह घोषणा कर देनी चाहिए कि, हम शास्त्र' नाम की किसी वस्तु को नहीं मानते। जिस दिन वे यह घोषणा कर देते हैं, उनके किसी ऐसे आक्षेप-प्रत्याक्षेप-आन्दोलन आदि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जिनका कि शास्त्रनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। फिर तो न वर्णचर्चा है, न वर्णधर्म्म चर्चा है, न शास्त्रीय नियन्त्रण है। यदि वे यह चाहते हैं कि, शूद्रों का स्पर्श किया जाय, सहभोजन किया जाय, उन्हें मन्दिरों में जाने दिया जाय, तो तत्काल उनके मार्ग में शास्त्रभित्ति उपस्थित हो जाती है। और वह कहने लगती है कि, ठहरिए! क्या करते हैं। जिसने आपको मन्दिरों का महत्त्व बतलाया, वर्णविभाग किया, पहिले उस से पूछ लीजिए, और वह इस सम्बन्ध में अपना जो निर्णय करे, उसी का अनुगमन कीजिए। एक ओर सर्वथा उच्छृङ्खल, पतन का मार्ग खुला है, दूसरी ओर सुव्यवस्थित, अभ्युदय का प्रशस्त पथ खुला है? बोलिए! किधर जाना है? प्रशस्तपथ की ओर। वहां आपके सामने अस्पृश्यता के सम्बन्ध में समीक्रिया सिद्धान्त द्वारा अस्पृश्यता का समर्थन ही मिलेगा।

प्राणदेवताओं का प्रधान धर्म्म है—'समीक्रिया'। दूसरे शब्दों में देवता सदा समीक्रिया के ही अनुगामी बने रहते हैं। शीत जल में उष्ण जल डाल दीजिए, अथवा उष्ण जल में शीत जल डाल दीजिए, दोनों का समीकरण हो जायगा। इस समीकरण का परिणाम यह होगा कि, शीतजल गरम तो होगा ही नहीं, गरमजल अपनी गरमी, अवश्य खो बैठेगा। संस्कारों से संस्कृत वर्णप्रजा के अन्तर्जगत् में प्राणदेवता अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हैं। उधर असंस्कृत अवर्णप्रजा में देवप्राण एकान्ततः अभिभूत है। ऐसी दशा में यदि एक संस्कृत द्विजाति असंस्कृत अवर्ण का स्पर्श करेगा, तो स्पर्श द्वारा द्विजाति का देवप्राण अवर्णों में संक्रान्त हो जायगा। उधर तमःप्रधान अवर्ण में देवप्राण को अन्तर्याम बनाने वाले बीज का अभाव है। इस अभाव से स्पर्श द्वारा आगत देवप्राण अवर्ण का तो कोई उपकार न कर सकेगा, एवं वर्ण का अपकार निश्चयेन कर डालेगा। इस सङ्कर-दोष-निरोध के लिए ही स्पृश्यास्पृश्य-विवेक हुआ है।

कितने एक संशोधक यह भी कहते सुने गए हैं कि, "यह सब आडम्बर विशुद्ध पौराणिक काल से सम्बन्ध रखता है। पुराणयुग में ब्राह्मणवर्ण का पूर्ण आधिपत्य था। अतः स्वस्वार्थ-सिद्धि के लिए उन्हों ने ही ऐसी अमानुष कल्पना कर डाली है। वस्तुतः भारतीय मौलिक वैदिक साहित्य में, एवं वैदिककाल में इस प्रथा का नाम लेश भी नहीं है"। कहना न होगा कि, वर्त्तमान युग के इन संशोधकों के लिए पुराण-स्मृति-श्रुति सब कुछ 'कृष्णाक्षर महिषतुल्य' (काला अक्षर, भैंस बराबर) को सवासोलह आना चरितार्थ कर रहा है। तभी तो संशोधक महोदय ऐसी मिथ्या कल्पनाओं की सृष्टि किया करते हैं। जो पुराण वेदशास्त्र का उपबृंहणमात्र करते हैं, जो स्मृतियां श्रुत्यर्थ का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हुई हैं, उन पुराणों तथा स्मृतियों ने श्रुति-विरुद्ध अर्थ की कल्पना कर डाली हो, और वह भी श्रुतिनिष्ठ आर्य्य-प्रजा में विश्वास जमा बैठी हो, यह कौन स्वीकार करेगा? जिन सिद्धान्तों का स्मृत्यादि में विस्तार से निरूपण हुआ है, श्रुति में उन सब का मूल यथावत् सुरक्षित है। आप स्पर्श की बात कहते हैं। कितने एक विशेषस्थलों में तो श्रुति ने शूद्र के साथ सम्भाषण तक निषिद्ध माना है। न केवल स्पर्श से ही अपितु सहासन, सहभाषण आदि से भी देवप्राण-संक्रान्त हो जाता है। देखिए श्रुति क्या कहती है—

"तन्न सर्वे इवाभिप्रपद्यन्ते—ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा। ते हि यज्ञियाः। स वै न सर्वेण संवदेत। देवान्वा एष उपावर्त्तते, यो दीक्षते। स देवानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेण संवदन्ते। (अपितु) ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येनं शूद्रेण सम्वादो विन्देत्—एतेषामेवैकं ब्रूयात्—'इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्व'। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः"।

—शत॰ ३।१।१।१०।

ज्योतिष्टोमयज्ञ में दीक्षित यजमान मानव-संस्था से निकल कर देवसंस्था में आ जाता है, देवता बन जाता है। इसी के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिए उक्त आदेश प्रवृत्त हुआ है। आदेश का तात्पर्य्य यही है कि-"दीक्षित यजमान अपने आध्यात्मिक देवताओं का आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ योग कराने वाला है। ऐसी दशा में इसका यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है, कि, वह उन भावों का, उन व्यक्तियों का संसर्ग सर्वथा छोड़ दे, जो कि जन्म से ही देवप्राणभूति से वञ्चित हैं। वह सब के साथ व्यवहार न कर यथासम्भव तो ब्राह्मण वर्ण के साथ ही (दैव) व्यवहार करे, आवश्यकता विशेष होने पर क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ भी व्यवहार कर ले। क्यों कि अदितिमूलक सम्वत्सरयज्ञमण्डल से उत्पन्न होने के कारण ये तीनों वर्ण यज्ञियवर्ण हैं। तत्त्वान्वेषण द्वारा हम देखते हैं कि, इन यज्ञिय देवप्राणों का सबके साथ सम्बन्ध न हो कर केवल ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यवर्णों के साथ ही सम्बन्ध है। यदि कभी कोई ऐसा अवसर उपस्थित हो जाय, जब कि शूद्र से बातचीत किए बिना काम न चले, तो भी यह स्वयं उनसे बात न कर इन तीनों वर्णों में से ही किसी एक वर्ण को मध्यस्थ बना कर उसी के द्वारा अपनी आवश्यकता पूरी कर ले"।

उक्त विधान सच्छूद्र से सम्बन्ध रखता है। यज्ञेतर-सामान्य व्यवहारकाण्ड में सच्छूद्र व्यवहार्य माना गया है, परन्तु यज्ञकाल में इसका भी बहिष्कार है। सुतरां अवर्णों का निरवसितभाव सर्वकालिक सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार एक स्थान में दीक्षित यजमान को इन अवर्णों को, एवं तत्सम इतर पदार्थों को न देखने तक का आदेश उपलब्ध होता है। क्योंकि दृष्टिसूत्र द्वारा भी देवप्राण अन्य में संक्रमण कर जाता है। देखिए !

१—'असतो वा एष सम्भूतः—यच्छूद्रः' (तै॰ ब्रा॰ ३।२।३।६)।

२—'अनृतं स्त्री-शूद्रः-श्वा-कृष्णः शकुनिः (काकः), तानि न प्रेक्षेत' (शत॰ ब्रा॰ १४।१।३१)

कल्पना ही जो ठहरी। 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय जो सुप्रसिद्ध है। कल्पनावादी कहा करते हैं, 'ब्राह्मणभाग' वेद नहीं है। वेद तो मूलसंहिता का ही नाम है, और मूलसंहितालक्षण वेद में न यह जांत-पांत (जाति पंक्ति) का झगड़ा है, न स्पृश्यास्पृश्य का कलह। कोई चिन्ता नहीं, हमने भी ऐसी कल्पनाओं को निराधार बनाने के लिए पहिले से ही 'अभ्युपगमवाद' का आश्रय ले रक्खा है। निम्न लिखित मूलसंहिता पर दृष्टि डालिए, स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा।

'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि।
दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै।
यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि'—यजुःसं॰ १।१३

"अग्नि के लिए ग्रहणयोग्य आपका प्रोक्षण करता हूँ, अग्नीषोम के लिए ग्रहणयोग्य आपका प्रोक्षण करता हूं। देवयज्ञसम्बन्धी दिव्यकर्म्म के लिए आप शुद्ध बनें। आपमें जो अशुद्ध भाव आ गया है, उसे मैं (इस प्रोक्षणलक्षण शुद्धिकर्म्म द्वारा) हटाता हूं"। इस मन्त्र का विनियोग यज्ञपात्रप्रोक्षण-कर्म्म में हुआ है। 'शूर्प-अग्निहोत्रहवणी-स्फ्य-कपाल-शम्या-कृष्णाजिन-उलूखल-मुसल-दृषत्-उपल' यज्ञ में ये १० पात्र होते हैं। यज्ञकर्म्म में समाविष्ट करने से पहिले इनका प्रोक्षण किया जाता है। इन पात्रों का निर्माण 'तक्षा' (खाती) द्वारा होता है, जो कि एक सच्छूद्र माना गया है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, "चूंकि तक्षा (शूद्र) ने इन पात्रों का निर्माण किया है, एवं तक्षा दिव्य-यज्ञिय-प्राणशून्य शूद्र है। अतः इसके स्पर्श से पात्रों में भी शूद्र-सम्बन्धी अशुचिभाव का समावेश हो जाता है। यदि बिना विशोधन के पात्र काम में ले लिए जायंगे, तो यज्ञस्वरूप (इस अयज्ञिय शूद्रभाव के समावेश से) बिगड़ जायगा। अतः पहिले मन्त्र, एवं मन्त्रपूत जल से इन शूद्रस्पृष्टपात्रों का विशोधन कर लेना चाहिए"। स्वयं ब्राह्मणश्रुति ने उक्त मन्त्र की यही व्याख्या हमारे सामने रक्खी है। देखिए !

'अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति। यद्वोऽशुद्धः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामिति। तद्यं दवैषामत्र-अशुद्ध स्तक्षा' वा, अन्यो वा-अमेध्यः कश्चित् पराहन्ति, तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति'। शत॰ ब्रा॰ १।१।३।१२।

वेद भाष्यकार सर्वश्रीमहीधर ने भी इसी तात्त्विक अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

'अशुद्धा नीचजातयस्तक्षादयः वः-युष्माकं सम्बन्धि, तदङ्गं पराजघ्नुः, पराहतं कृतवन्तः। छेदन-तक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपमशुचित्वं चक्रुः। तदिदं वः-युष्माकमङ्गं शुन्धामि, प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि'।

—यजुः सं॰ १।१३—महीधरभाष्य।

उक्त मन्त्र से शूद्रद्वारा छूए हुए जड़पात्रों तक में अशुचिभाव का सम्बन्ध जब सिद्ध हो रहा है, तो चेतनसम्बन्धी स्पृश्यास्पृश्यभावों के दोष-गुणभावों का कहना ही क्या है। सर्वात्मना यह सिद्ध विषय है कि, अस्पृश्यता एक विज्ञानसिद्ध पथ है। अविवेकी मनुष्यों ने अज्ञानवश अपने वर्णधर्म्मों के महत्त्व को भुला कर, केवल जात्वोपजीवी बाह्य आडम्बरों के आधार पर वर्णाभिमान में पड़ते हुए यदि अवरवर्णों, एवं अवर्णों के साथ अशिष्ट व्यवहार कर डाला हो, तो एतावता मूलसिद्धान्तों पर कोई आ-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्षेप नहीं किया जा सकता। अस्पृश्यतासिद्धान्त अपने स्थान पर सुरक्षित रहता हुआ विज्ञानानुमोदित है, शास्त्रसम्मत है, युक्ति-तर्क-अनुभवों द्वारा विश्वस्त बना हुआ है, और यही स्पृश्यास्पृश्य का संक्षिप्त विवेक है' १।

बलानुगामिनी वर्णव्यवस्था—

रस-बलात्मक (सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति) 'परात्पर' ही अपने एक प्रदेश से मायाबल द्वारा सीमित बनता हुआ 'अव्ययपुरुष' कहलाने लगता है। यह अव्ययपुरुष ही मनोमय ज्ञानबल, प्राणमय कर्म्मबल, वाङ्मय अर्थबल, एवं प्रवर्ग्यरूप शरीरबल से क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों का प्रभव बन रहा है। इन चारों बलों में पूर्व-पूर्वबल उत्तरबल की अपेक्षा 'गरीय' है। शरीरबल 'शूद्रबल' है। दिन रात केवल शरीर पुष्टि की ही चिन्ता करते रहना, शरीर विन्यास में ही समय का सदुपयोग करते रहना 'शूद्रधर्म्म' है। शरीरबल के एकान्ततः प्रधान बन जाने से ज्ञानबल (बुद्धिबल) शिथिल हो जाता है। अतएव ज्ञानबलानुगामी ब्राह्मणवर्ण के लिए आचार्यों ने 'शरीरायास' निषिद्ध माना है, जैसा कि उनके—'शरीरायासः परित्यजेत्' इस आदेशवचन से स्पष्ट है। शरीर में अतिशय थकान पैदा करने वाले सब श्रमकर्म्म ज्ञानबलानुगामी ब्राह्मण के लिए अहितकर हैं, यही तात्पर्य्य है।

शरीरबलोपलक्षित शूद्रबल की अपेक्षा अर्थबलोपलक्षित 'वैश्यबल' श्रेष्ठ है। एक अर्थसम्पन्न वैश्य अपने इस अर्थबल के सहयोग से शरीरबलानुगामी दसों मल्ल (पहलवान) अनुचर रख सकता है। अर्थबल सदा शरीरबल पर विजय प्राप्त किया करता है। यदि एक ब्राह्मण शरीरचिन्ता को मुख्य मानता हुआ किसी वैश्य का आश्रय लेता है, तो निश्चयेन उसका ब्राह्मण्य अभिभूत हो जाता है, और वैश्य का अर्थबल इस शरीरचिन्तानुगामी ब्राह्मण पर शासन कर बैठता है।

अर्थबलोपलक्षित वैश्य की अपेक्षा कर्म्मबलोपलक्षित (शासनबलापरपर्य्याय) 'क्षत्रियबल' श्रेष्ठ है। मान लीजिए, एक ऐसा ग्राम है, जिसके शासक थोड़ी सी भूमि के करग्राही एक राजपूत क्षत्रिय हैं। इनके ग्राम में कई एक सम्पन्न वैश्य रहते हैं। वैश्य समाज के पास प्रचुर मात्रा में अर्थबल सुरक्षित है, इधर ठाकुर साहब के पास केवल क्षत्रबल है, हुकूमत की ताकत है। आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि, इस क्षत्रबल के सामने इस प्रवृद्ध अर्थबल को अपना मस्तक झुका देना पड़ता है। ग्रामाधिपति के भक्तिबल से युक्त एक साधारण चपरासी भी (इसी शासनबल के प्रभाव से) एक सम्पन्न श्रेष्ठि पर भी अपना आतङ्क जमाता देखा गया है। यही क्षत्रबल के वैशिष्ट्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सर्वान्त में चौथा ज्ञानलक्षण 'ब्रह्मबल' हमारे सामने आता है।

क्षत्र-विट्-शूद्र, तीनों ही बल सोपकरण, सोपाधिक हैं, भौतिक अर्थ प्रपञ्च को प्रधानता देने वाले हैं। 'शस्त्र-सेना-दुर्ग-कोश' आदि क्षत्रिय के बहिरङ्ग बल हैं, अनुचर, प्रासाद, अन्न, मणि-मुक्ता, आदि वैश्य के बहिरङ्ग बल हैं, 'दुग्ध-घृत-पुष्टिकर औषधि, वनस्पति, दार्ढ्य, अहमहमिका,-आदि शूद्र के बहिरङ्ग बल हैं। इस प्रकार तीनों बलों का बलत्रय बहिरङ्ग साधनों की अपेक्षा रखता हुआ, सापेक्ष है, पराश्रित है। परन्तु हमारा ब्रह्मबल उपाधिशून्य बनता हुआ, दूसरे शब्दों में बहिरङ्ग उपकरणों की (वैयक्तिक स्वार्थदृष्टि से) कोई अपेक्षा न रखता हुआ, प्रधानरूप से अन्तर्बल का अनुगामी बनता हुआ सर्वश्रेष्ठ क्षत्रबल से भी श्रेष्ठ बन रहा है। ब्रह्मबलोपलक्षित ज्ञानबल के उपासक, अतएव सर्वज्येष्ठ, श्रेष्ठ एक ब्राह्मण के सामने सार्वभौम क्षत्रिय राजाओं को भी अपना मस्तक इसलिए नत कर देना पड़ता है कि, ब्राह्मण किसी भौतिकप्रपञ्च का भार समाज पर न डालता हुआ निःस्वार्थभाव से (लोककल्याणहेतवे) विशुद्ध विद्याव्यासङ्ग में प्रवृत्त रहता है। इसकी यह निःस्पृहवृत्ति ही इसके सर्वमूर्द्धन्य में मुख्य कारण है। आलस्य से, अन्नदोष से, असत्-परिग्रह से, भूतलिप्सा से अपने स्वाभाविक ब्रह्मबल को अभिभूत रखने वाली ब्राह्मणजाति 'धिग्बलं क्षत्रबलं, ब्रह्मतेजो बलं बलम्' का स्मरण कर आज भी कभी कभी अपने पूर्ण गौरव का स्मरण कर लिया करती है।

शरीरबल-धनबल-ऐश्वर्यबल विद्याबल, इन चार बलों से अतिरिक्त एक पाँचवाँ अपूर्वबल और है, जो कि 'तपोबल' नाम से प्रसिद्ध है तपोबल वह बल है, जो विद्याबल पर भी अपना शासन प्रतिष्ठित रखता है। इसी को सिद्धिप्रकरण में 'देवबल' कहा गया है। विद्याबलानुगामी ब्राह्मण इतरवर्णों को केवल सुहृद्भाव से समझा सकता है, परन्तु उनका निग्रह-अनुग्रह नहीं कर सकता। उधर तपस्वी ब्राह्मण बलप्रयोग से इन्हें सत्पथ पर प्रतिष्ठित रखता है, अभिशाप से पर्याप्त दण्ड दे सकता है। जब तक भारतवर्ष में तपोबल के अधिष्ठाता ब्राह्मण रहे, तब तक किसी को उत्पथ गमन का साहस न हुआ, यदि किसी को साहस हुआ भी तो उसका मुखमर्दन हुआ। परन्तु आज चूंकि तपोबल क्षीणप्राय है, तपोबल की कथा तो दूर रही, आज तो विद्याबल भी अस्तप्राय हो चुका है। यही कारण है कि आज सभी वर्ण उच्छृङ्खल बन गए हैं। हमारा अपना तो यह दृढ़ विश्वास है कि

---

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'अस्पृश्यता का मौलिक रहस्य, एवं हमारी कल्पना' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में देखना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय विद्वान जब तक तपोबल का सञ्चय न करेंगे, तब तक वर्त्तमान युग की, प्रबल वेग से बढ़ती हुई इस अविवेकता का, अमर्य्यादा का कथमपि निग्रह न हो सकेगा। केवल शब्दनिष्ठा का युग न पहिले था, न आज है। 'मानिए-मान लीजिए-अच्छा रास्ता है' कहने से आज तक किसी ने न माना, न भविष्य में कोई मानेगा ही। मानना पड़ेगा, नहीं तो यह दण्ड प्रहार है' इस भयावह आदेश ने ही आज तक मर्य्यादा की रक्षा की है, और इस रक्षा का एकमात्र साधन है—'वाग्वीर्य्य", जो कि एकमात्र तपोबल से सम्बन्ध रखता है।

उक्त पांचों बलों को विज्ञानदृष्टि से हम क्रमशः 'स्वायम्भुवबल, पारमेष्ठ्यबल, सौरबल, पार्थिवबल, भौमबल', इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। पाञ्चभौतिक, पञ्चपर्वा विश्व के प्रधानरूप से 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी' ये पांच पर्व माने गए हैं। इनमें चन्द्रमा चूंकि पृथिवी का उपग्रह है, अतः अन्नलक्षण (सोमलक्षण) इस चन्द्रमा का अन्नादलक्षण (अग्निलक्षण) पृथिवी में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलतः 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी' ये चार लोक रह जाते हैं। इनमें पृथिवी के चित्य-चितेनिधेय भेद से दो रूप माने गए हैं। चित्यपृथिवी पिण्डपृथिवी है, एवं इसे ही 'भूमि'-'भूः' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। चितेनिधेया पृथिवी महिमा पृथिवी है, एवं इसे ही पूर्व के दिति-अदिति प्रकरण में संवत्सर यज्ञात्मिका 'अदिति' पृथिवी कहा गया है। इस दृष्टि से अन्ततोगत्वा 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-भूमि' ये पांच पर्व हो जाते हैं। इन्हीं पांच पर्वों में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः सत्य' प्रजापति की इन सात व्याहृतियों का अन्तर्भाव है। भूमि 'भूः' है, पृथिवी 'भुवः' है, सूर्य्य 'स्वः' है, परमेष्ठी 'महः' तथा 'जनत्' है, एवं स्वयम्भू 'तपः', तथा 'सत्यम्' है।

तपः-सत्यमूर्त्ति स्वयम्भू का प्रातिस्विक बल ही सत्यगर्भित 'तपोबल' है, जनत्, महः-मूर्त्ति परमेष्ठी[1] का प्रातिस्विक बल ही सारस्वत-औपनिषत 'विद्याबल'[2] है. स्वः-मूर्त्ति सूर्य्य का प्रातिस्विक बल ही लक्ष्म्यनुगत-इन्द्रक्षत्रानुगत 'ऐश्वर्य्यबल'[3] है, भुवः-मूर्त्ति पृथिवी का प्रातिस्विक बल ही (विष्णुपत्नी लक्ष्मी की दृष्टि से) 'धनबल'[4] है, एवं भूः-मूर्त्ति भूमि का प्रातिस्विक बल ही पोषक पूषाप्राण की दृष्टि से शरीरबल'[5] है। इन पांचों में आरम्भ का स्वायम्भुव तपोबल तो वर्णातीत बनता हुआ सर्वव्यापक है। चारों वर्णों में से कोई भी स्वातिशय से तपस्वी बन सकता है। शेष चारों बल क्रमशः वर्णसृष्टि के प्रवर्त्तक बने हुए हैं, एवं यही बलानुगामिनी, प्राकृतिक वर्णव्यवस्था का संक्षिप्त निदर्शन है। इन्हीं चारों बलों की अनन्यनिष्ठा से उपासना करता हुआ भारतीय समाज अभ्युदय की चरम सीमा पर पहुंच सकता है, पहुंचा था, जैसा कि पाठक अगले परिच्छेद में देखेंगे।

उक्त पांच बलों के यदि अवान्तर सूक्ष्म विभागों का विचार किया जाता है, तो दस बल हो जाते हैं, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—तपस्वि-ब्राह्मण-क्षत्र-वैश्य-शूद्रा-तिनिर्बलाः।
पोढा विभक्ताः पुरुषा, येषां दशविधं बलम्॥

२—विद्या-चाभिजनं-मित्रं-बुद्धिः-सत्त्वं-च सम्पदः।
तपः-सहाया-वीर्य्याणि दैवं च दशमं बलम्॥

३—विद्या-बुद्धि-ब्राह्मणानां, तपः-सत्ये-तपस्विनाम्।
दैवं-वीर्य्य-क्षत्रियाणां, सहायाः-सम्पदो-विशाम्॥

४—शूद्रस्याभिजनो-मित्रं, बलमित्थं द्विधा द्विधा।
इत्थं दशबलानीह सन्ति लोकेषु भिन्नवत्॥

बलानुगामिनी-वर्णव्यवस्थापरिलेखः—

* स्वयम्भूः (सत्य-तपः)	—	तपोबलम्—स्वायम्भुवम्
—परमेष्ठी (महः-जनत्)	—	विद्याबलम्—पारमेष्ठ्यम्—ततो ब्राह्मणवर्णविकासः
—सूर्य्यः (स्वः)	—	ऐश्वर्य्यबलम्—सौरम्—ततः क्षत्रियवर्णविकासः।
३—पृथिवी (भुवः	—	धनबलम्—पार्थिवम्—ततो वैश्यवर्णविकासः।
४—भूमिः (भूः)	—	शारीरबलम्—भौमम्—ततः शूद्रवर्णविकासः।

१ सिद्धान्तमौपनिषदं, शुद्धान्तं परमेष्ठिनः।
शोणाधरमहः किञ्चिद् वीणाधरमुपास्महे॥

लघुपाठकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था —

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वैदिक परिभाषानुसार 'ग्राम्यपशु' १ है। अपने परिवार के सहयोग से अपना एक सुसंघटित समाज बना कर जीवन-यापन करना, मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। कारण इस का यही है कि, इसके उत्पादक द्रव्य में अनेक तत्वों का समन्वय है। ऋषि-पितर-देवता-गन्धर्व-असुर-पशु आदि यच्चयावत् प्राणों के प्रत्यंश को लेकर, स्वयं एक ग्राममूर्त्ति बन कर ही यह उत्पन्न हुआ है। अच्छा-बुरा, सत-असत, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सत्य-अनृत, ज्योति-तम, देवता-असुर, श्रेष्ठ-पतित, सज्जन दुर्जन स्वादु-अस्वादु, सभी द्वन्द्वभाव इसके उपलक्षक बनते रहते हैं। इसी ग्रामभाव के कारण मनुष्य नामक इस नर को 'देवग्राम' (विविध प्राणों की समष्टि) कहा है, जैसा कि—'नरो वै देवानां ग्रामः' (ताण्ड्य ब्रा० ६।६।२) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। चूंकि 'नर' शब्द ग्रामभाव (समूहभाव) को अपने गर्भ में रखता है, उधर जन-समूह के लिए 'प्रजा' शब्द नियत है, यही कारण है कि, श्रुति ने (प्रजा—नर-शब्दों की समानार्थव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए) प्रजा को 'नर' शब्द से व्यवहृत कर दिया है—'प्रजा वै नरः' (गोपथ ब्रा० उ० ६।८)। इसी प्राणसमूहोपादानता के कारण हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहते हैं।

इसे जीवित रहना है और सुखपूर्वक जीवित रहना है, शांति के साथ कालयापन करना है। 'परन्तु' का सम्बन्ध इस लिए मानना पड़ता है कि, मनुष्य का जीवन, सुख, शान्ति, सब कुछ सामाजिक धर्म्मों से सम्बद्ध है। सामाजिक सुख-शान्ति ही मनुष्य की वैयक्तिक सुख शान्ति के मूल कारण माने गए हैं। कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र, ये सब समाज के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। तीनों में क्रमशः 'दृढरोत्तर' सम्बन्ध है। व्यक्तियाँ कुटुम्बात्मक के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, कुटुम्बात्मक छोटे छोटे (परिवारलक्षण) समाज देशाचारानुबन्धी समाज लक्षण समाजों के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, एवं इन विविध समाजों की समष्टि ही 'राष्ट्र' है। भारतीय आर्षदृष्टि के अनुसार यह राष्ट्र ही मुख्य 'समाज' है। यद्यपि वर्त्तमान युग के कुछ एक उदार महानुभाव अपनी उदारता का दुरुपयोग करते हुए सम्पूर्ण विश्व को एक 'राष्ट्र' मानते हुए 'विश्वशान्ति' के सुख-स्वप्नों की कल्पना किया करते हैं, साथ ही में इसी आधार पर वे विश्व के 'मानव समाज' की शान्ति के लिए प्रयत्नशील भी दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु भारतीयदृष्टि इस 'विश्वभावना' का विरोध कर रही है। उसका अपना धर्म्म, अपनी वर्णव्यवस्था, अपनी आश्रम व्यवस्था, अपनी सुख-शान्ति, केवल उस देश के लिए नियत है, उस राष्ट्र के लिए नियत है, जिस देश में जिस राष्ट्र में कृष्णमृग' स्वच्छन्दरूप से विचरण किया करता है। एवं इस सीमित दृष्टि से एकमात्र भारतवर्ष ही हमारा मुख्य राष्ट्र है, और भारतवर्ष में रहने वाली वर्ण-धर्म्मानुयायिनी आस्तिक प्रजा ही हमारा अपना समाज है, अपना राष्ट्र है। इसी राष्ट्र-धर्म्म की रक्षा करना राष्ट्रवादी महर्षियों का मुख्य लक्ष्य रहा है। हम ऐसे व्यापक नहीं बनना चाहते, जिसकी तृष्णा में पड़कर हम अपनापन ही खो बैठें। हम इतने उदार नहीं बनना चाहते, जिस उदारता में पड़ कर अपना सब कुछ दूसरों को समर्पित कर स्वयं दरिद्रनारायण बन बैठें। हम वैसी सुख-शान्ति नहीं चाहते, जो भारतीय धर्म्म का स्वरूप विकृत कर बैठें। अन्य राष्ट्र सुखी रहें, यह अवश्य चाहते हैं, परन्तु यह कभी सहन नहीं कर सकते कि, उनको सुखी रखने के लिए अपना बलिदान कर दें, सो भी परवश बन कर। परग्लानि के कारण न बनते हुए, साथ ही में अपना ह्रास अणुमात्र भी सहन न करते हुए अपने भारत-राष्ट्र का राष्ट्रत्व सुरक्षित रखना ही हमारे लिए 'विश्वशान्ति' है। और इसी भारतीय-राष्ट्रलक्षण समाज को लक्ष्य में रखकर हमें 'समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था' का विचार करना है।

राष्ट्रलक्षण समाज को अपने योग-क्षेम के लिए जिन जिन कर्त्तव्य-कर्म्मों की अपेक्षा रहती है, राष्ट्रीय समाज में युक्त व्यक्तियों को उन सब कर्त्तव्य-कर्म्मों की रक्षा करनी पड़ती है। राष्ट्र-कर्म्म का यथावत् सञ्चालन करने के लिए अनेक कर्म्म अपेक्षित हैं। उन सब कर्म्मों की जब तक पूर्ति नहीं हो जाती, तब तक राष्ट्र सुसमृद्ध नहीं बन सकता। एवं जब तक राष्ट्र

---

१ 'पञ्चपशुविज्ञान' के अनुसार (मनुष्य भी 'पशु' माना गया है। पशु की 'आरण्यपशु' 'ग्राम्यपशु' भेद से दो जातियाँ हैं। जो पशु एकाकी विचरना पसन्द करते हैं, उन्हें 'आरण्यपशु' कहा जाता है। सिंह, शार्दूल, अष्टापद व्याघ्र आदि कतिपय पशु झुण्ड बना कर नहीं रहते। अपितु वे एकाकी ही घूमते हैं। 'अरण्य' शब्द यहाँ जङ्गल का वाचक नहीं है, अपितु 'एकाकी भाव' का सूचक है। कितने एक पशु स्वभावतः झुण्ड बना कर ही रहा करते हैं। मृग, शृगाल, शूकर आदि पशु सदा आपको झुण्ड रूप में मिलेंगे। इन्हीं को वैदिक परिभाषा में 'ग्राम्यपशु' कहा गया है। यहाँ 'ग्राम' का अर्थ गाँव-अथवा शहर नहीं है, अपितु यह ग्राम शब्द समूह का वाचक है। मनुष्य नामक श्रेष्ठ पशु भी—'एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्-पतिश्च पत्नी च' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रिय पशु है। पत्नी, सन्तान, अनुचर, बन्धु बान्धव, समाज आदि परिग्रहों को साथ लेकर ही इसकी मानवता विकसित रहती है। अतएव उक्त परिभाषा के अनुसार इस सामाजिक प्राणी को आरण्यपशु न मान कर 'ग्राम्यपशु' ही माना जायगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुसमृद्ध नहीं बन जाता, तब तक राष्ट्रीय प्रजा का कल्याण नहीं हो सकता। राष्ट्रात्मकसमाजवादी, भारतीय समाजशास्त्रियों नें अपने इस राष्ट्रीयसमाज के कल्याण के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित कर्त्तव्य-कर्म्मों को भी चार श्रेणियों में विभक्त किया, एवं कर्त्तव्य-कर्म्म भेद से राष्ट्रीय समाज में रहने वाले प्रजावर्ग को भी चार ही श्रेणियों में विभक्त किया। राष्ट्रीय-समाज के उन चार कर्त्तव्य-कर्म्मों में अवान्तर-इतर सब कर्त्तव्य कर्म्मों का अन्तर्भाव हो रहा है, जैसा कि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

राष्ट्रीय समाज को कर्त्तव्य कर्म्मों का अनुष्ठान करना है। यह कर्म्मानुष्ठान तभी सफल बन सकता है, जब कि इसके मूल में 'ज्ञानबल' प्रतिष्ठित कर दिया जाय। यों तो कोई भी अच्छा-बुरा कर्म्म ज्ञान के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता, एवं इस दृष्टि से सभी कर्म्म ज्ञानपूर्वक मानें जा सकते हैं। परन्तु हमें ऐसा अव्यवस्थित ज्ञान अभिप्रेत नहीं है जो कि ज्ञान-अज्ञान को अपने गर्भ में रखता हुआ 'मोह' लक्षण बन कर कर्म्म का स्वरूप विघातक बन जाया करता है। ज्ञान और कर्म्म, दोनों का समान क्षेत्र बनाते हुए हम दोनों में सङ्करता उत्पन्न नहीं करना चाहते। अपितु द्रष्टा दृश्यभावों के पार्थक्य की तरह हम दोनोंको विभिन्न क्षेत्रों में मर्य्यादित बना कर द्रष्टास्थानीय ज्ञान द्वारा ही दृश्यस्थानीय कर्म्म का सञ्चालन करना चाहते हैं। ज्ञान के लिए एक स्वतन्त्र श्रेणि, कर्म के लिए एक स्वतन्त्र क्षेत्र, यह श्रेणि-विभाग ही भारतीत-समाज की सर्वोत्कृष्ट पद्धति है।

युद्धकर्म्म, शास्त्रनिर्म्माणकर्म्म, शिल्पकर्म्म, कलाकर्म्म, कृषिकर्म्म, वाणिज्यकर्म्म, आदि आदि समाजोपयोगी जितनें भी कर्म्म हैं, सबके मूल में ज्ञान प्रतिष्ठित है, ज्ञान से ही सब का सञ्चालन हो रहा है, यह निर्विवाद है। यही कारण है कि, जिस समाज की ज्ञानशक्ति जितनी ही अधिक सबल तथा सुपरिष्कृत होगी, वह समाज अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों में उतना ही अधिक प्रगतिशील होगा। ज्ञान अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला पदार्थ है, जिसका कि, कर्मकाल में कर्म्मठ व्यक्तिद्वारा सम्यक् अनुष्ठान सम्भव नहीं हो सकता। यह ठीक है कि, ज्ञान का उदय भी कर्म्म से ही होता है, ज्ञानोदय के कारणभूत विद्याध्ययन, एकान्त चिन्तन आदि भी कर्म्मविशेष ही तो हैं। परन्तु ये ज्ञानोपयिककर्म्म अपने स्वरूप-विकास के लिए शान्त निरापद वातावरण की ही अपेक्षा रखते हैं। अपनी इस ज्ञानशक्ति की समुन्नति के लिए समाज का यह आवश्यक कर्त्तव्य होगा कि, वह अपने समाज में से एक विभाग केवल इसी शक्ति की उपासना के लिए नियत कर दे।

ज्ञानलक्षण कर्म्म में दीक्षित इस समाजाङ्ग का एकमात्र कर्त्तव्य होगा, ऐहलौकिक-पारलौकिक तत्वों का शान्तभाव से अन्वेषण करते हुए ज्ञान का विकास करना, विकसित ज्ञान से समाजमें आनेवाले अविद्यादि दोषों को हटाते हुए समाजको ज्ञानसहकृत-अभ्युदय निःश्रेयसमूलक (शास्त्रीय) कर्त्तव्यकर्म्मों में यथाधिकार प्रवृत्त बनाए रखना। ज्ञानशक्ति का उपासक, यह अवान्तर विभाग ही 'ब्राह्मण' कहलाएगा। ज्ञानचर्य्या स्वभावत: अर्थप्रपञ्च की विरोधिनी है। अर्थ, तथा ज्ञान, दोनों का संग्रह एक ही व्यक्ति नहीं कर सकतो। दोनों के सहानुष्ठान से अनन्यता नहीं रहती, फलत: दोनों सम्पत्तियां अपूर्ण रह जाती हैं। इस विप्रतिपत्ति को सामने रखते हुए ज्ञानबलोपासक ब्राह्मण को यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने आपको अर्थसंग्रह, अर्थलिप्सा से सदा बचाता रहे। ब्राह्मण भी एक पारिवारिक व्यक्ति है, कुटुम्ब का सञ्चालक है। अतएव आवश्यकतानुसार इसे भी अर्थ की अपेक्षा बनी ही रहती है। इस भार का वहन अन्य अर्थसंग्रहशील अवान्तर विभागों को करना पड़ेगा। समाज इसकी आवश्यकताएँ, बिना किसी अहसान के प्रणतभाव से पूरी करेगा। साथ ही में इस ब्राह्मण को अपनी आवश्यकताएँ भी कम करनी पड़ेंगी। लोभ-मोह-ईर्ष्या द्वेष-आदि से पृथक् रहना पड़ेगा, 'सर्वभूतहितरति' को अपना मुख्य लक्ष्य बनाना पड़ेगा, यथाकाल प्राप्त भोगों पर सन्तोष रखना पड़ेगा। एवं इन वृत्तियों के अनुगमन से ही यह अपनी ज्ञानोपासना में सफल हो सकेगा।

तमोगुण-प्रधान विश्व में राग द्वेष न रहें, यह सर्वथा असम्भव है। भौतिक सम्पत्ति का आकर्षण मनुष्यमात्र के लिए स्वाभाविक है। सभी राष्ट्र परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा समृद्ध बनने की कामना किया करते हैं, एवं अपनी इस कामपूर्त्ति के लिए इनकी गृद्ध दृष्टि अहर्निश परस्वत्वों पर लगी रहती है। जो राष्ट्र अरक्षित रहता है, निर्बल रहता है, सुरक्षित सबल अन्य राष्ट्र तत्काल उसे उदरसात् कर लेते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को बहिरङ्ग आक्रमणों की सदा प्रतीक्षा करती रहनी पड़ती है। जब तक आक्रमण का भय बना रहता है, तब तक देश की कला, कौशल, शिल्प, वाणिज्य, विद्या, अर्थ आदि कोई भी नहीं पनप सकते। ऐसी दशा में राष्ट्रीय समाज का एक दूसरा यह भी आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने समाज में से एक ऐसा ही अवान्तर विभाग नियत करदे, जिसका समाज को बहिरङ्ग आक्रमणों से बचाते रहना ही एकमात्र कर्त्तव्य हो। आक्रमण की कोई निश्चित तिथि नहीं होती। साथ ही में स्वयं राष्ट्र में भी मनोवृत्तियों के भेद से यदा कदा गृहकलह के अवसर उपस्थित होते रहना अनिवार्य्य है। इन दोनों आकस्मिक विप्लवों से राष्ट्र को बचाने के लिए, उस अवान्तर विभाग को सदा अपने इस रक्षाकर्म्म में ही अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त रहना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पड़ेगा। समाज अपनी आय के षष्ठांश से (ब्राह्मण को छोड़कर) इस रक्षक समाज के रक्षासाधनों का उपोद्बलक बनेगा। और यह प्राप्त षष्ठांश से आर्थिक चिन्ता से विमुक्त होता हुआ 'साम-दाम-दण्ड-भेद' नीतियों के अवसरप्राप्त प्रयोगों के द्वारा राष्ट्र का शासन भी करेगा, एवं इसे बाह्य आक्रमण से भी बचाता रहेगा। समाज का यही दूसरा अवान्तर विभाग 'क्षत्रिय'[2] कहलाएगा।

राष्ट्र को ज्ञानसम्पत्ति मिली ब्राह्मणवर्ग से, रक्षा का साधन उपलब्ध हुआ क्षत्रियवर्ग से। एक ज्ञानगुप्ति में रत, दूसरा रक्षा-कर्म्म में नियुक्त, अब उस 'अर्थ' की समस्या राष्ट्र के सामने उपस्थित हुई, जिसके बिना राष्ट्र की स्वरूप रक्षा ही सर्वथा असम्भव हो जाती है। इसी अर्थचिन्ता से त्राण पाने के लिए राष्ट्र ने एक विभाग इसी कार्य्य के लिए नियत किया। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य द्वारा अर्थसंग्रह करते हुए राष्ट्र को अर्थचिन्ता से विमुक्त रखने का भार इसी तीसरे विभाग के कन्धों पर डाला गया। ज्ञान और शासन दोनों की स्वरूप रक्षा का भार इसे उठाना पड़ा, जो कि भलन्दनवंशज अवान्तर विभाग 'वैश्य'[3] नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त तीनों व्यवस्थित विभागों के द्वारा राष्ट्र ने प्रायः अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी कर लीं अब केवल एक आवश्यकता बाकी बच गई। ब्राह्मणवर्ग अध्ययनाध्यापनलक्षण ज्ञानप्रसार-कर्म्म में, क्षत्रियवर्ग पौरुष-कर्म्म में, वैश्यवर्ग कृषि-गोरक्षा वाणिज्य-कर्म्म में अनन्यनिष्ठा से संलग्न है। इन कर्म्मों के अतिरिक्त कुछ एक प्रातिस्विक कर्म्म और बच रहते हैं, जिनका कि विस्तार एक स्वतन्त्र विभाग की अपेक्षा रखता है। प्रासादनिर्म्माण, वस्त्रप्रक्षालन, क्षौरकर्म्म, पात्रपरिमार्ज्जन, वाहन सञ्चालन, गोचारण, भारवहन, विविध शिल्पनिर्म्माण, आदि आदि अनेक कर्म्म भी राष्ट्र के लिए एक विशेष महत्त्व रखते हैं। इसी महत्त्वशालिनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए राष्ट्र को एक चौथा अवान्तर विभाग और बनाना पड़ा। सेवाधर्म्म को मुख्यधर्म्म बनाने वाले इस विभाग ने इन सब बहिरङ्ग कर्म्मों का भार उठाया, और यही विभाग 'शूद्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

शरीरबल शूद्रवर्ग का उपास्य बना, वित्तबल वैश्यवर्ग की मूलप्रतिष्ठा बना, ऐश्वर्य (शासन) बल क्षत्रियवर्ग का आराध्य बना एवं ज्ञानबल ब्राह्मणवर्ग की आश्रयभूमि बना। इस प्रकार चारों विभाग स्व स्वकर्त्तव्य कर्म्मों का अनन्यभाव से अनुगमन करते हुए, परस्पर सौहार्दभाव रखते हुए, समान आकृति बनाए हुए अपने व्यक्तित्व को, परिवार को, समाज को, एवं राष्ट्र को 'ब्रह्म क्षत्र विट् बल' इन चारों लोकविभूतियों से सुसमृद्ध बनाने में समर्थ हो गए। इस प्रकार भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपनी इस लोकोत्तर सामाजिक कल्पना के आधार पर अपने समाज को कर्त्तव्य-कर्म्म भेद से चार श्रेणियों में विभक्त कर सब कुछ सिद्ध कर लिया।

सामाजिक महाकर्म्म-सिद्धि की दृष्टि से जहां समाज के उक्त चार अवान्तर विभाग आवश्यक प्रतीत होते हैं, वहां नैतिक दृष्टि से भी इनका कम महत्त्व नहीं है। यदि एक ही क्षेत्र में चारों शक्तियों का समावेश हो जाता है (जिन का कि एकत्र समन्वित होना पहिले तो असम्भव ही है, यदि एकत्र समन्वय हो भी जाता है, तो रक्षण सर्वथा असम्भव ही है) तो अवश्य ही उस क्षेत्र का, उस समाज का, उस राष्ट्र का नैतिक बल गिर जाता है। आज भारतवर्ष का जो अधःपतन देखा जा रहा है, नैतिक बल की जो कमी आज यहां उपलब्ध हो रही है, इसका एकमात्र कारण कर्म्म-चतुष्टयी का साङ्कर्य्य ही माना जायगा। "सब का सब कुछ बनने की इच्छा रखना, एवं सबका सब कुछ करने की प्रवृत्ति रखना" इसी महामारी ने प्रजावर्ग को नैतिक प्रतिष्ठा से गिराया है। आज प्रत्येकवर्ण, प्रत्येक व्यक्ति विद्या-पराक्रम-धन-शरीर-बल, चारों ही क्षेत्रों में अपने आप को पारङ्गत देखना चाहता है। परिणाम इस निराशामयी दुराशा का यह हो रहा है कि, हमारा यह राष्ट्र मधुकर-वृत्तिमूलक 'मृगमरु-मरीचिका' से ग्रस्त होता हुआ चारों ही वैभवों से वञ्चित होरहा है।

सब से पहिले ब्राह्मणवर्गकी दशा पर ही दृष्टि डालिए। जब से इस शिरःस्थानीय वर्ग ने शिरोमूलक ज्ञानबल के साथ साथ उदर मूलक अर्थसंग्रह का अनुगमन आरम्भ किया, उसी दिन से ज्ञानबल तो क्षीण हुआ सो हुआ ही, साथ ही मे जन्मजात अयोग्यता के प्रभाव से अर्थ संग्रह में भी यह सफल न हो सका। परिणामत: 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट:' पुरस्कार ही इसकी दायसम्पत्ति बन गई। आगे जाकर तो इस वर्ग ने अर्थलिप्सा के कुचक्र में पड़ कर सेवा-धर्म्म का भी उत्तराधिकार ग्रहण कर लिया। आज 'महाराज' शब्द का गम्भीरतम अर्थ होता है—'पवित्र ब्राह्मण रसोइया'। कैसा भीषण पतन है, और हमारा समाज इन पतन कर्म्मों का स्वार्थवश समर्थन करता हुआ किस प्रकार अपना नैतिक बल खो बैठा है, यह मुकुलित नयन बन कर थोड़ा विचार तो कीजिए।

जब पथप्रदर्शकवर्ग ही पथभ्रष्ट हो गया, तो पथानुगामी इतर वर्णों की मीमांसा व्यर्थ है। क्षत्रियवर्ग ऐश्वर्यबल के साथ साथ विद्या-अर्थ रक्षा के क्षेत्रों में निष्णात बनने की कामना रखता हुआ लक्ष्यच्युत बन रहा है। एक वैश्य महानुभाव सम्पत्ति संग्रह करने के साथ साथ उपदेशक भी बनना चाहता है, धर्म्मनिर्णायक बनने का भी दम भर रहा है, प्रजा पर अपना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुशासन भी चाहता है। शूद्र महाभाग सेवाधर्म्म के साथ साथ विद्या-शासन-अर्थ क्षेत्रों का भी प्रभु बनने की कामना कर रहा है। फलत: चारों ही वर्ग इतरधर्म्मों की लिप्सा करते हुए अयोग्यतावश इतरधर्मों से भी वञ्चित हो रहे हैं, और साथ ही में खो रहे हैं—अपनापन भी।

भारतवर्ष की इस हीन दशा पर इधर कुछ समय से कुछ एक परमकारुणिकों के अन्तस्तलों में करुणा-स्रोत उमड़ ही तो पड़ा। संत्रस्त, किन्तु मुग्ध भारतीयप्रजा ने इन कारुणिक उद्धारकों का हृदय से अभिनन्दन भी किया। परन्तु हुआ क्या? इन उद्धारकों नें आर्यप्रजा को देन क्या दी? उत्तर स्पष्ट है। पश्चिमी सभ्यता-आदर्श-आहार-विहार आदि भूतप्रपञ्चों को ही उन्नति का एकमात्र मूलस्रोत माननेवाले इन पुरुषपुङ्गवों ने रोग-चिकित्सा के स्थान में रोगी का न रहना ही ठीक घोषित कर दिया। कालातिक्रम द्वारा वर्णव्यवस्था में आनेवाले दोषों को दूर करने के बहाने इन्होंनें इस व्यवस्था पर ही प्रहार कर डाला। उन्नति मार्ग में सबसे बड़ा विघ्न समझा गया एकमात्र 'भारतीय वर्णव्यवस्था'। कल्पित साम्यवाद की घोषणा के साथ साथ 'जात-पांत तोड़क मण्डल' जैसे सर्वनाशक आविष्कार उपादेय मानें जानें लगे। संघठन के पवित्र नाम पर मर्य्यादाओं को पददलित बनाया गया, और इसके द्वारा उच्छिन्न की गई समाज की बचीखुची शान्ति भी।

हम मानते हैं कि, भारतवर्ष में कुछ समय से वर्णव्यवस्था का दुरुपयोग हो रहा है। स्वार्थलोलुप कुछ एक स्वार्थी उपदेशकों नें, धर्म्मरक्षकों नें वर्णधर्म्मप्रतिपादक शास्त्र को केवल उदरपूर्त्ति का साधक बना लिया है। स्वाध्याय-प्रणाली से विमुख यह उपदेशकवर्ग आज सचमुच 'ब्राह्मणब्रुव' बन गया है। इधर कतिपय क्षत्रिय राजा भी अपने 'क्षतात्किल त्रायते' इस नामनिर्वचन को छोड़ते हुए रक्षाकर्म्म के स्थान में रक्तशोषणपद्धति द्वारा अपनी उद्दाम-वासनाओं की पूर्त्ति में ही संलग्न हैं। यह सब मानते हुए भी वर्णव्यवस्था की निर्दोषता, तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। कोई मन्दबुद्धि अज्ञानतावश उपकारक 'विद्युत-यन्त्र' से यदि अपना नाश करा बैठता है, तो इसमें विद्युत का क्या दोष है। अज्ञानवश तो जीवन-साधक अन्न भी अतियोग, अयोग, मिथ्यायोगादि द्वारा नाश का कारण बन जाय करता है। ऐसी दशा में प्रकृतिमूला, इस समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था पर लाञ्छन लगाना सर्वथा अनुचित ही माना जायगा।

हमारी भ्रान्ति और उसका निराकरण—

बिना कुछ सोचे समझे, कुछ एक बाह्य विभीषिकाओं के आधार पर मूलकेन्द्र पर प्रहार कर बैठना क्या न्याय सङ्गत है? हम देखते हैं कि, आज तो यह प्रहारकर्म्म वर्णधर्म्मप्रतिपादक धर्म्मशास्त्रों पर भी आक्रमण कर बैठा है। उदारवादी धर्म्मशास्त्रों पर पक्षपात का दोष लगाते हुए कहा करते हैं कि—"धर्म्मशास्त्रों का निर्माण ब्राह्मणों नें किया है। (जब कि धर्म्मशास्त्रों में शिरोमणिभूत मानवधर्म्मशास्त्र-[मनुस्मृति]-एक राजर्षि की कृति है)। ब्राह्मणों नें अपने आपको सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हुए इतरवर्णों के लिए अनुचित दण्डों का विधान किया है"। क्या इस आपात-रमणीय अभियोग में कुछ भी तथ्य है? माघ मास का 'जाड़ा' है, अमावस्या की भयावह 'रात्रि' है। मार्ग में चलते हुए एक ब्राह्मण का संयोगवश एक असच्छूद्र के साथ स्पर्श हो जाता है। इस दोष के लिए धर्म्मशास्त्र शूद्र के लिए कोई दण्ड विधान न करता हुआ ब्राह्मण को ही 'सचैल-स्नान' का आदेश देता है। बतलाइए! किसके साथ पक्षपात हुआ?

जिस 'स्पृश्यास्पृश्य' को लेकर आज उदारवादियों नें एक विप्लवयुग उपस्थित कर रक्खा है, जिस का कि पूर्व के 'स्पृश्यास्पृश्य विवेक' नामक परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा चुका है, उसमें कौन सा राष्ट्रीय महत्त्व है? यह हमारी समझ में आज तक न आया। क्या न छूने से शूद्र का सर्वस्व नष्ट हो जायगा? क्या छू लेने मात्र से हम उनका समुद्धार कर लेंगे?। वस्तुत: देखा जाय, तो शूद्रवर्ग का वास्तविक अपकार, एवं तिरस्कार तो आज हो रहा है। जहां देश का सम्पूर्ण शिल्प, कला-कौशल महर्षियों नें एकमात्र शूद्रवर्ग के अधिकार में दे रक्खा था, वहां आज हम स्वयं शिल्पापजीवी बनते हुए उनका जीवन भी सङ्कट में डाल रहे हैं। वस्त्रनिर्म्माण, चरखा-सञ्चालन आदि शूद्रकर्म्मों पर आज द्विजातिवर्ग का अधिकार हो रहा है। ग्रामसुधार-रचनात्मककार्य्य-कला-कौशलोन्नति-आदि के व्याज से आज हमनें उनका सारा व्यवसाय छीन लिया है। भारतीय चर्म्मकार के बनाए जूतों का आज कौन हितैषी आदर करता है? नापित के क्षौरकर्म्म का स्थान क्या आज 'सेफ्टीरेजर' ने ग्रहण नहीं कर लिया? रथ-वाजि-शकटादि द्वारा वाहनों से आज किसे अपेक्षा नहीं है?। शास्त्र-विरुद्ध, एवं वर्णधर्म्म-विरुद्ध मन्दिरप्रवेश, वेदाध्यापन, यज्ञोपवीतसंस्कार, सहभोजन आदि कर्म्मों से शूद्रवर्ग का उपकार हो रहा है, अथवा अपकार?। उनके एकान्तिक शिल्पाधिकार छीनने से उनका अपकार हो रहा है, अथवा उपकार? इन प्रश्नों का निर्णय उन्हीं हितैषियों को करना चाहिए।

मन्दिरों में प्राणप्रतिष्ठा पूर्वक प्रतिष्ठित भगवत्-प्रतिमाओं के दर्शन से पुण्य है, इसमें क्या प्रमाण? वही 'शास्त्र'। जब इस अंश में हम शास्त्रनिष्ठ बनने का दावा रखते हैं, तो हमें क्या अधिकार है कि, शास्त्रविरुद्ध मन्दिर प्रवेशादि के लिए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हाहाकार मचावें। यह कैसी शास्त्रनिष्ठा ?। ईश्वर सब का है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। साथ ही सभी उसकी उपासना को अधिकार रखते हैं, यह भी निर्विवाद है। परन्तु उपासनामार्ग एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक मार्ग है। अवश्य ही अधिकार मर्य्यादा से ही इसकी व्यवस्था की जायगी। फिर एक शूद्र भी तो सत्य-अहिंसा-भूतदया-दान-मन.संयम-ईश्वरनामश्रवण-हरि-संकीर्त्तन आदि सामान्य धर्म्मों से मुक्ति-लाभ कर ही सकता है। प्रतिमादर्शन से शूद्र का तो कोई उपकार होगा नहीं, प्रतिमा का प्राणातिशय इस दृष्टि-संसर्ग से अवश्य दूषित हो जायगा जिस वैशिष्ट्याधान से एक पाषाणखण्ड, किंवा धातुखण्ड ईश्वर का आसन ग्रहण कर वह हमारा उपास्य बन रहा है, वह वैशिष्ट्य अवश्य निकल जायगा।

शास्त्र ने प्रतिमोपासना के असंस्कृत (प्राकृतिक), संस्कृत (कृत्रिम), ये दो भेद मानें हैं। विराट् पुरुष के अङ्गभूत सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी गङ्गा यमुना-तीर्थादि प्राकृतिक देवप्रतिमाएं हैं। एवं इनकी उपासना का संस्कृत द्विजाति, असंस्कृत अवर्ण सबको समानाधिकार है। वेदमन्त्रों द्वारा एक विशेष वैध-प्रक्रिया से जिन पाषाणादि प्रतिमाओं में प्राणप्रतिष्ठा का जाती है, वे सब संस्कृत प्रतिमाएं हैं। इनके दर्शन का अधिकार उन्हीं को है, जो जन्मना दिव्य प्राण संस्कारों में संस्कृत हैं। असंस्कृत शूद्रवर्ण कभी इनके दर्शन से अपना उपकार नहीं कर सकता। यदि उस में श्रद्धातिरेक है, तो वह अपने घर में, अथवा अपने समुदाय में देवप्रतिमा बना कर उसका उपासना में सफल हो सकता है। इधर धर्मशास्त्रों ने द्विजातिवर्ग के लिए प्रतिमादर्शन का जो फल माना है, शूद्र के लिए शिखर-दर्शन मात्र से भी वही फल बतलाया है। जाने दीजिए, इस अप्राकृत विसंवाद को आगे आने वाले 'भक्तियोगपरीक्षा' प्रकरण में इन सब विषयों का विस्तार से प्रतिपादन होने वाला है। यहां तो इस निदर्शन से केवल यही यही कहना है कि, शास्त्रसिद्ध आदेश पर चलने से ही प्रजावर्ग का उपकार सम्भव है।

कितने एक महानुभावों के श्रीमुख से यह भी सुना गया है कि,—'अजी! यह सब तो राजनीति की चालें हैं। यदि अवर्णों को समानाधिकार न दिया गया, तो वे सब विधर्म्मी बन जायेंगे देखिए न हमारे इसी असमान व्यवहार से आज अस्पृश्य-जातियां विशेषतः दक्षिण भारत की अवर्णप्रजा हिन्दुत्व से पृथक् हो गई है", "ओम्"। सचमुच महा अनर्थ हो रहा है। अवश्य ही इस महा अनर्थ को रोकने के लिए शीघ्र से शीघ्र कोई महा उपाय करना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रहे कि, हमें केवल 'अनर्थ' का प्रतिरोध करना है, न कि एक अनर्थ को रोकने के लिए एक दूसरे महा अनर्थ का बीजारोपण करना है। अवर्णप्रजा 'ईसाई' क्यों बन रही है? क्या आपने कभी इस प्रश्न की मीमांसा की? न की हो तो एक बार अनुग्रह कर दक्षिणभारत की यात्रा कर डालिए, समाधान हो जायगा। आप देखेंगे कि नगरों की कौन कहे, दक्षिण भारत के छोटे छोटे ग्रामों तक में 'चर्च' देवता विराजमान हैं। एवं उनमें दैनिक रूप से धर्म्मोपदेशकों (पादरियों) द्वारा ख्रीष्टधर्म्म का महत्त्व, तथा इतरधर्म्मों का निःसारत्व प्रतिपादित हो रहा है। सम्भवतः श्रीमानों को यह भी विदित होगा ही कि, अपने इस धर्म्मप्रचार कार्य्य में पश्चिमीदेश प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया मुक्तहस्त बनकर प्रदान कर रहे हैं। गुणगान कीजिए उस वर्णमूलिका जातिमर्य्यादा (कास्ट) सिस्टम) का, जिसकी अर्गला ने ईसाई मिशनरियों के प्रवाह में थोड़ी बहुत रुकावट डाल रक्खी है। नहीं तो आज वहां के प्रलोभनों के अनुग्रह से आपको हिन्दुत्त्व का नाम शेष भी न मिलता।

इधर आप अपने धर्म्मप्रचार पर दृष्टि डालिए। कौन हिन्दू धर्म्म का प्रसार करने के लिए कटिबद्ध है? इस आवश्यकतम कार्य्य का विरोध करने के अतिरिक्त आपके राष्ट्र ने आज तक और कौन सा पुरुषार्थ किया है? इसे कौन सा राज्याश्रय मिल रहा है? इसके प्रचारकों के अपमान में इसी के अनुयायियों के द्वारा कौन सा उपाय बाकी बच रहा? क्या इसी बल पर हम 'हिन्दुत्व' की रक्षा का दम भरते हैं। यह ठीक है कि, दक्षिण-भारत की अवर्णप्रजा के साथ वहां की वर्णप्रजा का व्यवहार कुछ समय से ठीक नहीं है। परन्तु केवल इस दोषाभास को लेकर इतर प्रधान दोषों की उपेक्षा करते हुए वर्णव्यवस्था जैसे सुदृढ़ दुर्ग पर आक्रमण कर बैठना कौन सी बुद्धिमानी है? होना चाहिए यह कि, योग्य उपदेशकों को धर्म्म प्रचारार्थ स्थान स्थान में भेजा जाय, धर्म्मरक्षक सन्त महन्तों, आचार्यों, तथा मठाधीशों पर सङ्गठन द्वारा यह बल डाला जाय कि, वे अपने सञ्चितकोश का इस कार्य्य में उपयोग करें, स्थान स्थान में आश्रम खुलें, तात्त्विक दृष्टि से वेद-वेदाङ्गों का अध्ययनाध्यापन हो, लोकरुचि, तथा योग्यतानुसार सामयिक भाषाओं में इन तत्त्वों का प्रचार प्रसार हो। केवल आदेश वाक्यों से न तो कभी जनसमाज धर्म्म पर आरूढ रहा है, एवं न भविष्य में ही इस पद्धति से कोई आशा की जा सकती। यदि उक्त-उपायों का अनुगमन करते हुए धार्मिक आदेशों का मौलिक रहस्य जनसाधारण के कानों तक एकबार भी पहुंच जायगा, तो हमारा यह विश्वास है, विश्वास ही नहीं दृढ़ निश्चय है कि, कोई भी आस्तिक व्यक्ति स्वधर्म्म से विचलित जाने की इच्छा न करेगा। साथ ही में इस में भी कोई आश्चर्य नहीं है कि, विधर्म्मी भी विरोधी-प्रचारों से उपरत होते हुए भारतीय धर्म्म की सार्वभौमता स्वीकार कर लेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum, LUCKNOW

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिये यदि हम यह मान भी लें कि, राजनैतिक दृष्टि से ही समानतामूलक समान व्यवहारान्दोलन ठीक है, तब भी भारतीय दृष्टिकोण इसका समर्थक नहीं बन सकता। ऐसी राजनीति, जो धर्म्मनीति की उपेक्षा कर रही हो, भारतीयक्षेत्र में इसलिए अनीति कहलाती है कि, इसका सम्बन्ध अधर्म्म के साथ रहता है। पहिले भी नीति के नाम को बदनाम करनेवाले ऐसे उदारवादी हो गए हैं। परन्तु जब जब ऐसी अधर्म्ममूला राजनीतियों की घोषणा का अवसर आया है, तबतब उसका तबतक विरोध आरम्भ रहा है, जबतक कि ऐसी नीतियां, तत्प्रवर्त्तकों, एवं तत्समर्थकों का स्मृतिगर्भ में नहीं मिला दिया गया है। भारतीय राजनीति का दृष्टिकोण क्या है? इस प्रश्न की विशद मीमांसा पूर्व में की जा चुकी है। प्रतिपादित लक्षणों के अनुसार हमारे लिए वही राजनीतिपथ ग्राह्य है, जो कि धर्म्मनीतिपथ का अनुगामी है।

इधर क्या हो रहा है? हम क्या बन कर, किसे राजनीति मान कर समानता का उद्घोष कर रहे हैं? यह भी स्पष्ट है। पश्चिमी देशों की सभ्यता-शिक्षा आदि के प्रवाह में पड़ कर आज हमनें वहीं की तरह धर्म्म का राजनीति से पार्थक्य कर डाला है, और धर्म्म को राजनीति का सेवक बना डाला है। यही कारण है कि, आज बिना सोचे समझे प्रत्येक धार्म्मिक-आदेश की (राजनीति का सम्पुट लगा कर) उपेक्षा करते हुए हम लज्जा का अनुभव नहीं करते। निश्चयेन हमारी मौलिकता के पतन का यही मुख्य कारण बन रहा है। इसी पतन के अनुग्रह से आज कतिपय धार्म्मिक नेता भी राजनीति की ओट में धर्म्मविरोधी आन्दोलनों की हां में हां मिलाते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हमारे ये नेता यह भूल जाते हैं कि, भारतीयधर्म्म पूर्वप्रकरणोक्त दिशा के अनुसार इतर धर्म्मों की तरह सामयिक पुरुषश्रेष्ठ की कल्पना से सम्बन्ध रखनेवाला मतवाद नहीं है, अपितु धर्म्मतत्त्व उस जगन्नियन्ता जगदीश्वर का सनातन, अतएव अविच्छिन्न मर्य्यादासूत्र है।

यही धर्म्मसूत्र हिन्दू जाति का हिंदुत्व है, जिसके कि गर्भ में हिन्दू व्यक्ति के वैयक्तिक-कौटुम्बिक सामाजिक-राष्ट्रीय ऐहलौकिक कर्म्म, एवं यज्ञ-तप-दानादि पारलौकिक-कर्म्म, सबकुछ प्रतिष्ठित है। धर्म्मशास्त्र, वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, धर्म्ममूलक वर्णभेद, वर्णभेदमूलक कर्त्तव्यभेद आदि ही तो हिंदुत्व की परिभाषाएं हैं। जब हम अपना यह हिंदुत्व ही खो देंगे, तो वह उच्छृङ्खल राजनीति हमारे क्या काम आवेगी। हमारी जाति, हमारा कर्म्म, हमारा धर्म्म, हमारी उपासना, हमारा ज्ञान, सब मर्य्यादित हैं, अधिकारभेद से योग्यतानुसार सुव्यवस्थित हैं। यदि प्रवाह में पड़ कर इन प्राकृतिक अधिकारों को हमनें 'जलाञ्जलि' समर्पित कर दी, तो हममें और एक ईसाई में अन्तर ही क्या रहा? फिर क्यों, किस आधार पर हम हिंदुत्व का अभिमान करें? जब हम अपनी मौलिकता का सर्वनाश कर स्वतन्त्र होना चाहते हैं, हम 'हम' न रह कर आजाद बनना चाहते हैं, तो इस पशुलक्षणा स्वतन्त्रता का प्रतिरोध आज भी किसने कर रक्खा है? फिर तो आज भी हम स्वतन्त्र ही हैं।

भारतवर्ष की स्वतन्त्रता का मूलमन्त्र उसका वर्णधर्म्म ही माना जायगा। प्रचलित राजनीति के अनुग्रह से यदि क्षणमात्र के लिए हमें खान-पान की थोड़ी बहुत अमर्य्यादित सुविधा मिल भी गई, और इस क्षणिकफल के प्रत्युपकार में हमनें अपनी मौलिकता की भेंट चढ़ा दी, तो भी यह सुविधा परिणाम में हमारे सर्वनाश का ही कारण सिद्ध होगी। समय अधिक भले ही लगे, परन्तु हमें अपनी मौलिकता को बचाते हुए, धर्म्मरक्षा करते हुए ही अभ्युदय-पथ का अनुगमन करना पड़ेगा। राजनीति के इस दुर्द्धर्ष प्राङ्गण में अनेक विजेता जातियां हमारे आई, जिनका कि आज नाम भी शेष नहीं है। इधर शताब्दियों से परतन्त्रता-पाश का अनुगमन करती हुई भी यह हिन्दू-जाति अपनी सनातन मौलिकता के आधार पर आज तक जीवित खड़ी है।

हम हमारे इन अभिभावकों के बुद्धिवैभव का ताण्डव नृत्य देख देख अवाक् रह जाते हैं। वर्णधर्म्म इस लिए हानिकर माना जा रहा है कि, इसने हिन्दु-जाति का क्रमिक ह्रास किया है। 'हिन्दू जाति बची रहे, हिन्दुओं का हिन्दुत्व सुरक्षित रहे', इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बुद्धिधुरीणों ने धर्म्मपरित्याग, वर्णधर्म्मोपेक्षा, मर्य्यादा-सूत्रोच्छेद आदि उपायों को अपनाया है। भला इन बुद्धिमानों से कोई यह तो पूछे कि, वर्णधर्म्म के अतिरिक्त हिन्दुत्व की परिभाषा ही दूसरी कौन सी है? प्रकृतिसिद्ध बीजभेद न माना जाय, अधिकार भेद सिद्ध कर्म्मभेद व्यवस्था न अपनाई जाय, कोई किसी का अनुशासन न माने, सब यथेच्छाचारी बन जावें, खानपान का धर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं, विवाह का धर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं, स्पृश्यास्पृश्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवेक केवल स्वार्थलीला है, क्या इन्हीं सब आदर्शवाक्यों का नाम हिन्दुत्व है ? क्या इसी हिन्दुत्व के आधार पर हिन्दूजाति अपना जीवन सुरक्षित रख सकी है ? सोचिए! अपने लिए न सही अपने पूर्व गौरव की रक्षा के नाते सोचिए, भावी सन्तति के कल्याण के नाते सोचिए, एवं खूब सोच समझ कर ही अपने बुद्धिवाद का प्रसार कीजिए।

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में इन्हीं बुद्धिमानों की ओर से एक आक्षेप और उपस्थित होता है। आपका कहना है कि, "दण्डविधान में मनु ने ब्राह्मणवर्ण के साथ पूरा पूरा पक्षपात किया है। ब्राह्मण के थोड़े से अपमान में शूद्र-वर्ग के लिए कठिनतम दण्ड विहित हैं"। आक्षेप यथार्थ है, अवश्य ही मनु ने ऐसा ही किया है। परन्तु इस विधान का मूल क्या है ? क्या आपने कभी यह विचार किया। समाज व्यवस्था में सब का आसन समान रहे, यह सर्वथा असम्भव है। ब्राह्मण वर्ण समाज का सर्व-मूर्द्धन्य अङ्ग है, शिरःस्थानीय है, मुखिया है, ज्ञानप्रद है, अतएव समाज के लिए एक बहुत बड़ी देन है। यदि इस से कोई अपराध बन भी जायगा, तो वह या तो क्षम्य माना जायगा अथवा स्वल्पदण्डभाक् माना जायगा। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि, इतरवर्णों का समाज व्यवस्था में कोई महत्व नहीं है। सभी वर्ण स्व-स्वक्षेत्र में महान्, तथा उपादेय हैं। एवं समाज व्यवस्था-सञ्चालन के नाते सभी की समानरूप से आवश्यकता है। फिर भी कर्म-योग्यता, एवं कर्मजाति के तारतम्य से व्यक्ति की योग्यता, एवं वर्ग जाति की योग्यता में अन्तर मानना प्रकृति सिद्ध है, एवं यही प्राकृतिक विशेषता उस विशेष जाति का विशेष मूल्य है। यही मूल्य, यही विशेषता श्रेणि-विभाजन का कारण भी बनी है।

जो वर्ण (ब्राह्मण) आप के समाज के कल्याण के लिए ऐहलौकिक सम्पूर्ण सुखसाधनों का परित्याग कर कायक्लेश सहता हुआ अनन्यभाव से यावज्जीवन ज्ञानचर्या में निमग्न रहता है, सचमुच ऐसा 'एवंविन्' ब्राह्मण समाज की अमूल्यनिधि है। इस का अपमान जहां सर्वथा 'असह्य' है, वहां इस का आकस्मिक अपराध 'सह्य' ही माना जायगा। फिर शास्त्रकारों ने स्वयं ब्राह्मणवर्ग के लिए भी कतिपय स्थलों में ऐसे दण्ड नियत किए हैं, जिनके श्रवण मात्र से रोमाञ्च हो पड़ता है। "यदि ब्राह्मण मद्यपान करले, तो उसके गले में तब तक तप्त मद्य डालते रहना चाहिये, जब तक कि उसका अन्ततः इस शरीर को छोड़ न दे", क्या यह सामान्य दण्ड है ? यदि सामान्य अपराधों पर ही ब्राह्मणवर्ण को कठिन-प्राणघातक-दण्ड दे दिया जायगा तो समाज एक अमूल्य निधि खोता रहेगा। थोड़ा सा दण्ड भी इसके परिताप प्रायश्चित्त के लिए पर्य्याप्त है। उच्चश्रेणी का व्यक्ति स्वल्पदण्ड से ही मृत्युसम कष्ट का अनुभव करने लगता है, यह सार्वजनीन है।

'वायसराय' महोदय भी मनुष्यत्वेन एक मनुष्य है। और प्रजा का एक सामान्य व्यक्ति भी मनुष्यत्वेन मनुष्य ही है। यदि इस सामान्य मनुष्य के हाथ से कोई मारा जाता है, तो इसे वधदण्ड मिलता है। परन्तु वायसराय महोदय के हाथों अकस्मात्, अथवा जान बूझ कर किसी के मारे जाने पर भी वे इस दण्डविधान से मुक्त रहते हैं। क्यों ? इसलिए कि वे राष्ट्र की एक अमूल्य निधि माने गए हैं। उनकी सत्ता से राष्ट्रव्यवस्था का कल्याण है। ठीक यही समाधान मानवीय-दण्ड विधान प्रकरण का समझिए। समानदण्ड का प्रश्न उठाना ही भ्रान्ति है। क्योंकि देश-काल-पात्र की योग्यता के अनुसार ही दण्ड-विधान प्रवृत्त होते हैं।

एक और विचित्र आक्षेप सुनिए। "भगवान् राम ने भिलनी के बेर खाए थे, भगवान ने निषाद को गले लगाया था, भगवान कृष्ण ने 'चेता' के यहां प्रसाद पाया था। ये सब उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, 'अस्पृश्यता' केवल स्वार्थमयी कल्पना है। जब आदर्शस्थानीय हमारे अवतार पुरुषों ने इन्हें अस्पृश्य न माना, साथ ही जब हमें शास्त्र— 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' यह आदेश दे रहा है, तो कहना पड़ेगा कि अस्पृश्यता मानव-समाज का एक नग्न कलङ्क ही है।"

स्वागतम्! सुस्वागतं भो: !! भगवान् राम, और भगवान् कृष्ण ने ऐसा किया था, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु भगवन् ! भगवान् ने ऐसा किया था, भगवान आज भी ऐसा कर रहे हैं, एवं भविष्य में भी सब कुछ करने का उन्हें अधिकार है, क्योंकि वे भगवान हैं, सर्वव्यापक हैं। उनके स्पर्श से कौन बच सकता है। उन के विभूतियोग से कौन वञ्चित रह सकता है। क्या हम भी व्यापक भगवान हैं ? क्या हमारी वैसी ही व्यापक दृष्टि है ? क्या विश्वधर्म्म हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं करते ? क्या माता-पत्नी पिता पुत्र अनुचर-बन्धु-बान्धव सब का लौकिक भेद हमारे लिए 'अभेद'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बन गया है ? नहीं, तो किस आधार पर हम भगवान् हुए ? जब भगवान् नहीं हुए, तो किस आधार पर हमें भगवान् के लोकोत्तर चरित्रों के अनुगमन का अधिकार प्राप्त हुआ ? । यदि 'आदर्श की नकल' का यही अर्थ आपने समझ रक्खा है कि, 'हमारे आदर्श पुरुषों ने जो कुछ किया, हमें भी वही करना चाहिए" तो आप को बिना आनाकानी के विषपान कर लेना चाहिए। क्यों कि भगवान् शङ्कर भी राम-कृष्णवत् आप के आदर्शदेवता हैं, और आदर्श पुरुषों के चरित्रों की नकल करना आप का धर्म्म है। क्या आप ऐसा कर सकेंगे ?

स्मरण कीजिए भगवान् 'व्यास' के – **'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा'** (श्रीमद्भागवत १० स्कं० पू० रासपञ्चाध्यायी ३३।३) इस वचन को। जो क्षय-कीटाणु स्पर्शादि रुग्णदोषों से हमारे शरीर में प्रविष्ट हो कर शरीर को जर्जरित कर देते हैं, वे ही कीटाणु सूर्यसम्बन्ध से अपना घातक-दोषवह स्वरूप खो बैठते हैं। सूर्य पर इन कीटाणुओं के सम्पर्क का कोई असर नहीं होता। अमानव, दिव्य पुरुष का ही नाम 'भगवान्' है। सर्व-व्यापक, अतएव समदर्शी भगवान् के लिए सभी वर्ण समान हैं। परन्तु उन्हीं भगवान् के इस व्यावहारिक जगत में सब विभिन्न-विशेष धर्म्मों से ही आक्रान्त रहते हैं।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचारितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥

—श्रीमद्भागवत १० सं० पू० ३३।३२।

इस आदेश वाक्य के अनुसार 'सत्य-अहिंसा-अस्तेय-भूतधृति-आस्तिक्य ब्रह्मचर्य्य' आदि कुछ एक सामान्य धर्म्मों को छोड़ कर समर्थ पुरुषों के और किसी लोकोत्तर चरित्र की नकल करना सर्वथा पागलपन है। उनका लोकोत्तरचरित्र हमारे लिए आदर्श नहीं बना करता, अपितु उनका आदेशवचन ही हमारे लिए कल्याण का मार्ग है। नहीं तो फिर एक ही बात में नकल क्यों ? भगवान के सभी चरित्रों की नकल कीजिए न। जिस दिन आप ऐसा करने में समर्थ हो जायंगे, उस दिन आप भी लोकोत्तर पुरुष बनते हुए भगवान बन जायगे, एवं उस स्थिति में आप का आदेश भी वेदवाक्यवत् हमारे लिए प्रमाण बन जायगा। नहीं तो फिर इन कुत्सित-अशास्त्रीय-कल्पनाओं का एक आर्य्यसन्तान की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। बहुत हुआ। वर्णव्यवस्था, तथा वर्णव्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म्मभेद ऐसे गहन विज्ञान से सम्बद्ध है, जिस पर सहसा दृष्टि नहीं जा सकती। दुर्भाग्य से वैदिकविज्ञान की पारम्परिक स्वाध्याय क्रम भी आज उच्छिन्नप्राय है। इसी अज्ञानता के कारण मौलिक-तत्त्वों पर प्रतिष्ठित इन मौलिक व्यवस्थाओं को आज सर्वथा बालबुद्धियों तक के आक्षेप-प्रत्याक्षेप सुनने पड़ रहे हैं। क्या ही अच्छा हो, हमारे ये अभिभावक अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर इस ओर दृष्टि डालें, एवं भारत के बचे खुचे वैभव को सुरक्षित रखने का गौरव प्राप्त कर अमरकीर्त्ति के भागी बनें। परमात्मा इन्हें ऐसी ही बुद्धि दे यही मङ्गल-कामना करते हुए पुनः पाठकों का ध्यान उसी प्रक्रान्त सामाजिक-व्यवस्था की ओर आकर्षित किया जाता है।

आक्रमणरक्षा और वर्णव्यवस्था—

प्रसङ्ग यह चलरहा था कि, सामाजिक दृष्टि से समाज को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए भी श्रेणीविभाग-मूला वर्णव्यवस्था आवश्यकरूप से अपेक्षित है। राष्ट्र को स्वसमृद्धि के लिए, तथा स्वस्वरूप-रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में--'शिक्षक[१]—रक्षक[२]—उत्पादक[३]—सेवक[४]' इन चार श्रेणि-विभागों की परम आवश्यकता है। इन चारों में क्षत्रिय केवल रक्षक ही है, वैश्य केवल उत्पादक ही है, शूद्र केवल सेवक ही है, परन्तु ब्राह्मणवर्ग शिक्षक होने के साथ साथ रक्षक उत्पादक एवं सेवक भी है। ऐसा होना भी चाहिए, जब कि इतर तीनों वर्गों की मूलप्रतिष्ठा यही वर्ण माना गया है। यही नहीं ब्राह्मण द्वारा सञ्चालित रक्षा-उत्पादन-सेवा कर्म्म क्षत्रिय वैश्य-शूद्रों द्वारा सञ्चालित रक्षा-उत्पादन-सेवा कर्म्मों से कहीं विशेष महत्त्व रखते हैं। तभी तो ब्राह्मण को प्रजापति का 'मुख' माना गया है। पहिले ब्राह्मण द्वारा होनेवाली रक्षावृत्ति की ही मीमांसा कीजिए।

राष्ट्र पर, किंवा राष्ट्रीय मानववर्ग पर क्या क्या आक्रमण होते हैं ? पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए। 'मनुष्य क्या है' ? इस प्रश्न का उत्तर है-'अध्यात्म-अधिदैवत अधिभूतभावों' की समष्टि'। मनुष्य संस्था से सम्बन्ध रखने वाले ये ही तीनों भाव क्रमशः—'कारणशरीरोपलक्षित मनःप्रधान, अतएव ज्ञानमय-आत्मग्राम' — सूक्ष्मशरीरोपलक्षित, प्राणप्रधान, अतएव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्रियामय-देवग्राम[२]'—'स्थूलशरीरोपलक्षित, वाक्प्रधान, अतएव अर्थमय-भूतग्राम[३]' इन नामों से भी प्रसिद्ध है, जैसा कि 'आत्मपरीक्षाखण्ड' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। आत्मग्रामोपलक्षित कारणशरीर, देवग्रामोपलक्षित सूक्ष्मशरीर, एवं भूतग्रामोपलक्षित स्थूलशरीर, इन तीनों शरीरों की समष्टि ही 'मनुष्य' है। सर्वोपरि स्थूलशरीररूप 'भूतग्राम' का वेष्टन है, एवं यही आधिभौतिकप्रपञ्च है। इसके भीतर इसका आधारभूत सूक्ष्मशरीररूप 'देवग्राम' प्रतिष्ठित है, एवं यही 'आधिदैविकप्रपञ्च' है। सर्वान्तरतम, सर्वप्रतिष्ठारूप, कारणशरीरात्मक 'आत्मग्राम' प्रतिष्ठित है, एवं यही 'आध्यात्मिकप्रपञ्च' है। इन तीनों संस्थाओं को 'प्रपञ्च' इस लिए कहा जाता है कि, प्रत्येक संस्था के पांच पांच पर्व हैं। आत्मा भी पांच हैं, देवता भी पांच हैं, एवं भूत भी पांच ही हैं। इसी पञ्चभाव के कारण इन्हें प्रपञ्च कहा गया है, एवं इसी समुदाय के कारण प्रत्येक को 'ग्राम' शब्द से व्यवहृत किया गया है। इन तीनों प्रपञ्चों से अतीत, अतएव 'माण्डूक्य'परिभाषानुसार 'प्रपञ्चोपशम' नाम से प्रसिद्ध (माण्डूक्योपनिषत् ७।) तुरीय तत्त्व (चौथा तत्त्व) 'पुरुषात्मा' है। यह पुरुषात्मा बर्णमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। न उसका कभी कुछ बनाव होता, न उस का कभी कुछ बिगड़ता ही। यह द्वन्द्वातीत तत्त्व किसी की रक्षा की अपेक्षा नहीं रखता। अपितु उसी की स्वल्पमात्रा ले लेकर अन्य प्रपञ्च रक्षा करने का अभिमान किया करते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, मनुष्य संस्था में त्रिगुणातीत, किंवा द्वन्द्वातीत—'पुरुषात्मा[१]', पांच 'गुणात्मा', पांच 'देवता[३]' पांच 'भूत[४]' इन चार विवर्त्तों की सत्तासिद्ध हो जाती है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

मनुष्यसंस्थापरिलेखः—

पुरुषात्मा—साक्षी
तुरीयः—प्रपञ्चोपशमः

आत्मप्रपञ्चः[१]	देवप्रपञ्चः[२]	भूतप्रपञ्चः[३]
१—अव्यक्तात्मा (स्वायम्भुवः)	१—वाक् (अग्निः)	१—पृथिवी
२—महानात्मा (पारमेष्ठ्यः)	२—प्राणः (वायुः)	२—जलम्
३—विज्ञानात्मा (सौरः)	३—चक्षुः (आदित्यः)	३—तेज
४—प्रज्ञानात्मा (चान्द्रः)	४—श्रोत्रम् (दिक्सोमः)	४—वायुः
५—प्राणात्मा (पार्थिवः)	५—मनः (भास्वरसोमः)	५—आकाशः
आध्यात्मम्, कारणशरीरम्, मनोमयः-ज्ञानप्रधानः—'आत्मग्रामः'	अधिदैवतम्, सूक्ष्मशरीरम्, प्राणमयः—क्रियाप्रधानः—'देवग्राम.'	अधिभूतम्, स्थूलशरीरम्, वाङ्मयः—अर्थप्रधानः—'भूतग्राम.'

उक्त तीनों ही संस्थाओं में दोष-संक्रमण अनिवार्य्य है। 'अविद्या[१]-अस्मिता[२]-राग[३]-द्वेष[४]-अभिनिवेश[५]' क्लेशात्मक, क्लेशप्रवर्त्तक ये पांच अविद्यादोष कारणशरीरात्मक आध्यात्मिकप्रपञ्च पर आक्रमण किया करते हैं। इन दोषाक्रमण से आत्मप्रपञ्च की वह स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, जो कि इसे साक्षी-पुरुषात्मा से मिलती है, आवृत हो जाती है। आत्मसंस्था क्रमशः अज्ञानलक्षण मोह अनैश्वर्य्य, आसक्ति, एवं अधर्म्मभावों की अनुगामिनी बनता हुई अशान्त हो जाती है। 'काम[१]-क्रोध[२]-लोभ[३]-मोह[४]-मद[५]-मात्सर्य्य[६]' ये ६ दोष सूक्ष्मशरीरात्मक आधिदैविक प्रपञ्च

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर आक्रमण किया करते हैं। इनके आगमन से शरीर-देवताओं (पञ्चेन्द्रियवर्गों) की दिव्य-कर्म्म शक्ति विलुप्त हो जाती है। परिणामतः इन्द्रियवर्ग सदा क्षुब्ध बना रहता है। प्रज्ञापराध की कृपा से अपनी स्वरूपरक्षा करनेवाले 'हीनयोग-अतियोग-मिथ्यायोग-अयोग' इन चार कुत्सित योगों को अपने मूल में रख कर पनपनेवाले सर्वविध रोग (बीमारियाँ) स्थूलशरीरात्मक आधिभौतिक प्रपञ्च पर आक्रमण किया करते हैं। इनके आक्रमण से शरीरबलरक्षक प्राणाग्नि निर्बल बना रहता है, स्फूर्त्ति उत्क्रान्त हो जाती है, कर्त्तव्य-कर्म्मोत्साह मन्द पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, रोगादि के आक्रमण से स्थूलशरीर अरक्षित रहता है, कामादि के आक्रमण से सूक्ष्मशरीर सन्त्रस्त रहता है, एवं अविद्यादि के आक्रमण से कारणशरीर परामृष्ट रहता है।

मनुष्य की मनुष्यता के विकास के लिए पहिले से (जन्मतः) विद्यमान रहनेवाले इन तीनों दोषों का निकालना आवश्यक है, एवं भविष्य के लिए तीनों का निरोध करना अपेक्षित है, तभी मनुष्य सुरक्षित रह सकता है। और यह त्रिविध-रक्षाकर्म्म एकमात्र ब्राह्मणसमाज का ही प्रातिस्विक कर्त्तव्य माना गया है। वही अपने ज्ञानबल के प्रभाव से इन तीनों दोषों से मानव-समाज की रक्षा कर सकता है। चूंकि रक्षा के अधिकार तीन हैं, अतएव ब्राह्मणोपदेशलक्षण रक्षाशास्त्र भी 'दर्शनतन्त्रत्रयी' की भाँति तीन तन्त्रों में विभक्त हो गया है। स्थूलशरीर का चिकित्सक 'आयुर्वेदशास्त्र' है, सूक्ष्मशरीर का चिकित्सक 'धर्म्मशास्त्र' है, एवं कारणशरीर का चिकित्सक 'दर्शनशास्त्र' है। दर्शनशास्त्र-ज्ञानप्रधान आत्मप्रपञ्च की रक्षा करता हुआ 'ज्ञानप्रधानशास्त्र' है धर्म्मशास्त्र-क्रियाप्रधान देवप्रपञ्च की रक्षा करता हुआ 'कर्म्मप्रधानशास्त्र' है, एवं आयुर्वेदशास्त्र-अर्थप्रधान भूतप्रपञ्च की रक्षा करता हुआ 'अर्थप्रधानशास्त्र' है। इन तीनों ही शास्त्रों का प्रवर्त्तक, किंवा उपदेशक ब्राह्मण ही है। वही अपने त्रिविध उपदेशों से व्यक्तियों के तीनों दोषों को निकाल कर, भावी आक्रमण से इन की रक्षा करता है। इस प्रकार शिक्षक होने के साथ साथ ब्राह्मण 'रक्षक' भी बन रहा है।

उक्त तीनों आक्रमणों का शरीरत्रयी सम्बन्धिनी अन्तरङ्ग-संस्था से ही सम्बन्ध माना जायगा। क्योंकि बाह्यजगत् की दृष्टि से शरीरसंस्था एक अन्तरङ्गसंस्था ही मानी गई है। इस अन्तरङ्गसंस्था पर बाहिर की ओर से दो तरह से आक्रमण और होते हैं, जिनका कि साक्षात् सम्बन्ध (तीनों शरीरों में से) केवल 'स्थूलशरीर' के साथ ही है। उन दोनों बाह्य आक्रमणों को हम 'आधिदैविक आक्रमण-आधिभौतिक आक्रमण' इन नामों से व्यवहृत करेंगे।

'उल्कापात' हुआ, ग्राम के ग्राम नष्ट हो गए। 'भूकम्प' हुआ, नगर के नगर भूगर्भ में विलीन हो गए। इसी प्रकार, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, करकापात, जनपदविध्वंसिनी, आदि आक्रमणों का ईश्वरतन्त्र के साथ, किंवा प्रकृतितन्त्र के साथ ही सम्बन्ध है। इन्हीं आक्रमणों को 'आधिदैविक-बाह्य-आक्रमण' कहा जायगा। इनके सम्बन्ध में राजतन्त्र कुछ नहीं कर सकता। करेगा, परन्तु ब्राह्मण के आदेश से, इसके बतलाए पथ से। इन आक्रमणों की 'पुकार' राष्ट्रीय न्यायालयों में नहीं हो सकती। अनावृष्टि-अतिवृष्टि-करने वाले मेघों पर अदालतों में दावा दायर नहीं हुआ करता। इन आक्रमणों को (क्षत्रिय राजा के सहयोग से) रोक सकता है केवल ब्राह्मण एवं इसका साधन है एकमात्र 'विज्ञानमय-वेदशास्त्र'।

प्रकृतितन्त्र का सञ्चालन करने वाले प्राणदेवताओं की विषमता से प्रकृतिमण्डल क्षुब्ध हो पड़ता है, एवं यह प्राकृतिक क्षोभ ही उक्त आधिदैविक-आक्रमण का कारण बनता है। राष्ट्र का पाप, अनाचार, प्रकृतिविरुद्ध गमन, वर्णाश्रमधर्म्मों का परित्याग, आदि आदि राष्ट्र के कुकृत्य ही (विकृतिरूप मानवसंस्था में रहने वाले प्राण देवताओं से नित्य सम्बद्ध) प्राकृतिक प्राणदेवताओं के क्षोभ के कारण बना करते हैं। विद्वान् ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य होगा कि, वह उन कारणों का अन्वेषण करे, वैज्ञानिक परिवर्त्तनों द्वारा यह पता लगावे कि, किस दोष से प्रकृति का कौनसा प्राणदेवता विकृत हो गया है। पता लगा कर उसकी चिकित्सा करे।

इस प्राकृतिक चिकित्सा का प्रधान साधन वेदसिद्ध 'यज्ञ-कर्म्म' ही है। प्रकृति के (सौरमण्डल के) प्राणदेवता पार्थिव-संस्था के साथ यथानियम सङ्क्रम करते रहते हैं। दोनों का परस्पर आदान-विसर्गात्मक 'प्राहुतां संयोगः'-और 'प्रयुतां संयोगः' हुआ करता है। इसी स्वाभाविक-देवसङ्क्रम कर्म्म का नाम प्राकृतिक नित्य यज्ञ है, जैसा कि पाठक मूलभाष्य के 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गी० ३।१०) इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से देखेंगे। इन प्राकृतिक यज्ञों के आधार पर महर्षियों के द्वारा वैध-यज्ञपद्धतियों का आविष्कार हुआ है। एवं इन यज्ञ रहस्यों का प्रतिपादक शास्त्र ही—'वेदशास्त्र' है, जिसे कि केवल पारायण की वस्तु बना कर ब्राह्मणवर्ग ने अपना सारा महत्व खो दिया है। दर्शनशास्त्र जहाँ ज्ञानप्रधान है, वहाँ वेदशास्त्र विज्ञान-प्रधान है। दर्शनशास्त्र जहाँ आध्यात्मिक प्रपञ्च का, चिकित्सक है, वहाँ वेदशास्त्र आधिदै-

विक आक्रमण का प्रतिबन्धक है। इस प्रकार भारतीय ब्राह्मणवर्ण के द्वारा होनेवाला यह रक्षा कर्म्म 'आध्यात्मिक' (कारणशरीरसम्बन्धी), 'आधिदैविक' (सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी), 'आधिभौतिक' (स्थूलशरीरसम्बन्धी), 'आधिदैविक' (प्रकृतिमण्डलसम्बन्धी), भेद से चार भागों में विभक्त हो जाता है। चारों में यद्यपि प्रकृतिमण्डल सम्बन्धी आधिदैविक आक्रमण को पूर्व में हमने बहिरङ्ग आक्रमण माना है, परन्तु प्राणदेवता की अपेक्षा से इसे भी एक प्रकार से अन्तरङ्ग आक्रमण ही कहा जायगा। क्योंकि प्रकृति के प्राणदेवताओं में कब, क्या विपर्य्यय हो जाता है, यह स्थूलदृष्टि से बाहिर का विषय है। ऐसी दशा में इन चारों को ही हम 'अन्तरङ्गरक्षाकर्म्म' कहेंगे, जिनका कि प्रभु एकमात्र वेदवित् कर्म्मठ ब्राह्मण ही माना गया है।

१—(१)—आधिभौतिक आक्रमण—"अर्थप्रधान स्थूलशरीर सम्बन्धी"
२—(२)—आधिदैविक आक्रमण—"कर्म्मप्रधान सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी" } —व्यक्तिगत
३—(३)—आध्यात्मिक आक्रमण—"ज्ञानप्रधान—कारणशरीर सम्बन्धी"

४—(१)—आधिदैविक आक्रमण—"विज्ञानप्रधान—विश्वशरीरसम्बन्धी" } —सामूहिक

१—(१)—अर्थप्रधानं—आयुर्वेदशास्त्रम्'—शरीरशुद्धिः तदिदं—'भूतरक्षासाधकशास्त्रम्'।
२—(२)—कर्म्मप्रधानं—'धर्म्मशास्त्रम्'—अन्तःकरणशुद्धिः—तदिदं—'देवरक्षासाधकशास्त्रम्'।
३—(३)—ज्ञानप्रधानं 'दर्शनशास्त्रम्—आत्मशुद्धिः—तदिदं—'आत्मरक्षासाधकशास्त्रम्'।
४—(१)—विज्ञानप्रधानं—वेदशास्त्रम्'—प्रकृतिविशोधनम् तदिदं—'प्रकृतिरक्षासाधकशास्त्रम्'।

प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य-आधिदैविक आक्रमण का स्वरूप बतलाया गया। अब एक बाह्य आधिभौतिक आक्रमण और बच जाता है। स्वार्थवश किसी ने किसी की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, किसी ने किसी निरपराध को मार दिया, किसी नीच प्रकृति ने किसी भद्र पुरुष का अपमान कर दिया, किसी ने किसी निर्बल को सताया, हिंस्रक-वन्य-शूकरादि पशुओं ने खेती नष्ट कर डाली, सिंह व्याघ्रादि से समाज का जीवन आपत्ति में पड़ गया, ये सब आक्रमण बाह्य-आधिभौतिक आक्रमण माने जायँगे। शास्ता क्षत्रिय राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने दण्डास्त्र से समाज को इन आक्रमणों से बचावे। इन क्षतभावों से समाज की रक्षा करने के कारण ही वीरभाव प्रधान यह रक्षकवर्ग 'क्षतात्-त्रायते' इस निर्वचन से 'क्षत्रिय' कहलाएगा। जो क्षत्रिय राजा अपने इस रक्षा कर्म्म में उदासीन है, अथवा असमर्थ है यह नहीं, अपितु जो अविवेकी अपनी काम-वासनाओं की पूर्ति के लिए न्यायविरुद्ध विविध प्रकार के कर लगा कर समाज के अबल शोषण को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठता है, वह मदान्ध राजा वेन-रावण-कंस आदि अत्याचारी राजाओं की तरह शीघ्र ही अपने आप नष्ट हो जाता है, अथवा समाज-क्रान्ति इसे भस्मावशेष बना रही है।

उक्त निदर्शनों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, राष्ट्रीय मानवसमाज पर होनेवाले उक्त पाँच आक्रमणों में पूर्व के चार आक्रमणों को रोकना तो ब्राह्मण का प्रातिस्विक कर्त्तव्य है, एवं केवल एक आक्रमण का निरोध करना क्षत्रिय का प्रातिस्विक कर्त्तव्य है। इस प्रकार शिक्षक ब्राह्मणवर्ग अपने शासक वर्ग के आन्तरिक इन चार रक्षा-कर्म्मों का अधिष्ठाता बनता हुआ आधिभौतिक-आक्रमण-रक्षक क्षत्रियवर्ग की अपेक्षा कहीं उच्च स्थान में प्रतिष्ठित है। यही नहीं, क्षत्रिय का यह बाह्य रक्षाकर्म्म भी ब्राह्मण-पुरोधा को अग्रणी बना कर ही सञ्चालित होता है। बिना ब्राह्मण के सहयोग के क्षत्रिय न्यायदण्ड सञ्चालन में भी असमर्थ ही माना गया है, जैसा कि पूर्व के 'मत्रावरुण' प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। इसी प्रकार कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य कर्म्मों के अधिष्ठाता वैश्यवर्ग का उत्पादन-शक्ति भी परम्परया ब्राह्मण के ज्ञानोपदेश पर ही निर्भर है। तीनों उत्पादन कर्म्मों के हानि लाभ बतलाना, देश-काल-पात्र द्रव्यानुसार इन्हें विभक्त करना ब्राह्मणोपदेश का ही अनन्य कर्त्तव्य है। एवमेव शूद्रवर्ग सम्बन्धी शिल्प-कलावर्ग का तात्त्विक बोध भी ब्राह्मणोपदेश पर ही निर्भर है। इस प्रकार कहीं शिक्षारूप से, कहीं पथप्रदर्शनरूप से, कहीं अनुमन्तारूप से शिक्षक ब्राह्मण सबको स्व-स्व चरित्र का रहस्य बतलाता हुआ, विद्याबल से कर्म्मों को प्रशस्तकर्म्म बनाता हुआ 'सर्वम्' बन रहा है। ब्राह्मणवर्ण की इसी सर्वता का स्पष्टीकरण करते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

१—भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा, नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।
—मनुः १।९६

२—ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
—मनुः १।९७

३—उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्म्मस्य शाश्वता।
स हि धर्म्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
—मनुः १।९८

४—ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये ॥
—मनुः १।९९

—सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥
—मनुः १।१००

६—स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥
—मनुः १।१०१

७—तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्य-कव्याभिवाह्याय 'सर्वस्यास्य च गुप्तये' ॥
—मनुः १।९४

८—यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥
—मनुः १।९५

९—एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
—मनुः १।२।२१

वर्णनाम-रहस्य—

ब्राह्मणवर्ण अन्तरक्षा-कर्म्म का अधिष्ठाता है, क्षत्रियवर्ण बहिरङ्गरक्षा-कर्म्म का सञ्चालक है। सेवक शूद्रवर्ण के साथ सद्भाव बनाए रखने वाला वैश्यवर्ण ब्रह्म क्षत्र से परितः सुरक्षित रहता हुआ कृषि गोरक्षा-वाणिज्यकर्म्मों द्वारा देश की आर्थिक समृद्धि का कारण बनता है। जिस राष्ट्र में चारों वर्ण इस प्रकार सुव्यवस्थितरूप से स्व स्व कर्त्तव्य कर्म्मों में प्रवृत्त हैं, वह राष्ट्र कभी अवनत नहीं हो सकता। वैदिक-'शब्दसङ्केतविद्या' के अनुसार इनचारों वर्णों के जो नाम, तथा उपनाम रक्खे गए हैं, उनके रहस्यज्ञान से भी इन वर्णों का तात्त्विक स्वरूप सर्वथा स्फुट हो रहा है। चारों के क्रमशः 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' ये तो नाम हैं, एवं शर्म्मन् —वर्म्मन्—गुप्त—दास' ये चार उपनाम हैं। प्रसङ्गागत इन नामों का भी विचार कर लिजिए। पहिले 'ब्राह्मण' शब्द का ही लीजिए। ब्राह्मण शब्द के तीन निर्वचन हो सकते हैं, यथा 'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः'— 'ब्रह्म अधीते इति ब्राह्मणः'— ब्रह्म जानाति, इति ब्राह्मणः'। ब्रह्म की (मुख्यस्थानीय, अतएव मुख्य) सन्तान होने से ब्रह्म (वेद) स्वाध्याय से, एवं ब्रह्म (सर्वकारणभूत अव्यय अक्षराबच्छिन्न ब्राह्मण ब्रह्म) के तात्त्विक बोध से, इन तीन कारणों से इस

प्रथम वर्ण को 'ब्राह्मण' कहा जाजाता है। जिस ब्रह्म सम्बन्ध से यह ब्राह्मण बना हुआ है, वह ब्रह्म विश्वप्रपञ्च का अन्तरङ्ग-रक्षक बनताहुआ विश्वात्मक शरीर का 'चर्म्म' है। चर्म्म ही 'शर्म्म' है। अतएव ततसमोनधर्म्मा ब्रह्ममूर्ति ब्राह्मण को 'शर्म्मन्' कहा गया है।

अन्तरङ्ग आक्रमणों से विमुक्त मनुष्य ही सुखी रह सकता है, यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। यही उसका 'शर्म्म' (सुख) भाव है। इस शर्म्मभाव का प्रवर्त्तक अन्तरङ्गरक्षक ब्राह्मण ही माना गया है। अतएव इसे शर्म्मन्' इस उपनाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। जिस राष्ट्र में ब्राह्मणवर्ण स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, उस राष्ट्र की प्रजा सुखी है, समृद्ध है। जहाँ का ब्रह्म बल उच्छिन्न हो गया, वह समाज वैभवशून्य है, नष्टप्राय है। समाज, किंवा राष्ट्र एक 'शरीर' है। अन्तरङ्ग आक्रमणों से चर्म्म (चमड़ा) ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर की रक्षा किया करता है। उधर ब्राह्मण भी अन्तरङ्गरक्षक बनताहुआ 'चर्म्म' स्थानीय बनाहुआ है। ब्राह्मणवर्ग समाजरूप शरीर का 'चर्म्म' है। वैदिक भाषा (देवभाषा, 'छन्दोभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्ध वेदभाषा (जिसका व्यवहार भौमदेवताओं में होता था) में चकार के स्थान में शकार का उच्चारण प्रचलित है। मनुष्य अपनी मानुषी भाषा में जिसे 'चर्म्म' कहते हैं, देवता अपनी देवभाषा में उसे 'शर्म्म' कहते हैं। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

'अथ कृष्णाजिनमादत्ते—'शर्म्मासि' इति। 'चर्म्म' वा एतत् कृष्णस्य। तदस्य तन्मानुषं, 'शर्म्म, 'देवत्रा' इति।
(शत० ब्रा० १।१।४।१)।

पौर्णमासेष्टि में हविर्द्रव्य को कूटने के लिए उलूखल के नीचे कृष्णमृगचर्म्म (काले हरण का चमड़ा) बिछाया जाता है। हविर्द्रव्य देवताओं का अन्न (आहुती) बनाने वाला है। देवता यज्ञसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। उधर सामान्य पार्थिव प्रदेश भूत-भाग की प्रधानता से अयज्ञिय है। ऐसी दशा में यदि उलूखल (ऊखल) को जमीन पर रख कर हविर्द्रव्य कूटा जायगा, तो कूटनक्रिया से इधर उधर उछला हुआ यज्ञिय हविर्द्रव्य जमीन पर गिर कर अयज्ञिय बन जायगा, एवं ऐसा होना यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए अनिष्ट का कारण होगा। इसी आपत्ति से बचने के लिए कृष्णमृगचर्म्म 'ऋग्वेद का 'शिल्प' (प्रतिकृति—नकल) होने से साक्षात् यज्ञमूर्ति है। उछल कर उस पर गिरा

१ कृष्णमृगचर्म्म वेदत्रयीरूप कैसे है ? इसे यज्ञिय पद व किस आधार पर माना गया ? एक 'चर्म्म' होते पर भी महर्षियों ने इसे क्यों पवित्र मान लिया ! इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' का उक्त प्रकरण ही देखना चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुआ हविर्द्रव्य यज्ञसीमा के भीतर ही रहेगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'अध्वर्यु' नाम का ऋत्विक 'शर्म्मासि' (यजुः सं० १।१४) यह मन्त्रभाग बोलता हुआ कृष्णमृगचर्म्म का ग्रहण करता है। मन्त्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, "यह मनुष्यभाषा में सम्बोधित होने वाला कृष्णमृग का 'चर्म्म' है। परन्तु देवभाषा में इसे 'शर्म्म' कहा जाता है। चूंकि यज्ञ एक देवसंस्था है, अतः इसमें मनुष्य-भाषा सम्बन्धी 'चर्म्म' शब्द का प्रयोग न कर देवभाषा सम्बन्धी 'शर्म्म' शब्द का प्रयोग किया गया है"।

यही 'शर्म्म' शब्द आगे जाकर 'सुख' का वाचक बन गया है, जैसा कि—'शर्म्मसात् सुखानि च' (अमर १।४।२५) इत्यादि कोश वचन से स्पष्ट है। सचमुच चर्म्म सुख को साधन बना हुआ है। क्योंकि यही शरीर का वेष्टन है। चर्म्म सुखसाधक बनता हुआ सुखरूप है, अतएव लोकभाषा में यह किंवदन्ती प्रचलित है—'अपने अपने चोले में—(चर्म्मवेष्टन में) सब सुखी हैं, मगन रहु चोला'। ब्राह्मण क्यों ब्राह्मण तथा 'शर्म्मा' कहलाया ? इस प्रश्न का यही मौलिक समाधान है।

'क्षत्रस्यापत्यम्'—'क्षतात्–त्रायते' ये दो निवचन क्षत्रिय शब्द के हैं। प्रकृति में प्राणतत्त्व (इन्द्रात्मक प्राणतत्त्व) ही क्षत्र है, एवं क्षत्रिय इसी का अपत्य है। प्राणतत्त्व[1] ही क्षतभाव से हमारा त्राण किया करता है, अतएव तत्सम नधर्म्मा क्षत्रिय का भी यही कर्म्म बनता है। प्राणबल के आधार पर ही बाह्य आक्रमणों से बचाव किया जाता है। अतएव तद्युक्त क्षत्रिय भी बाह्य आक्रमणों से ही समाजरूप शरीर का त्राण करता है। जिस प्रकार 'चर्म्म' अन्तरङ्ग रक्षक है, वैसे वर्म्म (कवच) बहिरङ्ग आक्रमणों से शरीर को बचाता है। समाज शरीर पर होनेवाले बहिरङ्ग आक्रमणों को रोकना चूंकि क्षत्रिय का कर्म्म है, अतएव वर्म्मस्थानीय (कवचस्थानीय) क्षत्रिय के लिए 'वर्म्मन्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'विशति-भूमौ, अर्थ-सम्पन्नो' ही वैश्य शब्द का निवचन है। अर्थसंग्रह में दत्तचित्त रहने के कारण ही इसे 'वैश्य' कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसका मूल उपादान 'विड्द्रव्य' बतलाया गया है। विड् अन्नसम्पत्ति ब्रह्म-क्षत्र का भोग्य पदार्थ है। विड्रूप वैश्य भोग्यरूप[2] से ब्रह्म क्षत्र सीमा में प्रविष्ट रहता है, इसलिए भी इसे 'वैश्य' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस प्रकार चर्म्म-वर्म्म से उभयथा वेष्टित रहता हुआ शरीर सुगुप्त (सुरक्षित) रहता है, ठीक इसी तरह ब्राह्मण-क्षत्रिय के उभयविध (चर्म्म वर्म्मरूप) रक्षाकर्म्मों से सुरक्षित रहता हुआ वैश्य निर्द्वन्द्व बना रहता है। वैश्य ही समाज का प्रधान शरीर माना गया है, क्योंकि अर्थबल ही राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा है। चूंकि समाजशरीरस्थानीय वैश्यवर्ग शरीर के चर्म्म-वर्म्मस्थानीय ब्राह्मण-क्षत्रियवर्गों से सुगुप्त है, अतएव इसे 'गुप्त' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है।

'आशु-द्रवति' ही शूद्र शब्द का निवचन है। अपने शिल्पादि कर्त्तव्य-कर्म्मों में, एवं सेवाकर्म्म में बिना प्रतीक्षा किए शीघ्र से शीघ्र दौड़ पड़नेवाला वर्ग ही 'शूद्र' है। सेवाभाव में आत्मसमर्पण है। अपने आपका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व न रखते हुए दूसरों की इच्छा का अनुगामी बने रहना ही 'दास' भाव है। शूद्रवर्ग की इसी सेवामूला आत्मसमर्पणवृत्ति को व्यक्त करने के लिए इसे 'दास' नाम से व्यवहृत किया गया है। इन्हीं साङ्केतिक-उपनामों को लक्ष्य में रखती हुई स्मृति कहती है—

१—शर्म्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं, वर्म्मेति क्षत्रसंयुतम्।
गुप्त-दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्य शूद्रयोः॥
—विष्णुः

२—शर्म्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्, राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं, दासः शूद्रस्य कारयेत्॥
—मनुः

३—शर्म्मदेवश्च विप्रस्य, वर्म्मत्राताश्च भूभुजः।
भूतिदत्तश्च वैश्यस्य, दासः शूद्रस्य कारयेत्॥
—यमः

भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपनी दिव्यदृष्टि से प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य का साक्षात्कार किया। बीजरूप से जन्म से ही विद्यमान इस व्यवस्था को परिष्कृतरूप देते हुए समाज को चार भागों में विभक्त किया। एवं यही विभाग लोकवैभववृद्धि का कारण बना, जैसा कि लिखित वचन से स्पष्ट है—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुख-बाहू-ऊरु-पादतः।
ब्राह्मणं-क्षत्रियं-वैश्यं-शूद्रञ्च निरवर्त्तयत्॥

पुनः यह स्मरण कराया जाता है कि इस व्यवस्था का केवल महर्षियों की कल्पना से सम्बन्ध नहीं है। अपितु यह सामाजिक व्यवस्था बीजरूप से स्वयं अव्ययेश्वर द्वारा प्रकट हुई है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ईश्वरीय व्यवस्था कभी अनित्य, एवं एकदेशी नहीं मानी जा सकती। पहिले से ही विद्यमान चारों वर्णों के प्रयोजक 'दिव्य-वीर-पशु मूल'—भावों के प्रवर्त्तक 'ब्रह्म-क्षत्र विट् शूद्र' भावों को वंशानुगत बनाते हुए

---

१ "प्राणो हि वै क्षत्रम्। त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः। प्र क्षत्रमात्रमाप्नोति, क्षत्रस्य सायुज्य, सलोकतां जयति, य एवं वेद"
—शत० ब्रा० १४।८।१४।४।

२ "अन्नं वै क्षत्रियस्य विट्"—शत० ६।१।२।२५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नित्यसिद्ध व्यवस्था को सुव्यवस्थित कर देना ही यहाँ के समाजशास्त्रियों का कर्त्तव्य था।

वर्णभेदमूलक धर्म्मभेद—

समाज, किंवा राष्ट्र की सुसमृद्धि के लिए जहां चातुर्वर्ण्य आवश्यक है, वहाँ इनकी स्वरूपरक्षा के लिए इनके प्रातिस्विक धर्म्म भी भिन्न हीं होनें चाहिएं। प्रकृति भी यही आदेश दे रही है। भिन्न भिन्न प्राकृतिक वीर्य्यों से उत्पन्न भिन्न भिन्न वर्ण कभी समानधर्म के अनुगामी नहीं बन सकते, नहीं बनना चाहिए। वर्णों के भेद से, वर्णप्रजा के अवान्तर श्रेणि-विभागों की अपेक्षा से हमारा सनातनधर्म-सम्राट, 'ब्राह्मणधर्म्म, क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, आश्रमधर्म्म, मनुष्यधर्म्म, स्त्रीधर्म्म, पुत्रधर्म्म, राजधर्म्म' आदि भेद से अनेक भागोंमें विभक्त रहता हुआ अपनी 'सम्राट्' उपाधि को चरितार्थ कर रहा है।

पश्चिमी-शिक्षास्रोत में प्रवाहित हमारे नवशिक्षित वर्ग का कहना है कि, 'इस भारतीय धर्म्मभेद ने, एवं तत्प्रतिपादक भारतीय धर्म्मशास्त्रों नें हीं भारतश्री का अपहरण किया है। यही धर्म्मभेद राष्ट्र को एकसूत्र में बद्ध नहीं होने देता। इसी भेदवाद ने संघठन शक्ति को छिन्न भिन्न बना रक्खा है। और इन सब उत्पातों की जड़ है पुराणकाल'। विशुद्ध वैदिक साहित्य की दृष्टि में सब के लिए समानधर्म्म का ही विधान है। एक ही धर्म्म प्रजावर्ग को समानधारा में प्रवाहित रख सकता है। एवं ऐसा अभिन्नधर्म्म ही राष्ट्र-अभ्युदय का कारण बन सकता है।—'यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह शूद्र है, यह चाण्डाल है, यह छोटा है, यह बड़ा है' यह सब केवल कल्पना का कल्पित जगत् है'। न कोई किसी से छोटा है, न कोई किसी से बड़ा है। समदर्शी ईश्वर के प्राङ्गण में सब समानरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतः सबको साथ मिल कर एक ही नियम से चलना चाहिए। सब का खानपान, विवाह आदि सब कुछ समानरूप से होनें चाहिएं। स्वयं वेद भगवान् ने भी भेदभावविरहित, स्पृश्यास्पृश्य की विभीषिका से एकान्ततः मुक्त, एकधर्म्म, किंवा समानधर्म्म के अनुगमन का ही आदेश किया है। देखिए ?

१—सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीमस्तु, मा विद्विषावहै॥

२—सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

३—समानो मन्त्रः, समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि॥

४—समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति॥

५—यदेवेह-तदमुत्र, यदमुत्र-तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति॥

६—ब्रह्म वेदं सर्वं, नेह नानास्ति किञ्चन॥

७—विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि, हस्तिनि।
शुनि चैव, श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः॥

८—अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

देखा, और खूब देखा। "अगर समझे तो यह समझे कि अबतक कुछ नहीं समझे" को सर्वात्मना चरितार्थ करनेवाले इन वेदभक्तों नें तो वेदभक्ति की सीमा का ही उल्लंघन कर डाला। परमार्थतः शास्त्रों पर अणुमात्र भी निष्ठा न रखनेवाले इन वैडालव्रतिकों नें (ऐसे ऐसे वेदवचनों को आगे करते हुए) मुग्ध जनता को व्यामोह में डालते हुए आज 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को अक्षरशः चरितार्थ कर रक्खा है। इनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए आवश्यक है कि, पहिले ईश्वरीय-प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थधर्म्म-भेदों का दिग्दर्शन कराया जाय, एवं अनन्तर वर्णधर्म-भेद के साथ इस पदार्थधर्म्मभेद का समन्वय किया जाय। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से धर्म्म शब्द निष्पन्न हुआ है। यद्यपि 'शब्दशास्त्र' (व्याकरण) की दृष्टि से धर्म्म शब्द के- धरतीति धर्म्मः'—'ध्रियते इति-धर्म्मः' ये दोनों हीं निर्वचन हो सकते हैं। परन्तु इन दोनों व्युत्पत्तियों में प्रकृत के धर्म्मविचार प्रकरण में हमें—'धरतीति धर्म्मः' इस प्रथम व्युत्पत्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

धारणार्थक इस धर्म्म के 'कर्म्म', एवं 'संस्कार' भेद से दो विभाग मानें जा सकते हैं। जिन धर्म्मों का हम अनुष्ठान करते हैं, वे सब कर्म्मरूप, किंवा क्रियारूप धर्म्म कहलाएंगे। इन कर्म्मरूप धर्म्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण में एक प्रकार का वह अतिशय उत्पन्न होता है जोकि अन्तर्जगत में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ लौकिक-पारलौकिक सद्भावों का प्रवर्त्तक बना करता है। कर्म्मात्मक धर्म्म से उत्पन्न इस अतिशयात्मक धर्म्म को ही संस्काररूप धर्म्म माना जायगा। कर्म्मरूप धर्म्म हो, अथवा अतिशयरूप धर्म्म हो, दोनों की प्रतिष्ठा आधार चूंकि धर्म्मी ही बनता है, धर्म्माचरण करनेवाला ही तो कर्म्मात्मक धर्म्म का आलम्बन बनता है, एवं यही संस्कारात्मक धर्म्म का अधिष्ठान बनता है, अतएव इन दोनों ही दृष्टियों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से 'ध्रियते असौ धर्म्मः' इस निर्वचन के अनुसार दोनों को ही 'धर्म्म' कहेंगे।

पहिले क्रियात्मक धर्म्म को लेकर ही धर्म्म का विचार कीजिए। क्रियाभेद से इस क्रियात्मक धर्म्म के 'धर्म्म—अधर्म्म' नामक दो भेद हो जाते हैं। कितनी हीं क्रियाएं (कर्म्म) ऐसी हैं, जो अपने आश्रित पदार्थ के स्वरूप का नाश कर डालतीं हैं। एवं कितने एक कर्म्म अपने आश्रित की स्वरूप-रक्षा के कारण बनते हैं। जो क्रियात्मकधर्म्म धर्म्मीपदार्थों के नाशक होंगे, उन सब धर्म्मों को अधर्म्म' रूप धर्म्म कहा जायगा एवं जो क्रियात्मकधर्म्म धर्म्मीपदार्थों के स्वरूप रक्षक होंगे, उन्हें धर्म्मरूप माना जायगा।

उदाहरण के लिए शरीर को ही लीजिए। शरीर में होनेवाली अन्नादान-लक्षणा क्रिया जहां शरीररक्षा का कारण बनती है, वहां विसर्गरूपाक्रिया स्थितिनाश का हेतु बन रही है। दोनों हीं विरुद्ध क्रियाएं यद्यपि धर्म्मी पदार्थ से ही धृत हैं, और इस दृष्टि से पूर्वोक्त 'धर्म्मिणा ध्रियते–इति धर्म्मः' लक्षण के अनुसार दोनों हीं विरुद्धक्रियाओं को 'धर्म्म' शब्द से ही व्यवहृत किया जा सकता है, तथापि अन्नादलक्षणा क्रिया चूंकि धर्म्मी की स्वरूपरक्षा कर रही है, एवं अन्नविसर्गलक्षणक्रिया धर्म्मी के स्वरूपोत्क्रान्ति का कारण बन रही है, अतः—'ध्रियते-इति धर्म्मः इस लक्षण की उपेक्षा कर--'धर्म्मिणं-धरतीति धर्म्मः' इसी लक्षण को स्वीकार किया जायगा। 'यत् स्याद् धारणसंयुक्तम्' ही धर्म्म का धर्म्मत्व है। इसीलिए कर्तृप्रधान व्युत्पत्ति ही हमें मान्य है। विसर्गक्रिया धर्म्मी की धृति उखाड़ फेंकती है, अत वह 'धरतीति' मर्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। अतएव च वह 'ध्रियते' के अनुसार 'धर्म्म' पदवाच्य बनती हुई भी 'धरति' की मर्यादा से सर्वथा 'अधर्म्म' रूपा ही माना जायगा। वह क्रियात्मक धर्म्म धर्म्म माना जायगा, जोकि धर्म्मी से ध्रियमाण रहता है, ध्रियमाण बन कर धर्म्मी को धारण करता है, एवं अपने धृतिधर्म्म से धृति का स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखता है। फलतः धर्म्म का निम्न लिखित लक्षण हमारे सामने उपस्थित होता है—

'ध्रियमाणः सन् धरति, स्वयं धर्म्मिणा ध्रियते,
धर्म्मिणं च स्वस्वरूपेऽवस्थापयति यः, स धर्म्मः।'

उक्त लक्षण धर्म्मतत्त्व 'स्वाभाविक', 'आगन्तुक भेद से दो भागों में विभक्त है। स्वाभाविकधर्म्म 'स्वधर्म्म' है, आगन्तुकधर्म्म 'परधर्म्म' है। स्वधर्म्म सदा अभयस्थान है, परधर्म्म कदा कदा भयावह भी बन जाया करता है। इन दोनों धर्म्मों में स्वाभाविक-स्वधर्म्म ही धर्म्मी वस्तु का 'स्वरूप' (स्व-रूप, अपनारूप, अपनापन) कहलाएगा। 'अग्नि' एक धर्म्मी पदार्थ है। इस प्राणाग्नि में जब प्रकाशधर्म्मा इन्द्र, एवं तापधर्म्मा वैश्वानर, दोनों अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तो यह प्राणाग्नि भूताग्निरूप में परिणत हो जाता है। एवं इस भूतदशा में ताप और प्रकाश, दोनों इसके स्वरूपधर्म्म बन जाते हैं। इन दोनों स्वरूपधर्म्मों को पृथक् कर देने पर धर्म्मी भूताग्नि का कोई रूप शेष नहीं रहता। एवमेव शैत्य, एवं आप्यायन (तृप्ति) इन दो स्वरूपधर्म्मों को छोड़ कर पानी का भी कोई स्वरूप बाकी नहीं बचता। जिस पदार्थ का स्वरूपधर्म्म जबतक सुरक्षित है, तभी तक वह पदार्थ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। उधर परधर्म्मलक्षण आगन्तुकधर्म्म चूंकि एक वस्तु में अन्यवस्तुओं के सम्बन्ध से आते, तथा जाते रहते हैं, अतएव इन्हें सङ्कटधर्म्म किंवा व्यभिचारी धर्म्म कहा जाता है।

उक्त दोनों धर्म्मों के धर्म्मी से धृत रहते हुए भी, दोनों में स्वभावभूत, स्वधर्म्मलक्षण स्वाभाविकधर्म्म हीं मुख्य माने जायँगे, एवं आगमापायी आगन्तुकधर्म्म गौण हीं कहे जायँगे। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि, ये आगन्तुक धर्म्म तभी तक धर्म्म' माने जायगे, जबतक कि ये स्वधर्म्म के अनुकूल बने रहेंगे। स्वाभाविकधर्म्म को क्षति पहुंचाते हुए ये भी 'धरति' लक्षण कर्तृव्युत्पत्ति से वञ्चित होते हुए अधर्म्म ही माने जायँगे। क्योंकि प्रतिकूलदशा में जाते हुए ये परधर्म्म स्वाभाविकधर्म्मों के नाश के कारण बनते हुए वस्तुस्वरूप को धारण करने के स्थान में वस्तुप्रतिष्ठोच्छित्ति के ही कारण बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए पानी को ही लीजिए। 'आपो द्रवाः स्निग्धाः' इस दर्शनिक सिद्धान्त के अनुसार 'द्रवत्व' पानी का स्वरूपधर्म्म बना हुआ है, और इसी दृष्टि से -'सांसिद्धिकं द्रवत्वं जले' यह नियम बना है। यह स्वरूपधर्म्म 'वरुणाग्नि' की कृपा का ही फल है। 'अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्' (वैशेपिक दर्शन) इस कणाद सिद्धान्त के अनुसार पानी में जो द्रवता (तरलता बहाव) है, वह वरुण तरल) अग्नि के प्रवेश की ही महिमा है। तापधर्म्म वरुणाग्नि का स्वरूपधर्म्म था। वही तापधर्म्म पानी में प्रविष्ट होकर अपने ताप को तरलता में परिणत करता हुआ आज पानी का आत्मलक्षण स्वरूपधर्म्म बन रहा है। यही अग्निधर्म्म का जल के प्रति आत्मसमर्पण है। जो अग्निधर्म्म किसी समय अग्नि का स्वरूपधर्म्म बन रहा था, आज वही आत्मसमर्पणयाग से तरलता में परिणत होता हुआ पानी का स्वरूपधर्म्म बन गया। अब इस धर्म्म की सत्ता में धर्म्मी पानी की स्वरूपरक्षा है, इसकी उत्क्रान्ति में पानी के स्वरूप की उत्क्रान्ति है।

पानी किसी बटलोही में भर कर अंगीठी पर रख दिया जाता है। अग्नि-ताप पानी में प्रविष्ट होने लगता है, पानी गरम हो जाता है। यह 'तापधर्म्म' पानी के लिए आगन्तुक धर्म्म है, एवं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसका उस पानी के साथ 'बाहिर्व्याम' सम्बन्ध है। जब तक यह आगन्तुकधर्म्म पानी के स्वरूपधर्म्म पर कोई आक्रमण नहीं करता, तबतक तो इसे 'आगन्तुक-धर्म्म' ही कहा जायगा। परन्तु आत्यन्तिक इन्धन (ईंधन-काष्ठ) संयोग से प्रबल बनता हुआ यदि यही तापधर्म्म प्रतिकूल अवस्था में परिणत होता हुआ पानी को 'बाष्प' (भाप) रूप में परिणत कर इस का स्वरूप खो देता है, तो उस समय यह आगन्तुक धर्म्म धर्म्म न रह कर अधर्म्म बन जायगा। इसी लिए तो धर्म्मरहस्यवेत्ताओं ने इस आगन्तुक परधर्म्म को 'भयावह' कहा है।

विश्व के जितने भी स्थिर-चर पदार्थ हैं, सब के धर्म्म पृथक् पृथक् हैं, एवं यह धर्म्मभेद ही इनकी मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। जिस दिन यह स्वाभाविक स्वधर्म्म भेद उत्क्रान्त हो जायगा, उस दिन क्षणमात्र में विश्वप्रपञ्च स्मृतिगर्भ में विलीन हो जायगा। जब कि विश्व के मूलतत्त्व (प्राकृतिक पदार्थ) विभिन्न धर्म्मों से नित्य आक्रान्त हैं, तो इन्हीं विभिन्न-धर्म्मा प्राकृतिक पदार्थों को उपादान बनाकर उत्पन्न होने वाले अस्मदादि विकृत-प्राणियों के धर्म्म समान कैसे हो सकते हैं। प्रत्येक की प्रकृति भिन्न, आकृति भिन्न, अहंकृति भिन्न, फिर धर्म्म का अभेद कैसा। कल्पनारसिक जिस धर्म्मभेद को हमारे पतन का कारण समझ रहे हैं, वही धर्म्मभेद हमारे गौरव का कारण बन रहा है।

उदाहरण के लिए हमारे उपासनाकाण्ड को ही लीजिए हमारी देवप्रतिमाएं सैंकड़ों तरह की हैं। उपासक मनुष्य जैसी योग्यता रखता है उस योग्यता के अनुरूप ही देवोपासना का विधान हुआ है। सात्त्विकप्रकृति व्यक्ति कभी राजस-तामसभावों की उपासना में सफल नहीं हो सकता। विष्णु, शिव, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, गणपति, आदि प्रतिमाभेद इसी धर्म्मभेद पर अवलम्बित हैं। भेदवाद को व्यावहारिकरूप प्रदान करते हुए सर्वत्र अभेद दर्शन करना ही हमारे धर्म्म की सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अनेकत्व के आधार पर एकत्व की आराधना करना ही हमारा मुख्य लक्ष्य है। नित्यविज्ञानसहकृत ज्ञानमार्ग ही हमारा श्रेयः-पन्था है। सब स्वधर्म्मलक्षण अपने अपने कर्त्तव्य कर्म्मों में, अपने अपने धर्म्मों में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहते हुए परस्पर सहयोग बनाए रक्खें, यही हमारी राष्ट्रवादिता है, जिसका कि—'सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र ने विश्लेषण किया है। जिस प्रकार परस्पर में सर्वथा विभिन्न धर्म्मों का अनुगमन करते हुए सूर्य-पृथिवी-चन्द्र-वायु-जल आदि प्राकृतिक पदार्थ उस महाविश्वधर्म्म, एवं धर्म्ममूर्तिमहामहेश्वर के लिए समान हैं, ठीक वही लक्ष्य हमारा है। परप्रत्ययनेयबुद्धि पूर्वोक्त जिन वेदप्रमाणों से धर्म्म का अभेद सिद्ध करने चले हैं, उन का तात्पर्य्य क्या है? यह स्पष्ट है।

आत्मदृष्टि से वास्तव में सभी चर-अचर समानधरातल पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु वर्णमूलक व्यवहारकाण्ड में सब विभक्त हैं। इन विभक्तों में उस अविभक्त के दर्शन करना ही हमारा परमपुरुषार्थ है। शास्त्र ने 'पण्डिताः समदर्शिनः' कहते हुए स्पष्ट ही समदृष्टि का प्राधान्य माना है। दर्शन सम, व्यवहार भिन्न, यही रहस्य है। क्योंकि व्यवहार कभी सम होही नहीं सकता। भेदवाद से पलायित होने वाले महानुभावों को पहिले ईश्वरीय सृष्टि के साथ प्रतिद्वन्द्विता करनी चाहिए, जहां कि पदे पदे भेदवाद पनप रहा है। अवश्य ही अभिन्नधरातल पर प्रतिष्ठित विभिन्न धर्म्मभेदभिन्न-सनातनधर्म्म ही हमारे कल्याण का अन्यतम मार्ग है। दूसरे शब्दों में वर्णप्रवर्त्तक-देवभेदमूलक, वर्ण भेद, तथा धर्म्म भेद ही कल्याणकर है। जिस धर्म्मभेद को हानिप्रद घोषित किया जा रहा है, उस धर्म्म भेद का परित्याग ही प्रत्यक्ष में हमारी अवनति का मूल कारण सिद्ध हो रहा है, यह कौन बुद्धिमान स्वीकार न करेगा?

अस्तु, धर्म्मभेद हानिकर है अथवा लाभप्रद? इस सम्बन्ध में विशेष विस्तार अनपेक्षित है। यहां तो हमें ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले उसी धर्म्म का विचार करना है, जो कि वर्णों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं-यद् धर्म्मः' (शत० १४) कहते हुए वेदभगवान् स्पष्ट ही चातुर्वर्ण्य धर्म्म की भिन्नता, मौलिकता, तथा नित्यता, सिद्ध कर रहे हैं। ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व, वैश्य का वैश्यत्व तथा शूद्र का शूद्रत्व, यह 'त्व' लक्षण धर्म्म है क्या पदार्थ? इसी प्रश्न का लोकदृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हुए उसी श्रुति ने आगे जाकर कहा कि,—'सत्य ही का नाम धर्म्म है, धर्म्म का ही नाम सत्य है। धर्म्मलक्षण यह सत्यपदार्थ हृदयभाव से सम्बन्ध रखता हुआ 'अन्तर्य्यामी' की नित्य 'नियति' ही है, जैसा कि पूर्व के 'सत्यानृतविवेक' परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पानी सदा नीचे की ओर ही बहता है, अग्नि सदा ऊपर ही की ओर प्रज्वलित होता है, वायु सदा तिर्य्यक् ही चलता है। पदार्थों का यह नियत धर्म्म, नियत भाव ही सत्य है। जो पदार्थ जिस वर्ग का है, वह अपने अन्तर्यामी की 'नियति' लक्षण नियति मर्य्यादा का ही अनुगामी है, यही उसका सत्यानुगमन है, यही वास्तविक सत्याग्रह है, एवं यही धर्म्म का धर्म्मत्व है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अज्ञानतावश हम स्वयं भी वर्णधर्म्म से विमुख रहें, एवं अभिनिवेश के अनुग्रह से मनमाने सत्य की, मनमाने धर्म्म की कल्पना कर अन्य मुग्ध मनुष्यों को भी सत्यपूत वर्णधर्म्म से च्युत करने का प्रयास करते रहें साथ ही अपने इसी मिथ्याप्रयास को सत्यमार्ग, धर्म्ममार्ग घोषित करने की धृष्टता करते रहें. सर्वोपरि-'हमें अपने अन्तर्य्यामी की ओर से ऐसा ही सत्य आदेश मिला है, यही ईश्वर की इच्छा है' कह कर ईश्वरवादी बननेका दुःसाहस करते रहें, यह तो सत्य-आग्रह नहीं, धर्म्म-आग्रह नहीं, मिथ्या-आग्रह है, अधर्म्म आग्रह है, दुराग्रह है, पतन का मार्ग है। नियति नियति का स्वरूप भी तो वर्णधर्म्म की विकृति से विगड़ जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि, अन्तर्य्यामी की सत्य-नियति आपामर-विद्वज्जन सब में समानरूप से प्रतिष्ठित है। परन्तु स्वस्वरूप से सर्वथा शुभ्र रहने वाला भी सौर प्रकाश जैसे कृष्ण-नील हरितादि दर्पणों के आवरण से तद्रूप बन जाया करता है, एवमेव नियति का यह विशुद्ध सत्यप्रकाश भी वर्णधर्म्म-विरोधी विकर्म्मलक्षण असत् कर्म्माचरण से उत्पन्न होने वाले अविद्यादोषावरणों के मध्य में आ जाने से तद्रूप ही बन जाता है। इस दूषित नियति के अनुशासन को कभी आत्मनियति का अनुशासक नहीं माना जा सकता। यह आवाज नियति की आवाज नहीं है, अपितु दोषों की प्रतिध्वनि है, जिसे कि हमने नियति समझने की भ्रान्ति कर रक्खी है। 'नियति' का बिगड़ना ही 'नियत बिगड़ना' है। जिसकी नियत (नियति-अन्तःप्रेरणा-मन्शा-मानस-प्रेरणा) में फर्क आगया, वह सत्य से वञ्चित हो गया, वह अपना, एवं अपने साथ साथ अपने मुग्ध सहयोगियों का भी सर्वनाश करा बैठा।

दूसरी दृष्टि से धर्म्मभेद की मीमांसा कीजिए। हम (मानवसमाज) ईश्वरीय जगत् के एक स्वल्प अंश हैं। अतः सर्वप्रथम हमें उस ईश्वरीय (प्राकृतिक) धर्म्म का ही अन्वेषण करना चाहिए। देखें वहां अनीश्वरवादमूलक, प्रजातन्त्रानुगत साम्यवाद की प्रतिच्छाया है? अथवा ईश्वरवादमूलक, राजतन्त्रानुगत भेदवाद का साम्राज्य है?

तत्त्वमीमांसा करने पर हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि, 'भेद' का ही नाम विश्व है। उस निरुपाधिक, अद्वय, निर्विकार, अखण्ड, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, केवल 'परात्पर ब्रह्म' के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च क्षणिक क्रिया से नित्य आक्रान्त रहता हुआ परस्पर सर्वथा भिन्नरूप ही है। ब्रह्मातिरिक्त यच्चयावत् पदार्थ विभिन्न धर्म्मों से नित्य आक्रान्त है, जैसा कि पूर्व के 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी तात्त्विक भेद के आधार पर संसरणशील संसार स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। भगवान् सूर्य्य उष्णता लक्षण अपने स्वधर्म्म से अनादि का परिपाक करते हैं, एवं प्रकाशलक्षण स्वधर्म्म से विश्व के चक्षु बने हुए हैं। चन्द्र-देवता 'आप्यायन' लक्षण स्वधर्म्म से ओषधियों को आप्यायित करते रहते हैं, एवं चान्द्रधर्म्म से आप्यायित रहने वाली ओषधियां (अन्न) अपने आप्यायनरूप स्वधर्म्म से पार्थिव प्रजा को आप्यायित करतीं रहतीं हैं। पृथिवी ने धृतिलक्षण अपने स्वधर्म्म के बल पर ही पार्थिवप्रजा का भार वक्षस्थल पर वहन कर रक्खा है। वायुदेवता गतिरूप अपने स्वधर्म्म से ही पदार्थों के प्रवर्ग्यांशों का एक दूसरे पदार्थों में आदान-प्रदान करने में समर्थ हो रहे हैं। पर्जन्यदेवता विकासलक्षण अपने इसी धर्म्म से मेघों में प्रतिष्ठित रहने वाले 'नमुचि' के संकोचलक्षण स्वधर्म्म का नाश कर जलवर्षण कर्म्म में समर्थ बन रहे हैं। निदर्शन-मात्र है। ईश्वरावयवरूप प्रकृतिमण्डल के सम्पूर्ण देवता अपने अपने स्वधर्म के बल पर अपने अपने आधिकारिक कर्म्म का अनुष्ठान करते हुए ही 'विश्वसाम्राज्य' के स्वरूप संवाहक बने हुए हैं।

जाने दीजिए इस 'प्राकृतिक-धर्म्मभेद-मीमांसा' की विस्तृत चर्चा को। इसे अधिक तूलरूप देना व्यर्थ है। हमारा लक्ष्य तो इस समय 'धर्म्म-अर्थ-काम-मोक्ष' नामक चार पुरुषार्थों में से 'धर्म्म' नामक पहिला पुरुषार्थ ही है। चूंकि यह धर्म्म उस तत्त्वात्मक प्राकृतिक धर्म्म से समतुलित है, अतएव तद्भेद में दृढ़तम प्रमाण है। प्राकृतिक धर्म्मों के साथ इन धर्म्मों का ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध समझते हुए ही हमें अपने उद्देश्यभूत पुरुषार्थ-'धर्म्म' का विचार करना पड़ेगा।

जिन कर्म्मों से, जिन वस्तुओं के संसर्ग से, जिन नियमोपनियमों के परिपालन से मनुष्यत्व सुरक्षित रहता है, उन सबका समूह 'मनुष्यधर्म्म' है। एवं मनुष्यता के प्रतिबन्धक कर्म्म-नियमादि इसके लिए 'अधर्म्म' है। एवमेव सभ्यतानुगामी सभ्यों की सभ्यता जिन उपायों से सुरक्षित रहती है, वे सब उपाय सभ्यों के 'धर्म्म' कहलाएंगे, एवं विपरीतभाव अधर्म्म माना जायगा। ठीक इसी परिभाषा के अनुसार जिन कर्म्मों से, जिन व्यवस्थाओं से, जिन आचरणों से तत्तद्वर्णों की स्वरूपरक्षा होगी, वे वे कर्म्मादि उन उन वर्णों के धर्म्म माने जायंगे, एवं विपरीत कर्म्मादि 'अधर्म्म' शब्द से व्यवहृत किए जायंगे। जब कि—'दिव्य वीर-पशु भूत' भावप्रयोजक 'ब्रह्म क्षत्र-विट् शूद्र' चारों भाव सर्वथा भिन्न भिन्न हैं, तो इनके धर्म्म भी पृथक्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पृथक् ही मानने पड़ेंगे। क्योंकि धर्म्मभेद ही अवच्छेदक-मर्य्यादा से धर्मावच्छिन्न धर्म्मिभेद का कारण माना गया है। इन भिन्न भिन्न धर्म्मों से कृतात्मा वर्णों के धर्म्म भी भिन्न भिन्न ही मानना न्यायसङ्गत होगा।

इन वर्णधर्म्मों का महर्षियों ने—'सामान्यधर्म्म—विशेषधर्म्म' भेद से दो भागों में बांट दिया है। 'सत्य-अहिंसा-दया-शौच-इन्द्रियनिग्रह-अमानित्व-अदम्भित्व-अलोभत्व-अमात्सर्य्य-सर्वभूतहितरति' आदि सामान्यधर्म्म हैं। एवं ये चार वर्णों के लिये, दूसरे शब्दों में मनुष्य मात्र के समान हैं, इनके अनुगमन में 'मनुष्यत्व' ही अधिकारसमर्पक प्रमाणपत्र है। इन्हीं को 'आनृशंसधर्म्म' भी कहा गया है। चूंकि इनका लक्ष्य 'मनुष्यत्व' की रक्षा करना है, उधर मनुष्यत्व मनुष्यमात्र के लिए समान धर्म्म है, अतएव इनमें सब समानरूप से अधिकृत हैं।

कहीं कहीं विशेष परिस्थितियों में इन सामान्यधर्म्मों का भी अपवाद हो जाता है। यदि किसी का निरपराध वध हो रहा है, और उस समय यदि हमारे मिथ्या बोलने से उसकी रक्षा हो जाती है, तो उस समय-'सत्यं वै सत्यमेव वदेत्' इस सामान्य धर्म्म की उपेक्षा कर हमें झूंठ बोल देना चाहिये। उस समय 'नानृतं वदेत्' का आवश्यक रूप से अपवाद मान लेना चाहिए[1]। इसी प्रकार—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस सामान्य विधि का -अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि रूप से अहिंसा का भी अपवाद माना गया है। इस यज्ञकर्म्म के अतिरिक्त और भी कई एक स्थल हैं, जिनमें अहिंसा सर्वथा 'अपवाद' बन रही है। एक ऐसा दुष्ट व्यक्ति, जिसकी सत्ता से बहुतों का कष्ट मिल रहा हो, मार देना पुण्य माना गया है। देखिए!

> एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकारिणः।
> बहूनां भवति क्षेमं तस्य पुण्यप्रदो वधः॥

इसी 'अपवाद' के आधार पर महाभारत (वनपर्व) से सिंह-शूकर-व्याघ्रादि हिंस्रक पशुओं की मृगया (शिकार) का आदेश मिला है। इस प्रकार मनुष्य मात्रोपयोगी इन सत्यादि सामान्यधर्म्मों में भी यथावसर परिस्थिति के अनुसार अपवाद होते रहते हैं। इस अपवाद रहस्य को न जानने के कारण ही आज कितने एक सज्जन यह कहते सुने गए हैं कि, "यह शास्त्र कैसा, जो कहीं अहिंसा को श्रेष्ठ बतला रहा है, तो कहीं हिंसा का विधान कर रहा है। दोनों में से कौनसा आदेश सच्चा माना जाय"। इनके परितोष के लिए यही कहना पर्य्याप्त होगा कि 'धर्म्म' एक 'सुसूक्ष्म' तत्त्व है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धादि भावों के समन्वय के तारतम्य से ही धर्म्मव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। परोक्षतत्त्वमूला इन धर्म्मव्यवस्थाओं के सम्बन्ध में शब्दशास्त्र के निर्णय के अतिरिक्त और कोई दूसरी गति नहीं है।

जिस प्रकार सामान्य धर्म्म 'मनुष्य सामान्य' के स्वरूप रक्षक हैं, वहां विशेष धर्म्म तत्तद्विशेषवर्णों के ही उपकारक माने गए हैं। सामान्य धर्म्म सामान्यों का धर्म्म है, विशेष धर्म्म विशेषों का धर्म्म है। दोनों धर्म्मों का जहां विरोध आता है, वहां सामान्य धर्म्म की उपेक्षा कर दी जाती है, एवं विशेष धर्म्म को प्रधानता दे दी जाती है। उदाहरण के लिए 'अर्जुन' को ही लीजिए। अर्जुन एक विशिष्ट 'मनुष्य' था, और इसी दृष्टि से इसे मनुष्यत्वानुबन्धी, अहिंसालक्षण सामान्य धर्म्म का अनुगमन करना चाहिए था। परन्तु भगवान् ने अहिंसा-भावपरायण अर्जुन के सामने इसके विशेषधर्म्म (क्षात्रधर्म्म) का महत्व रखते हुए बतलाया कि,—"अर्जुन! तू 'क्षत्रिय' है। क्षत्रियत्व तेरा विशेष धर्म्म है। सामान्य-विशेष की तुलना में विशेष धर्म्म मुख्य है। युद्ध में सम्मुख उपस्थित आततायी शत्रु को बिना संकोच मार देना ही क्षत्रिय का परमधर्म्म है"[1]। इसी स्वधर्म्म लक्षण-विशेषधर्म्म की (सामान्य धर्म्म की तुलना में) महत्ता बतलाया हुआ गीताशास्त्र कहता है—

> १—सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
> २—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
> धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥
> ३—सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
> ४—अथ चेत्त्वमिमं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
> ततः 'स्वधर्मं' कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
> ५—स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।
> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्॥

इसी आधार पर कल्पसूत्रकार अवक्षिप शूद्रवर्ग के लिए वेदाध्ययनादि का प्रबल निषेध कर रहे हैं। इस स्वधर्म्म भेद का विज्ञानकृत धर्म्म भेद के साथ (प्राकृतिक

---

१ 'वर्णिनां हि वधो यत्र, तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म्मभेद के साथ) ही सम्बन्ध समझना चाहिए। प्रकृतिसिद्ध, वर्णभेदमूलक धर्म्मभेद ही 'स्वधर्म्म भेद माना जायगा। यदि किसी ने समय विशेष में उत्पन्न होने वाली विशेष परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए विशेष नियम बना लिए हैं, तो वह धर्म्मभेद मतवाद का आसन ग्रहण करता हुआ कभी शाश्वत-धर्म्म न माना जायगा।

धर्म्मभेदमूलक-आहारादि की विभिन्नता—

समाज की सुव्यवस्था के लिए यदि वर्णव्यवस्था आवश्यक है, तो इस वर्णव्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने के लिए धर्म्म भेद की व्यवस्थिति आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रत्येक वर्ण को किस आधार पर स्वधर्म्म लक्षण अपने अपने वर्ण धर्म्म पर ही प्रतिष्ठित रक्खा जा सकता है? क्योंकि हम देखते हैं कि, निरन्तर उपदेश सुनते रहने पर भी वर्णधर्म्म की ओर हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। सब कुछ सुन सुनाकर भी, शास्त्रीय वर्णधर्म्म का महत्त्व स्वीकार करलेने पर भी उस ओर प्रवृत्ति की इच्छा नहीं होती, इसका क्या कारण? प्रवृत्ति होकर भी क्यों बिगड़ जाती है? इच्छा रहने पर भी क्यों नहीं हम इच्छानुसार वर्णधर्म्म का अनुष्ठान करते?

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में दो समाधान हमारे सामाने आते हैं, एक 'संस्कारात्मक', एवं एक 'अन्नात्मक'। संस्कारात्मक समाधान की 'वर्णाश्रमविज्ञानप्रकरण' के आगे 'संस्कारविज्ञान' नामक स्वतन्त्र प्रकरण में मीमांसा होने वाली है, अतः इसके सम्बन्ध में कुछ भी न कहा जायगा। दूसरे अन्नात्मक समाधान का ही इस परिच्छेद में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायगा।

यद्यपि वर्णधर्म्मों के लिए 'संस्काराभाव' ही महाप्रतिबन्धक माना गया है, परन्तु 'अन्नदोष' को भी इस सम्बन्ध में कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। धर्म्मभेद की रक्षा का 'अन्नभेद' भी एक प्रधान साधन माना गया है। आहार-विहारादि की विभिन्नता पदार्थधर्म्म भेद पर प्रतिष्ठित है, एवं पदार्थधर्म्म भेद की विभिन्नता के आधार पर अनुष्ठेय वर्णधर्म्म भेद प्रतिष्ठित है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि, वर्णानुगतधर्म्मभेद की रक्षा के लिए, हम वर्णधर्म्म से विमुख न हो जायं, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए धर्म्मानुगत आहार-विहारादि का ही अनुगमन आवश्यक है। यदि सब वर्णों के समान ही आहारादि हो जायंगे, तो इस समान आहारादि से निष्पन्न होने वाला वर्णाध्यक्ष भूतात्मा (कर्म्मात्मा) समानलक्षण बनता हुआ कभी धर्म्म भेदभिन्न-वर्ण भेद का अनुगामी न रह सकेगा।

भारतीय धर्म्म के मौलिक रहस्य से लेशमात्र भी परिचय न रखनेवाले कितने एक महानुभावों के श्रीमुख से साभिनिवेश आज यह कहते सुना गया है कि – खानपान का धर्म्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या हमारा धर्म्म ऐसा कच्चा है, ऐसा निर्बल है, जो खान-पान से ही बिगड़ जाय। खान-पान की अगेला, कच्चे पक्के (सकरे-नखरे) का आडम्बर, ये सब निरर्थक कल्पना हैं"। आर्य प्रजा की उस सुसंस्कृत-बुद्धि का ऐसा पतन हो जायगा, यह कल्पना भी न थी। भगवान् जाने इन बुद्धिवादियों ने धर्म्म का क्या लक्षण बना रक्खा है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में यही विश्वास है कि, जब से हमारी अन्नमर्यादा में उच्छृङ्खलता आई है, तभी से हमारी दिव्यशक्तियों का ह्रास आरम्भ हो गया है। सुनते हैं, इसी असदन्नपरिग्रह से 'भीष्म' जैसे धर्म्मज्ञ को भी अधर्म्मरत दुर्योधन की सहायता के लिए बाध्य होना पड़ता था। अन्न ही भूतात्मा का स्वरूप समर्पक माना गया है। खगोलीय सूर्य-चन्द्र शनैश्चरादि ग्रहोपग्रहों की क्रूरदशाओं से तो मनुष्य फिर भी समय पाकर मुक्त हो जाता है, परन्तु महाग्रहलक्षण अन्नग्रह से गृहीत प्रजा का त्राण कठिन है। वेद ने 'ग्रह' तत्त्व की मीमांसा करते हुए अन्न को ही ग्रह माना है। वहां कहा गया है कि—"सूर्य्य एक प्रकार का ग्रह है, क्योंकि इसने अपने उदर में (सौरमण्डल में) सम्पूर्णत्रैलोक्य प्रजा का भोग कर रक्खा है। 'वाक्' ही ग्रह है, वाक् से ही सम्पूर्ण प्रजा गृहीत है, और यह 'वाक्' ग्रह नामात्मक है। हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का ग्रहण वस्तु के नाम से ही होता है, अतः नाम को भी अवश्य ही ग्रह कहा जाता है। (अन्न ही (वास्तव में प्रधान) ग्रह है। अन्नग्रह से ही सब गृहीत हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जो जो व्यक्ति हम से अन्न खा लेते हैं, वे सब इस हमारे अन्नग्रह से गृहीत बनते हुए हमारे अधिकार में आ जाते हैं, एवं उनका अपना आत्म-स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है। यही वास्तविक परिस्थिति है। अर्थात् अन्नग्रह ही सब ग्रहों में प्रधान तथा प्रबल ग्रह है"

एष वै ग्रहः—य एष तपति (सूर्य्यः), येनेमाः सर्वाःप्रजा गृहीताः। वागेव ग्रहः। वाचा हीदं सर्वं गृहीतम्। किमु तद्यद्वाग्ग्रहः? नामैव ग्रहः। नाम्ना हीदं सर्वं गृहीतम्। किमु तद्यन्नामग्रहः? बहूनां वै

नोमानि विज्ञाय नस्तेन तेन गृहीता भवन्ति । अन्नमेवग्रहः । अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् । तस्माद्यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति । एषैव स्थितिः । (सिद्धान्तपक्ष)

— शत० ब्रा० ४।६।५ ।

सभी आहार समानधर्म्म वाले हों, यह बात नहीं है । कितने ही भोग्यपदार्थ सत्त्वगुणप्रधान बनते हुए ज्ञानशक्तिप्रवर्द्धक हैं, कितने ही रजोगुण-प्रधान बनते हुए क्रियाशक्ति के उत्तेजक हैं, कितने ही रजस्तम:-प्रधान बनते हुए अर्थशक्ति के उपोद्बलक हैं । इधर वर्णसम्प्रदाय में सत्त्वप्रधान ब्राह्मणवर्ण ज्ञानशक्ति का, रजःप्रधान क्षत्रिय क्रियाशक्ति का एवं रजस्तमः प्रधान वैश्य अर्थशक्ति का अनुगामी है । तीनों का सेवक तीनों भावों से उत्क्रान्त है । जिसकी मस्तिष्क-शक्ति जितनी अधिक विकसित रहेगी, उसकी उपदेशशक्ति भी उसी अनुपात से विकसित रहेगी । इसी प्रकार युद्धकर्म्म सहोबलोपेत (साहसयुक्त) हृदयबल की अपेक्षा रखता है । फलतः जिस क्षत्रिय के हृदय में जितना अधिक सहोबल होगा, वह अपने यशोवीर्य्य विकास में उसी अनुपात से सफल होगा ।

उक्त गुण-शक्ति-वीर्य्यादि विवेक से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, उपदेशशक्तियुक्त एक ब्राह्मण के लिए मस्तिष्कशक्ति के संरक्षक, तथा वर्द्धक सात्त्विक आहार-विहारादि ही उपयोगी बनेंगे । रक्षक क्षत्रियवर्ण के लिए हृदयबल संरक्षक सात्त्विक-राजस आहार-विहारादि ही उपयुक्त माने जायंगे । वैश्यवर्ण के लिए अर्थशक्तिसंरक्षक राजस-तामस आहार-विहारादि ही उपकारक सिद्ध होंगे । एवं शूद्र अच्छन्दस्क होने से वर्णत्रयी का उच्छिष्ट भोगी बनता हुआ यथाकाम, यथाचार होगा ।

इसके अतिरिक्त अब हमें यह भी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि अपने प्रातिस्विकरूप से सर्वथा सात्त्विक रहता हुआ भी अन्न तत्तत्प्रकृतिप्रधान तत्तद्व्यक्तियों की आत्मसीमा में प्रविष्ट होता हुआ, अपने प्रातिस्विक सात्त्विकगुण से अभिभूत होता हुआ तत्तत्प्रकृति-गुणों से युक्त हो जाता है । ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, अथवा वैश्य हो, यदि वह शास्त्रविरुद्ध पथ का अनुगामी है असद्वृत्ति से यदि वह धनोपार्जन करता है तो उसके प्रातिस्विक दिव्यभाव इस वृत्तिदोष से दूषित हो जाते हैं, वर्णधर्म अभिभूत हो जाता है । ऐसे वर्णों के अधिकार में रहनेवाली अन्नादि सम्पत्ति भी दूषित ही बनी रहती है । क्योंकि— 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार भोग्यसम्पत्ति में सम्पत्ति के अधिष्ठाता का आत्मा विभूतिरूप से प्रतिष्ठित रहता है । इसी आधार पर धर्म्मशास्त्रों ने सूतकान्न परिग्रह निषिद्ध माना है [१] । अतएव उन वर्णियों के अन्न परिग्रह से भी अपने आपको बचाना चाहिए, जो कि वर्णी असद्वृत्ति से धनोपार्जन कर रहे हैं ।

अन्नाहुति ग्रहण में भी कुछ एक विशेष नियमों का ध्यान रखना आवश्यक है । अपवित्र स्थान में, असमय में, अव्यवस्थित ढंग से, अतिभोजन से, इत्यादि दोषों से सात्त्विक अन्न भी तामस बन जाया करता है । स्वयं भोज्यपदार्थों की परिपाक-सम्बन्धिनी अवस्थाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है । घृत-तैलादि पदार्थ संक्रमण-भाव के प्रतिबन्धक माने गए हैं । कारण यही है कि, वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि का ही नाम 'घृत' है, एवं वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र का ही नाम 'तैल' है । अग्नि तापधर्म्मा है, इन्द्र प्रकाशधर्म्मा है । एवं ताप-प्रकाश के साथ 'विद्युत्' का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । दूसरे शब्दों में 'विद्युत्-ताप-प्रकाश' तीनों सहयोगी तत्त्व हैं । तापलक्षण अग्नि, एवं प्रकाशलक्षण इन्द्र दोनों तत्त्व विद्युत् के सहयोग से ही वरुणदोषों के संक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं ।

वरुण जलीय देवता है, अतएव जो अन्न केवल जल-सम्मिश्रण से सम्पन्न होगा, उसमें वारुण भाग की प्रधानता रहेगी । वायुमण्डल में वारुणवायु का साम्राज्य है । वारुणवायु में तमोगुणवर्द्धक वरुणप्राणप्रधान आप्य असुरतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है । सजातीयाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार यह प्राकृतिक आसुरदोष इस वारुण अन्न के साथ सम्बन्ध करता रहता है । यही कारण है कि, केवल जलपक्व अन्न अधिक देर तक पड़ा रहने से नीरस बन जाता है, उसका अमृतभाग उच्छिन्न हो जाता है, मर्त्य आसुरभाग व्याप्त हो जाता है । दिन में सूर्य की सत्ता रहती है । अतएव सौर इन्द्रप्राण के सहयोग से दिन में वरुण का संयोग प्रबल नहीं बनने पाता । परन्तु सूर्यास्त होते ही वारुणी-रात्रि के सहयोग से वरुणाक्रमण को स्वतन्त्रता मिल जाती है । फलतः रात का बासी भोजन दूसरे दिन तो सर्वथा ही आसुरभावयुक्त बन जाता है, जैसा कि 'यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्' इत्यादि गीता सिद्धान्त से स्पष्ट है ।

१ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'श्राद्धविज्ञान' अन्तर्गत 'आशौचविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वारुण प्राकृत दोष के अतिरिक्त जलपक्व अन्न को छू देने से भी छूने वाले दोष अन्न में संक्रान्त हो जाते हैं। हैं। यद्यपि यह ठीक है कि, जल में गोंदे हुए आटे की रोटी का अग्नि से भी परिपाक होता है, एवं ऊपर घृत भी लगाया जाता है। परन्तु यह घृताग्नि-सम्बन्ध सर्वथा बहिर्य्याम है। और ऐसा बहिर्य्याम सम्बन्ध सांक्रमिक भावों को रोकने में असमर्थ है। अतएव केवल जलीय अन्न को **'सांक्रमिक अन्न'** माना गया है, जिसके लिए कि आज लोकभाषा में **'सकरा'** शब्द प्रयुक्त हो रहा है। ऐसे अन्न को रक्षापूर्वक, मर्य्यादागृह (चौके) में बैठ कर, स्वयं शुचिभाव में परिणत होकर ही आत्मसात् करना चाहिए।

जिन अन्नों का परितः-घृत-तैल से सम्बन्ध करा दिया जाता है, वे अन्न पूर्वोक्त विद्युत् सम्पर्क से दोषावह नहीं बनते। न उनमें यातयामता आती, न वारुणदोषों के आक्रमण का ही कोई असर होता। इसने भी जातिभेद मानना ही पड़ेगा। विशुद्ध दुग्ध के पदार्थों, एवं अन्नपदार्थों में भी तारतम्य रहेगा, जो कि तारतम्य तत्तत्पदार्थों के वैय्यक्तिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है। चांवल को ही लीजिए। पयःपक्व, घृतपक्व, केवल बहिरङ्ग अन्न फलवत् ग्राह्य है, परन्तु चांवल अग्राह्य है। कारण स्पष्ट है। चांवल विशुद्ध वारुणान्न है। अतएव जलाधिक्य में ही इसका प्रभव होता है। इस सांक्रामिक वारुणभाग की प्रधानता से घृतादि का सम्पर्क भी इस उक्त दोष-संक्रमण से नहीं बचा सकता। फलत क्षीरान्न (खीर) भी जलीयान्नवत सांक्रामिक ही मानी जायगी। वक्तव्य यही है कि, घृततैलयुक्त अन्न संक्रमणभाव से निगत माने जायँगे, एवं इनकी आहुति में मर्य्यादागृहादि का विशेष प्रतिबन्ध न होगा। निष्कर्ष यह निकला कि, चाहे जिस किसी का अन्न खाना निषिद्ध, चाहे जहाँ बैठकर खाना निषिद्ध, चाहे जिस समय खाना निषिद्ध, चाहे जितना (अमर्य्यादित) खाना निषिद्ध। इसी अन्नमर्य्यादा से हम अपने वर्णधर्म्म की रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। दृष्टि तो डालिए उन भूसुरों के कान्तिशून्य मुखारविन्दों पर, जिन्होंने असदन्नपरिग्रह लेते लेते अपने ब्राह्मण्य का सर्वथा पराभव कर डाला है।

हम यह मानने से इन्कार नहीं करते कि, लशुन-गृञ्जन पलाण्डु आदि से भौतिक शरीर का यथावसर उपकार होता है। परन्तु यह भी सिद्ध विषय है कि, तमोगुणप्रधान ये सब पदार्थ आत्मगत ब्रह्मवीर्य्य (ज्ञानशक्ति) के अन्यतम शत्रु हैं। जिन्हें आसुरज्ञान, आसुरबल, क्षणिक विज्ञान, तथा विद्युद्भूतोन्नति ही अपेक्षित हो, वे सानन्द इन तामस पदार्थों का सेवन करें, परन्तु दिव्यज्ञानोपासक, लोकवैभव के साथ साथ आत्मवैभव का अनन्यपक्षपाती एक भारतीय ब्राह्मण तो इन्हें त्याज्य ही मानेगा। यही अवस्था मद्यादि इतर तामस पदार्थों की समझिए। इन्हीं सब गुणतारतम्यों के आधार पर धर्म्माचार्य्यों ने खान-पान के सम्बन्ध में दृढतम नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा है। 'खान-पान से हमारा क्या बिगड़ गया? अथवा क्या बिगड़ेगा'? इन प्रश्नों के समाधान के लिए तो वर्तमानयुग का अव्यवस्थित, शक्तिशून्य, उत्पथगामी, कान्तिशून्य हीनवीर्य्य प्रजावर्ग ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिन महानुभावों की इस सम्बन्ध में यह धारणा है कि, "खानपान का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, इनका केवल शरीरपुष्टि से सम्बन्ध है। अतएव जो पदार्थ शरीर के लिए हितकर हों, उनके ग्रहण में कोई आपत्ति नहीं है"। उनके परितोष के लिए यही कहना पर्य्याप्त होगा कि, जब हम अतिभोजन कर लेते हैं, तो शरीरयष्टि तो शिथिल हो ही जाती है, साथ ही में स्नायुतन्तुओं में प्रवाहित ज्ञानधारा भी मन्द पड़ जाती है। कारणशरीररूप आत्मा, सूक्ष्मशरीररूप इन्द्रियवर्ग, एवं स्थूलशरीररूप भौतिक शरीर, तीनों का त्रिदण्डवत् 'अन्योऽन्याश्रित' भाव है। एक दूसरे में संक्रान्त हुए बिना नहीं रह सकते। फलतः अन्नदोष से आत्मा कभी नहीं बच सकता। देखिए, श्रुति इस सम्बन्ध में क्या कहती है—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, यामध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः। तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि, यो मध्यमः सा मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्। अन्नमयं हि सौम्य! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्'।

—छन्दोग्यउपनिषत् ६।५।१-२-३-४ कं०।

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'

बृहदारण्यकोपनिषत्।

इस प्रकार उक्त श्रुतियां आत्मा को अन्न-अप्-तेजोमय बतलाती हुई स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर रही हैं कि, आहारादि का आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। भुक्तान्न चान्द्रसोम की प्रधानता से सौम्य है, आन्तरिक्ष्य वायु के प्रवेश से वायव्य है, एवं पार्थिव मृद्भाग के समावेश से पार्थिव है। इन तीन उपादानों को लेकर ही अन्न का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप निष्पत्ति हुई है। 'रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र' यह सप्तधातुसमष्टि अन्नगत पार्थिवभाग से सम्पन्न होती है, यही स्थूलशरीरात्मक (आत्मा का) वाक्भाग है। सप्तधातुप्रतिष्ठालक्षण 'ओज' अन्नगत आन्तरिक्ष्य वायु से सम्पन्न होता है, यही सूक्ष्मशरीरात्मक (आत्मा का) प्राणभाग है। सर्वप्रतिष्ठालक्षण मन अन्नगत दिव्यचान्द्ररस से सम्पन्न होता है, यही कारण-शरीरात्मक (आत्मा का) मनोभाग है। इस प्रकार यही अन्न द्रव्यभेद से सम्पूर्ण आत्मसंस्था की प्रतिष्ठा बना हुआ है। ऐसी दशा में आत्मस्वरूप-रक्षा के लिए आत्मरक्षा-पूर्वक वर्णस्वरूप की रक्षा के लिए, वर्णरक्षापूर्वक वर्णधर्म्म की रक्षा के लिए आहार-विहारादि की (गुणभेदभिन्ना) विभिन्नता अवश्यमेव अनुगमनीय सिद्ध हो जाती है, जिसका कि उपबृंहण स्वयं गीताभाष्य में होनेवाला है।

वर्णव्यवस्था का सामाजिक नियन्त्रण—

मनुष्य 'अनृतसहित' है, और इसके इस स्वाभाविक अनृतभाव के नियन्त्रण के लिए ही कुछ एक ऐसे नियम अपेक्षित हैं, जिनके नियन्त्रण में रहता हुआ यह अपने वर्णधर्म्म का दुरुपयोग न करने लग जाय। प्रकृति के अनुरूप चारों वर्ण व्यवस्थित हुए। "चारों वर्ण अपने अपने कर्म्म में दृढ़ रहते हुए समाज, तथा राष्ट्र का सुचारुरूप से सञ्चलन करते रहें" इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कुछ एक विशेष नियम बनाए गए। अधिकार-प्रदान के साथ ही वर्णों पर ऐसे नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा गया, जिनसे नियन्त्रित रहते हुए ये अपने अधिकार का दुरुपयोग न कर बैठें।

पहिले ब्राह्मणवर्ण को ही लीजिए। ब्रह्मवीर्य्य का अधिकारी ब्राह्मणवर्ण सर्वश्रेष्ठ ज्ञानशक्ति की [illegible] बनता हुआ समाज का मुकुटमणि है। सबसे अधिक प्रतिष्ठा इसी वर्ण की है। मनुष्य जब प्रतिष्ठा की चरम सीमा पर पहुंच जाता है, तो उसे अभिमान के साथ साथ अतिमान हो जाता है। पराभवमूलक इस अतिमान से ब्राह्मण का वह ब्रह्मवीर्य्य हतप्रभ बन जाता है, जिसके कि आधार पर यह समाज की चतुर्विध रक्षा करने में समर्थ बनता है। पराभवमूलक इसी अतिमान दोष से ब्राह्मण को बचाने के लिए इस पर निम्न लिखित नियन्त्रण लगाए गए—

१—सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥
—मनुः २।१६२

२—सुखं ह्यवमतः शेते, सुखं च परिबुद्ध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥
—मनुः २।१६३

३—अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥
—मनुः ६।५७

निष्कर्ष यही है कि, ब्राह्मणवर्ण धनबल, शस्त्रबल, तथा प्रतिष्ठातिमान तीनों से अपने आपको बचाता रहे। यदि ज्ञानबल के साथ साथ इसे धनादि इतर बलों का सहयोग प्राप्त हो जायगा, तो अवश्य ही इसका ज्ञानबल गिर जायगा। शास्त्रोक्त मार्ग से आजीविकामात्र के लिए अर्थपरिग्रह का अनुगमन करता हुआ ब्राह्मण कभी धनादि लिप्सा न रक्खे। क्योंकि लक्ष्मी की अनन्योपासना की महाप्रतिबन्धिका है।

क्षत्रिय के हाथ में शासनदण्ड है। शासन-धन, दोनों के एकत्र समन्वय से भी अनर्थ हो जाने की सम्भावना निश्चित है। अतएव शासक क्षत्रिय के हाथ से अर्थबल खोस लिया गया। साथ ही में इस अपने शासनबल के दुरुपयोग से बचाने के लिए इस पर धर्म्मदण्ड का नियन्त्रण लगाया गया—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद् विचलिते हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥
—मनुः ७।२८

यह भी बहुत सम्भव है कि, वैश्यवर्ग धन सम्पत्ति को अपनी बपौती समझने की भूल करता हुआ उसका सामाजिकव्यवस्था में उपयोग न करे। इसी सम्भावना को निर्मूल बनाने के लिए इस पर ब्रह्म, तथा क्षत्र, दोनों का नियन्त्रण लगाया, साथ ही—'दद्याच्चसर्वभूतानाम-न्नमेव प्रयत्नतः' इस आदेश से आदिष्ट किया गया। इस प्रकार एक दूसरे के पारस्परिक नियन्त्रण से नियन्त्रित रहता हुआ कभी भी कोई भी वर्ण स्वच्छन्द नहीं बन सकता, जिन नियन्त्रणों के शिथिल हो जाने से आज हमारी वर्णप्रजा सर्वथा स्वच्छन्द बन रही है।

कर्म्मणावर्णव्यवस्था, और वादी के १३ आक्षेप—

वर्णोत्पत्ति, वर्णविभाग, वर्णधर्म्म, धर्मभेद, व्यवस्था-नियन्त्रण, आदि रूप से चातुर्वर्ण्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहना चाहिए था, पूर्व परिच्छेदों से गतार्थ है। अब इस व्यवस्था के सम्बन्ध में केवल यह प्रश्न बच रहता है कि,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'वर्णव्यवस्था जन्मना है,' अथवा कर्म्मणा ? । इस प्रश्न के दो अर्थ माने जा सकते हैं । जिन वर्णों को लेकर वर्णसमुदाय को एक सामाजिकरूप दे दिया गया है वे वर्ण जन्मना हैं, अथवा कर्म्मणा ? । अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण उत्पन्न होने के अनन्तर तत्तत् कर्म्मों के अनुगमन से ब्राह्मण-क्षत्रियादि कहलाए, अथवा जन्म से ही ये ब्राह्मण क्षत्रियादि ब्राह्मण-क्षत्रियादि हैं ? एक दृष्टि । चारों वर्णों का व्यवस्थित विभाग जन्मना है, अथवा कर्म्मणा ? यह दूसरी दृष्टि है । दोनों दृष्टियों में से प्रथम दृष्टि का ही प्रकृत में विचार अपेक्षित है । क्योंकि वर्णविभाग आप्तमहर्षियों का कर्म्म है । उन्होंने नित्यसिद्ध वर्णप्रजा को सामाजिक रूप दिया है । चूंकि 'वर्णव्यवस्था,' दूसरे शब्दों में वर्णों का सामाजिकरूप ऋषियों के कर्म्म से सम्बन्ध रखता है, अतः सामाजिकसंघटनात्मिका वर्णव्यवस्था को तो कर्म्मसिद्ध (ऋषि-कर्म्मसिद्ध) ही माना जायगा । फलतः 'वर्णव्यवस्था जन्मना है, अथवा कर्म्मणा ?' इस प्रश्न का जिन वर्णों की यह व्यवस्था है, वे वर्ण जन्म-सिद्ध हैं, अथवा कर्म्म-सिद्ध ?' यह पहिला अर्थ ही प्रधान माना जायगा, एवं इसी अर्थ की दृष्टि से प्रश्न-मीमांसा की जायगी ।

यह प्रश्न हमारी अज्ञानता से आज एक विचित्र पहेली बन रहा है । जब चारों वर्णों का प्रकृति में रहने वाले वर्णदेवताओं के साथ सम्बन्ध है, जब कि स्वयं अव्ययेश्वर इस वर्णसृष्टि के प्रवर्त्तक हैं, तो इसे कर्म्ममूला क्योंकर माना जा सकता है । जो महानुभाव "'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, **गुण-कर्म्मविभागशः**' इस वाक्य के 'गुण-कर्म्म' शब्दों को आगे करते हुए वर्णसृष्टि को कर्म्ममूला सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, उनसे हम प्रश्न करेंगे कि, किन के गुण-कर्म्म विभागों को आधार बनाकर अव्ययेश्वर ने चातुर्वर्ण्य सृष्टि की ? । विचार करने पर उन्हें इस तथ्य पर पहुंचना पड़ेगा कि, सुप्रसिद्ध ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामक वर्णों का गुण कर्म्म यहां अभिप्रेत नहीं है, अपितु इन वर्णों के उपादान कारणभूत 'दिव्य-वीर पशु-मृत' भावप्रवर्त्तक 'ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-' तत्त्वों के गुण-कर्म्म ही यहां गुण-कर्म्म शब्द से अभिप्रेत हैं । जो वीर्य्य जिस गुण कर्म्म से युक्त था, भगवान् ने (स्वयम्भू ने) उस वीर्य्य से उसी वर्ण की सृष्टि की है । दूसरे शब्दों में विभक्त ब्रह्म-क्षत्रादि वीर्य्यों के विभक्त गुण कर्म्मों के आधार पर ही प्रजापति ने वर्णसृष्टि की है ।

क्या आपने 'सृष्टम्' के अर्थ का विचार किया । 'मैंने गुण-कर्म्मानुसार चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया' उक्त वाक्य का यही तो अर्थ है । थोड़ी देर के लिए गुण-कर्म्म शब्दों से ब्रह्म-क्षत्रादि वीर्य्यों के गुण-कर्म्म न मान कर, यदि ब्राह्मण क्षत्रियादि के ही गुण-कर्म्म मान भी ले जाते हैं, तब भी 'सृष्टम्' मर्य्यादा से वर्णसृष्टि का जन्मभाव ही सूचित होगा । 'गुण-कर्म्मानुसार मैंने वर्णों को उत्पन्न किया' का विस्पष्ट तात्पर्य्य यही होगा कि, जिस आत्मा (भूतात्मा) में जैसे गुण-कर्म्म संस्कार थे, उसे मैंने उसी वर्ण में उत्पन्न किया । शुक्र-शोणित के समन्वित रूप में प्रविष्ट होने वाला औपपातिक, कर्म्मभोक्ता, कर्म्मात्मा कर्म्म-गुण संस्कारों के अनुसार हि तत्तद्वर्ण के रजो-वीर्य्यों में आता हुआ तत्तद्वर्णों में जन्म लेता है, यही तात्पर्य्य माना जायगा । यदि किसी उपाय से आप उक्त वचन का यह अर्थ कर डालें कि-"मैंने पहिले तो व्यक्ति उत्पन्न कर दिए, फिर जिस व्यक्ति में जैसा गुण देखा, जिस व्यक्ति का जैसा कर्म्म देखा, उसे उसी गुण-कर्म्मानुसार उसी वर्ण का मानलिया" तब कहीं आप की अभीष्टसिद्धि हो सकती है । परन्तु देखते हैं कि, ऐसा अर्थ कर लेना सर्वथा असम्भव ही है । '**पूर्वं मया सृष्टं, तदनु गुण-कर्म्म-विभागशः चातुर्वर्ण्यं विहितम्**' क्या आप ऐसा सम्भव मान लेंगे ? असम्भव । वहां तो '**गुण-कर्म्मविभागशः-चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**' यह सम्भूति बन रही है । जिसका स्पष्ट ही यही तात्पर्य्य है कि, "मैंने वर्ण- प्रवर्त्तक वीर्य्यभावों के गुण-कर्म्मानुसार, अथवा औपपातिक कर्म्मात्माओं के सांस्कारिक गुण-कर्म्मानुसार ही चातुर्वर्ण्य सृष्टि की" ।

यदि हमारे (मनियों के) गुण कर्म्म ही चातुर्वर्ण्य सृष्टि के आरम्भक होते, तब तो यह व्यवस्था केवल मनुष्यसम्प्रदाय में ही होनी चाहिए थी । परन्तु हम देखते हैं कि, विश्वगर्भ में निवास करनेवाले चर-अचर पदार्थमात्र में चातुर्वर्ण्यविभाग व्यवस्थित है । देवसृष्टि से आरम्भ कर स्तम्बसृष्टि पर्यन्त, सर्वत्र, सब सृष्टियों में ब्राह्मणादि वर्ण विभाग नित्यसिद्ध है । ऐसी परिस्थिति में तो '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**' इस वाक्य को हम विशेषभावापेक्ष मनुष्यवर्ग से सम्बद्ध न मान कर व्यापक वर्णसृष्टिपरक ही मानेंगे । सामान्यरूप से 'चातुर्वर्ण्यं मया०' इत्यादि कहते हुए भगवान् ने यही बतलाया है कि, "मैंने (अव्ययाक्षरगर्भित वाङ्मय क्षरब्रह्म ने ही) वर्णप्रवर्त्तक ब्रह्म-क्षत्रादिभावों के विभक्त गुण-कर्म्मों के आधार पर विश्व में वर्णसृष्टि की है" । फलतः चातुर्वर्ण्यसृष्टि का जन्ममूलत्व ही प्रामाणिक बन रहा है ।

यद्यपि विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। तथापि हम देखते हैं कि, बिना विस्तार के विषय का यथावत स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। फिर उस युग के लिए तो यह विस्तारक्रम और भी आवश्यक हो जाता है, जिस (वर्तमान) युग में अपनी ओर से कुछ भी प्रयास करने की न तो प्रवृत्ति ही है, एवं न समय ही। अतएव विस्तारभय की उपेक्षा कर प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में विशद मीमांसा करना अनिवार्य्य बन जाता है। हमें विश्वास है कि, इस प्रकरण के सम्यक् अवलोकन से यह प्रश्न सर्वथा समाहित बन जायगा।

वर्त्तमान युग में वर्णव्यवस्था सम्बन्धी जन्म-कर्म्म विवादों को हम चार भागों में विभक्त मान सकते हैं। इन चारों विभागों के प्रवर्त्तकों, किंवा विचारकों को हम क्रमश: 'सनातनधर्मावलम्बी[१], आर्य्यसमाजी[२], सुधारक[३], तटस्थ समालोचक[४]' इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। ये चारों वर्ग इस सम्बन्ध में अपने क्या विचार रखते हैं? पहिले इसी प्रश्न की क्रमिक मीमांसा कर लीजिए।

(१)—"वर्णव्यवस्था, किंवा वर्णसृष्टि का मानुष-कल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वर्णसृष्टि अनादिकाल से यों ही चली आ रही है। विश्वनिर्म्माता स्वयं जगदीश्वर इस वर्णसृष्टि के आविर्भावक हैं। विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मणवर्ण, बाहू से क्षत्रियवर्ण, ऊरु से वैश्यवर्ण, एवं पादभाग से शूद्रवर्ण उत्पन्न हुआ है। जब कि यह चातुर्वर्ण्यसृष्टि ईश्वरीय है, तो हम (सनातनधर्म्मावलम्बी) अवश्य ही ब्राह्मणादि चारों वर्णों को योनि (जन्म) से ही व्यवस्थित मानने के लिए तय्यार हैं"।

—स० ध०

(२)—"वर्णव्यवस्था वेदसिद्ध है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। परन्तु इसकी मूलप्रतिष्ठा गुण-कर्म्म ही है। वैदिकयुग में जो जैसा कर्म्म करता था, जिसमें जैसा गुण था, वह व्यक्ति उसी वर्ण का मान लिया जाता था। यद्यपि उपलब्ध धर्म्मशास्त्रों में कई एक वचन ऐसे भी मिलते हैं, जिनसे कि इन वर्णों का जन्ममूलत्व सिद्ध हो रहा है। परन्तु ये सब वचन प्रक्षिप्त हैं। स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपनी वैयक्तिक प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने के लिए स्वार्थवश अपनी ओर से (बना बना कर) ऐसे वचनों का धर्म्मग्रन्थों में समावेश कर दिया है। जबतक यह वर्णविभाग गुण-कर्म्मानुगत बना रहा, तबतक देश की समुन्नति होती रही। जिस दिन से इस वर्णविभाग ने 'जन्म' का आसन ग्रहण किया, उसी दिन से भारतवर्ष के पतन का श्रीगणेश हो गया। ऐसी दशा में विशुद्ध वेदभक्तों (आर्य्यसमाजियों) का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वे पौराणिक-कालीन उक्त अविद्या को दूर कर गुण-कर्म्म द्वारा ही वर्णविभाग का प्राधान्य स्वीकार करें"।

—आ० स०

(३)—"जिस समय (वैदिककाल में) भारतवर्ष उन्नति के सर्वोन्नत शिखर पर पहूंचा हुआ था, उस समय 'वर्णव्यवस्था' नाम की कोई कल्पित व्यवस्था न थी। न उस समय वर्णों का झगड़ा था, न स्पृश्य-अस्पृश्य का विवाद था। सब मनुष्य समान श्रेणि में प्रतिष्ठित थे। सबको सब कर्म्मों का अधिकार था। सबकी सम्मिलित ईश्वरोपासना थी। सबके सामाजिक व्यवहार परस्पर ओत-प्रोत थे। सत्य-अहिंसा-अस्तेय, आदि ही उस युग के प्रधान धर्म्म थे। दुर्दैववश आगे जाकर मनुष्यों की बुद्धि नष्ट हो गई, नैतिकबल का पतन हो गया। परिणामत: पौराणिकयुग में व्यक्तिस्वार्थ के प्राधान्य से मतिमन्दों के द्वारा नाशकारिणी वर्णव्यवस्था का जन्म हुआ। जबसे जातिद्वेष-मूला यह वर्णभेद-व्यवस्था प्रकट हुई, तभी से भारतभी का, राष्ट्रीय-संघबल का ह्रास आरम्भ हो गया। इसी कल्पित वर्णभेद से, तथा जातिभेद से राष्ट्रसंघठन के साथ साथ सामाजिक संघठन भी विच्छिन्न हो गया। ऊंच नीच भावों ने जातिद्वेष का बीजवपन कर दिया। अपने आपको सवर्ण माननेवाले उच्चश्रेणि के वर्गों ने असवर्ण जातियों पर ऐसे ऐसे भीषण अत्याचार किए, उन्हें सदा के लिए अपना गुलाम बनाए रखने के लिए ऐसे ऐसे कल्पित शास्त्र (स्मृतियां) बना डाले गए, जिन अत्याचारों, तथा अत्याचार समर्थक धर्म्मग्रन्थों को देख कर सभ्यदेशों के सामने हमें अपना मस्तक लज्जा से अवनत कर लेना पड़ता है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक देशहितैषी का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर इस अनर्थकारिणी वर्णव्यवस्था का समूल विनाश करने का प्रयत्न आरम्भ कर दे। तभी भारतराष्ट्र की उन्नति सम्भव है"।

—सु०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(४)—वेदों में वर्ण व्यवस्था नहीं है, यह बात तो गलत है। वैदिक कालीन सामाजिक, एवं नागरिक लोकनीतियों के अध्ययन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, उस समय समाज को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए अवश्य ही 'वर्ण-व्यवस्था' विद्यमान थी। हां, इस सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, यह व्यवस्था' उस समय विशुद्ध कर्म्मप्रधान ही थी। जाति, किंवा जन्म से इसका कोई सम्बन्ध न था। जो व्यक्ति जैसा कर्म्म करता था, वह उसी वर्ण का मान लिया जाता था। आगे जाकर समाज के कुछ एक बुद्धिमानों ने यह अनुभव किया कि, जब तक यह व्यवस्था व्यक्तिमूल रहती हुई कर्म्मानुगामिनी बनी रहेगी तब तक समाज को भलीभांति संघठन न हो सकेगा। इसी अड़चन को सामने रखते हुए तत्कालीन समाजशास्त्रियोंने इसे वंशानुगत बना डाला। इस प्रकार आरम्भ में कर्म्ममूला रहने वाली यह वर्ण-व्यवस्था आगे जाकर वंशानुगामिनी बनती हुई जन्ममूला मान ली गई"।—त० स०

इन चार विचारकों में से तीसरे (सुधारक) वर्ग के सम्बन्ध में तो हमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है। कारण,इन महानुभावों के अभिनिवेश को दूर करने की शक्ति तो सर्वशक्तिमान् स्वयं जगदीश्वर में भी नहीं है। जिन बुद्धिवादियों ने अपना यह सिद्धान्त बना रक्खा हो कि, "हम जिसे ठीक समझें वह उपादेय; तथा ग्राह्य, अन्य सब कुछ हेय, तथा त्याज्य" तो फिर इन का अनुरञ्जन कौन, तथा कैसे कर सकता है। अपने बुद्धिवाद के आधार पर अपनी स्वतन्त्रप्रज्ञा (असंस्कृतप्रज्ञा) के बलपर ये महानुभाव पहिले से ही अपना एक निश्चित सिद्धान्त बना लेते हैं। एवं इस स्थिर सिद्धान्त को प्रमुख बना कर शास्त्रों पर दृष्टि डालने का अनुग्रह करते हैं। यदि शास्त्रीय वचन इनके इस स्थिर सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ते हैं, तो झटिति इन के मुख से 'प्रक्षेप' शब्द निकल पड़ता है वर्णव्यवस्था सम्बन्धी सैकड़ों प्रमाण शास्त्रों में विद्यमान हैं, स्पृश्यास्पृश्य का पूर्ण विवेक शास्त्रों में सुव्यवस्थित है। परन्तु इन विद्वानों की दृष्टि में स्वसिद्धान्त विरोधी के सब शास्त्रीय वचन प्रक्षिप्त बन रहे हैं। और अपनी इस 'प्रक्षिप्तवृत्ति' को सुरक्षित रखने के लिए कहा यह जाता है कि, "मूलसाहित्य में ऐसे वचनों का सर्वथा अभाव था। ये तो स्वार्थियों द्वारा पीछे से मिला दिए गए हैं'।

प्रकरणारम्भ में भी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सत्यज्ञान के सम्बन्ध में शब्दप्रमाण के अतिरिक्त निर्भ्रान्त साधन दूसरा नहीं है। शब्दशास्त्रों में भी स्वतःप्रमाणलक्षण वेदशास्त्र की नित्य-निर्बाध-निर्भ्रान्त प्रामाणिकता तो सभी को सदा से मान्य है। जो महानुभाव इस वेदप्रामाण्य में भी 'नच नुच' करने लगें, बतलाइए! उनका परितोष किस आधार पर किया जाय? यही इस सम्बन्ध में हमारे लिए एक जटिल समस्या है। मानने-मनवाने के सौ रास्ते हैं। परन्तु जिन्होंने "नहीं मानने, नहीं मानेंगे, नहीं मानना चाहिए" इस वाक्य को अपना मूल मन्त्र बना लिया हो,उन्हें कैसे सत्पथ का अनुगामी बनाया जाय? अथवा छोड़िए, इस उलझन को। ससार में ऐसी भी अनेक जातियां हैं जो वेदमार्ग पर निष्ठा नहीं रखतीं। हम समझ लेंगे, देश के दुर्भाग्य से हमारे देश में, हमारे समाज में, भी एक ऐसे अवान्तर विभाग ने जन्म ले डाला। **'काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः'** सर्वश्री उदयनाचार्य के इन शब्दों में हम अपने इन सुसम्बन्धियों के लिए भगवान से केवल यह प्रार्थना ही कर सकते हैं कि, भगवान् आप ही इन्हें ऐसी बुद्धि-प्रदान करें, जिस से ये अपना स्वरूप समझें एवं पतन के मार्ग से अपने आप को बचावें।

अब एक सनातनधर्म्मावलम्बी के सामने समाधान के लिए दो वर्ग बच जाते हैं। दोनों ही वर्ग वर्णव्यवस्था की वैदिकता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वर्णसृष्टि को वे जन्मसिद्ध मानने के लिए तय्यार नहीं है। वर्णसृष्टि जन्मसिद्ध क्यों नहीं मानी जा सकती? क्यों इसे गुण-कर्म्ममूला ही मानना चाहिए? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उनकी ओर से हमारे सामने निम्न लिखित १२ विप्रतिपत्तियां उपस्थित होती हैं।

(१)—वर्णसृष्टि को जन्मसिद्ध मानना सर्वथा असङ्गत है। जन्मसिद्ध वही सृष्टि मानी जाती है, जिसके कर्त्ता स्वयं जगदीश्वर होते हैं। मनुष्य-अश्व-गो-वृषभ-मृग-पक्षी-कृमी-कीट आदि वर्ण (जातियां) ही जन्मसिद्ध हैं। क्योंकी इनके प्रवर्त्तक स्वयं ईश्वर प्रजापती हैं। आदिपुरुष जगदीश्वर के लिए सम्पूर्ण विश्वक्षेत्र समान है। वह नितान्त समदर्शी है। भारतवर्ष में रहने वाले मनुष्यों को ही ईश्वर ने उत्पन्न किया है, यह कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? उसकी दृष्टि से तो जो स्थान भारतवर्ष का है, वही स्थान वही महत्त्व अफ्रिका, अमेरिका, युरोप, आदि इतर भूखण्डों का है।

(क्रमशः)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१० वें पृष्ठ का शेष)

हँसते कृतज्ञता पूर्वक अपना लेना चाहिए। वही यह करता है। क्योंकि, यह अनुभव करता है कि, इस यथाप्राप्त लाभ के परित्याग से समाज का तो उद्बोधन होगा नहीं, हाँ अपनी हानि प्रत्यक्ष में है। बस इसी हानि के अनुभव से प्रेरित होकर यह निष्ठावान् सदा लाभ का ही अनुगामी बना रहता है। इसी आधार पर तो हमने कहा था कि—'स्वद्रष्टा निष्ठावान् मानव यथाप्राप्त लाभ छोड़ता नहीं, एवं हानि का अनुभव करता है'।

उक्त उदाहरणों से हमें एक तथ्य पर और पहुचना पड़ा। जो भावुक कभी हानि का अनुभव नहीं करता, उसकी सदा हानि ही होती है। एवं जो निष्ठावान् हानि का अनुभव किया करता है, उसे सदा लाभ ही होता रहता है। हानि अखरता है, अखरता ही दुःख है, अतएव भावुक नित्यदुःखी, किंवा आद्यन्त का दुखी: है। लाभ भूमा है, भूमा ही सुख है, अतएव निष्ठावान नित्यसुखी किंवा आद्यन्त का सुखी है। एक समस्या और। नित्यदुःखी भावुक अपनी दुःखावस्था पर आवरण (पर्दा) डालने की चेष्टा में संलग्न रहता हुआ सामाजिक अनुग्रह से ओर वञ्चित रह जाता है। वह भावुक अपने आप को देखना जानता ही नहीं। अतएव वह अपनी दयनीय दुःखद अवस्था को देखता हुआ भी नहीं देखता। यहीं सीमा समाप्त नहीं हो जाती। दूसरे इसे दोषी, दुःखी, न मान बैठे, इसके लिए इसे येन केनाप्युपायेन बाह्य वेशभूषा-रहन सहन में चाकचिक्य का समावेश और करना पड़ता है। यह चाकचिक्य इसके लिए अधिकाधिक दुःखप्रवृत्ति का ही कारण बनता है। उधर नित्य सुखी निष्ठावान् सदा अपनी सहजस्थिति का अनुगमन करता हुआ, बाह्य आडम्बरों से विनिर्मुक्त रहता हुआ समय समय पर सामाजिक अनुग्रह से भी युक्त होता रहता है, एवं अनावश्यक अपव्यय से भी बचा रहता है।

परद्रष्टा भावुक अपने आप को क्यों नहीं देखता, एवं स्वद्रष्टा निष्ठावान की दृष्टि अन्य पर क्यों नहीं जाती ?, इन प्रासङ्गिक प्रश्नों का भी समन्वय कर लीजिए। बतलाया गया है कि स्वद्रष्टा भावुक मानव की अध्यात्मसंस्था में इन्द्रिययुक्त मन का ही प्राधान्य रहता है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मानव के 'ख' (इन्द्रियाँ) बहिर्मुख हैं। इन्द्रियों का रुख बाह्य विश्व की ओर है। फलतः इन्द्रिययुक्त मन बहिर्मुख इन्द्रियों के द्वारा बाहिर की ओर ही अनुगत रहता है। मानसी दृष्टि, मानस अनुभव सदा पराश्रित (बाह्यविषयाश्रित) है। मन कभी स्व (आत्मा) को देख ही नहीं सकता। अतएव मनोभावानुगत भावुक मानव स्वदर्शन में सर्वथा असमर्थ बना रह जाता है। पूर्व परिच्छेदों में यह भी स्पष्ट किया गया है कि स्वद्रष्टा निष्ठावान् मानव की अध्यात्मसंस्था में आत्मयुक्ता बुद्धि की प्रधानता रहती है, जो कि बुद्धितत्त्व उपनिषदों में-'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' के अनुसार आत्मप्रसादयुक्ता विज्ञानबुद्धि ही स्वदर्शन में समर्थ है, अतएव सर्वदर्शन में समर्थ है। यहाँ विज्ञानबुद्धि से वह लौकिक विवेकज्ञान ही अभिप्रेत है, जो अपने आपको प्रधानतया देखा करता है।

दूसरी दृष्टि से भावुकता, और निष्ठातत्त्वों का साक्षात्कार कीजिए। इन्द्रियजन्य ज्ञान के अनुसार चलने वाला मानव भावुक कहलाया है, एवं विवेकज्ञान के आधार पर चलने वाला मानव निष्ठावान् कहलाया है। मनमानी (मनके कथनानुसार) करने वाला मानव भावुक है, बुद्धिमानी (बुद्धि के अनुसार) करने वाला मानव निष्ठावान् है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षानुभूति से प्रभावित होने वाला मानव निष्ठावान् है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षानुभूति से प्रभावित होने वाला मानव भावुक है, विवेकजन्य परोक्षज्ञान (तथ्यज्ञान) से प्रभावित होने वाला मानव निष्ठावान् है। प्रत्यक्षापराध को न सहने वाला मानव भावुक है, प्रत्यक्षापराध की उपेक्षा करने वाला मानव निष्ठावान् है। शिक्षाज्ञानयुक्त मानव भावुक है, सहजज्ञान युक्त मानव निष्ठावान् है। विद्वान् मानव भावुक है, समझदार मानव निष्ठावान है। ज्ञानी मानव भावुक है, मुख मानव निष्ठावान् है। अपने उत्तरदायित्व का अनुभव न करने वाला मानव भावुक है, उत्तरदायित्व को अनुभव करने वाला मानव निष्ठावान् है। गैर जिम्मेवर मानव भावुक है, जिम्मेवर मानव निष्ठावान् है। निश्चित जीविकोपार्जन साधन वाला मानव भावुक है, अनिश्चित जीविकोपार्जन साधन वाला मानव निष्ठावान् है। संघर्षविरोधी-शान्तिपक्षपाती मानव भावुक है, संघर्षानुयायी क्रान्तिपक्षपाती मानव निष्ठावान है। संघर्षविरोधी-शान्तिपक्षपाती मानव भावुक है, संघर्षानुयायी क्रान्तिपक्षपाती मानव निष्ठावान् है। अपने आपको योग्य-पूर्ण समझने वाला मानव भावुक है, अपने आप को अयोग्य अपूर्ण घोषित करने वाला मानव निष्ठावान् है। प्रत्यक्ष के आधार पर निर्णय करने वाला मानव भावुक है, परिस्थिति के आधार पर निर्णय करने वाला मानव निष्ठावान् है। शिक्षा देने के लिए सदा सन्नद्ध रहने वाला मानव भावुक है, शिक्षा प्राप्त करने के लिए सदा सन्नद्ध रहने वाला मानव निष्ठावान् है। अपने भी दोषों को दूसरों का दोष मानने वाला मानव भावुक है, दूसरों के भी दोषों को अपना दोष मानने वाला मानव निष्ठावान् है। परसमालोचक, परदोषदर्शी परनिन्दक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अकर्मण्य मानव भावुक है, स्वसमालोचक, परगुणदर्शी, परप्रशंसक कर्त्तव्यपरायण मानव निष्ठावान् है। अपने आपको उदारघोषित करने वाला अपव्ययी मानव भावुक है; अपने आप को कृपण कहलाने में भी संकुचित न होने वाला मितव्ययी मानव निष्ठावान् है। इस प्रकार लोकदृष्टि के आधार पर अनेक दृष्टियों से भावुकता, तथा निष्ठा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

अब कुछ एक लौकिक उदाहरणों के द्वारा उक्त दोनों भावों का मानव-समाज के साथ समन्वय और कर लीजिए। मानवीय ज्ञानधारा के लौकिक दृष्टि से अभी हम कृत्रिम, सहज, भेद से दो विभाग मानेंगे। बाह्य विषयों के आधार पर, तथा ग्रन्थों के आधार पर सञ्चित किया हुआ ज्ञान 'कृत्रिम' ज्ञान है, इसे ही 'विद्या' कहा गया है, एवं इस विद्या से युक्त मानव को 'विद्वान' कहागया है, जिसे लोकभाषा में हम 'जानकार' कहा करते हैं। अपनी स्वाभाविक अन्त प्रेरणा से, उरज से, स्फुरण से प्रादुर्भूत ज्ञान 'सहज' ज्ञान है. इसे ही 'बुद्धि' कहा गया है, एवं इस बुद्धि से युक्त मानव को 'बुद्धिमान्' कहा गया है, जिसे लोकभाषा में हम 'समझदार' कहा करते हैं। विद्यात्मक कृत्रिमज्ञान, बुद्धयात्मक सहजज्ञान, दोनों का समन्वय कठिन है। यदि सौभाग्य से विद्याबुद्धि का एकत्र समन्वय होजाता है, तो वह मानव अभूतपूर्व मानव बनजाता है। इस अभूतपूर्वता के दो क्षेत्र हैं। यदि दोनों के समन्वय में विद्या का बुद्धि पर प्रभाव होता है, तो वह मानव सिद्ध बन जाता है, एवं ऐसे भावनाप्रधान-निष्ठावान मानव से मानवसमाज का सदा कल्याण ही होता है। यदिदोनों के समन्वय में बुद्धी का विद्या पर प्रभाव हो जाताहै, तो वह मानव बुद्ध्यनुगता महत्त्वाकांक्षा के कुचक्र में फँस जाता है। अपनी इस महत्त्वाकांक्षा लोकैषणा को सफल बनाने के लिए इस मानव को छल-बल-साम-दान-दण्ड भेद-व्याजस्तुति-अर्थ प्रलोभन-आदि असदुपायों का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि बिना इस असदुपायों के मानव की व्यक्तिगतस्वार्थमूला वह महत्त्वाकांक्षा, वह लोकैषणा कभी सफल हो ही नहीं सकती. जिस लोकैषणा का लोकानुरञ्जक इतिहास गताङ्कों में विस्तार से गाया जाचुका है (देखिए मानवाश्रमपाक्षिक-१४, १५ अङ्क)। महत्त्वाकांक्षाकामुक (लोक में अपने आप को बड़ा-प्रतिष्ठित-मानते-मनवाने का इच्छुक) मानव अपने जीवन में ही अपनी इस महत्त्वाकांक्षा को सफल बनाने के लिए व्यग्र रहता है। इस व्यग्रता के कारण इस का अध्यात्मसंस्था सदा क्षोभ-पूर्ण-अशान्त-चिन्तित बना रहता है। यह महत्त्वाकांक्षी, किन्तु निष्ठावान मानव यह भलीभाँति जानता है कि, बिना मानवसमाज के सहयोग के इस की महत्त्वाकांक्षा पूरी नहीं होसकती। इस के साथ ही यह यह भी जानता है कि, मानवसमाज अधिकांश में भावुक होता है, प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला है।

'दूसरों की कमजोरी से लाभ उठाना मानव की सबसे बड़ी बुद्धिमानी है' इस तत्त्व का पूर्ण मर्म्मज्ञ यह महत्त्वाकांक्षी मानवसमाज की स्वाभाविक कमजोरी उसकी भावुकता से अधिक से अधिक लाभ उठाने में अग्रेसर बन जाताहै। फलत: इसे अपने जीवन में उन अभिनयों का, चाकचिक्ययुक्त उन प्रदर्शनों का आश्रय लेना पड़ता है, जिन से भावुक मानव-समाज प्रभावित होकर इस का सहायक बन जाता है। यह हम आगे स्पष्ट करने वाले हैं कि, हिन्दु मानव समाज विशेषरूप से भावुक इस लिए होता है कि, उस की जीविका के साधन निश्चित होते हैं। निष्ठावान् महत्त्वाकांक्षी हिन्दु-मानव की इस कमजोरी का भी पूर्ण ज्ञाता है। अतएव यह इस जीविका-साधन को ही प्रधानरूप से अपना शस्त्र बनाता है। भूखे को भोजन, नग्न को वस्त्र, दुष्ट को दण्ड, प्रतिष्ठित का विविधोपहार, विद्वानों का पूजन, अपने से प्रबल की चापलूसी, अपने विरोधी की निन्दा, आदि उपायों में सतत व्यस्त रहने वाला ऐसा महत्त्वाकांक्षी मानव समाज के अधिक भाग को अपने अनुकूल बना लेता है। और यों प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला मानवसमाज ऐसे महत्त्वाकांक्षी का सहायक बन जाता है। भीष्म-द्रोण-शल्य-कर्ण कृपाचार्य्य आदि भावुक मानवों ने दुष्टबुद्धि दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा-राज्यलिप्सा-अर्थलिप्सा-में क्यों, और कैसे सहयोग दिया ?, इस ऐतिहासिक प्रश्न का यही तत्त्व है। दुर्योधन ने इन सब की भावुकता से लाभ उठाया। पाण्डवों के मामा शल्य एक अक्षौहिणी सेना लेकर पाण्डवों का सहायता करने आरहे थे। दुर्योधन बीच ही में जा पहुँचता है। बड़े आटोप से परोक्षरूप से वह शल्य का आतिथ्य करता है। भावुक शल्य इस प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर कह पड़ते हैं-'जिसने हमें मार्ग में ऐसा सुख पहुंचाया, उसे हम इनाम देना चाहते हैं'। तत्काल दुर्योधन सामने आ खड़ा होता है, और कहता है 'आप का इस अक्षौहिणी सेना के साथ मेरी ओर से लड़ना पड़ेगा वचनबद्धता की भावुकता में पड़े हुए शल्यका ऐसा ही करना पड़ता है। कैसा अनुरूप उदाहरण है। भावुकता पर निष्ठा की पूर्ण विजय है क्या भीष्म-द्रोणादि जैसे तत्त्वज्ञ यह नहीं जानते थे कि, दुर्योधन महादुष्ट है, धर्म्मात्मा पाण्डवों के न्यायसिद्ध अधिकार पर आक्रमण करने वाला है। जानते थे, और खूब जानते थे। परन्तु दुर्योधन की निष्ठा के सामने वे विवश थे। 'मानव अर्थ का दास है' कह कर स्वयं भीष्मने अपनी भावुकता व्यक्त की है। निष्ठावान और फिर भावुक निष्ठावान, नीम और गिलोय चढ़ी। कभी यह स्वार्थसाधन के लिए भावुकता का आश्रय लेता है, तो कभी निष्ठाका।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावुकता के आवेश में आप इस निष्ठावान् को अश्रुपूर्णाकुलेक्षण देखेंगे, आप यह अनुभव करेंगे कि, सचमुच यह तो करुणा की मूर्त्ति है। इधर निष्ठा के आवेश में आप इसे साक्षात् रुद्रमूर्त्ति पाएँगे। इस प्रकार अपनी सहजबुद्धि के प्रभाव से, उपज से दिन-रात में शतशः भाव बदलने वाला उभयनिष्ठ यह महत्त्वाकांक्षी अच्छे-बुरे उपायों से सदा स्वार्थसाधन में संलग्न रहता है। और यही इस दुष्टबुद्धि की सफलता का रहस्य है।

यह तो हुई दुष्टबुद्धि उभयनिष्ठ निष्ठावान् की सामान्य गाथा। अब दो शब्दों में इसी उभयनिष्ठ निष्ठावान् की गाथा का विस्तार भी सुन लीजिए। निष्ठा दृष्टि से दुष्टबुद्धि, तथा सद्बुद्धि दोनों ही मानव समान धर्म्मा हैं, समतुलित हैं। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, दुष्टबुद्धि केवल महत्त्वाकांक्षी है स्वार्थलिप्सा का अनुगामी है। इधर यह सद्बुद्धि आत्मकल्याणाकांक्षी है, स्वार्थलिप्सा का विरोधी है। दुष्टबुद्धि की विद्या बुद्धि की दास है, सद्बुद्धि की बुद्धि विद्या की दास है। दूसरे शब्दों में दुष्टबुद्धि अपने ज्ञान को समझ का अनुगामी बनाए रहता है, एवं सद्बुद्धि अपनी समझ को ज्ञान की अनुगामिनी बनाए रहता है। दुष्टबुद्धि की निष्ठा का केन्द्र विश्ववैभव है, सद्बुद्धि की निष्ठा का केन्द्र आत्मशान्ति-आत्मवैभव है। विश्ववैभव चूंकि मानवसमाज के सहयोग पर अवलम्बित है। अतएव दुष्टबुद्धि को अपनी निष्ठा का आश्रय मानव समाज को बनाना पड़ता है। वह यह अनुभव करता है कि, अपनी श्रद्धा अपने विश्वास के अनुसार स्वार्थमूला अपनी निष्ठा तभी सुरक्षित तथा पुष्पित पल्लवित हो सकती है, जब कि भावुक मानवों का सहयोग प्राप्त हो। भावुक मानवों का सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि स्वार्थसाधनमात्र के लिए उनकी मानी हुई श्रद्धा, उन की भावुकता, उनके विश्वास के अनुरूप ही मैं अपने आपको दिखला सकूँ। फलतः इस निष्ठावान् को भावुक मानव समाज के श्रद्धा-विश्वास के अनुरूप अपनी वृत्तियों में अनेक परिवर्त्तन करने पड़ते हैं। इसे अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए समाज की प्रचलित मान्यता में 'हाँ' करनी पड़ती है। जिस ओर समाज का रुख रहता है, उसी ओर झुक जाना उसकी स्वार्थसिद्धि का द्वार बनता है। हाँ, इस सम्बन्ध में, इस गतानुगतिकता में यह निष्ठावान् सतर्क अवश्य रहता है। यदि किसी मानवविशेष को यह अपनी ओर (सब प्रलोभन देकर भी) झुकाने में असमर्थ रहता है, तो यह उस की इसलिए उपेक्षा कर देता है कि, वह इस की निष्ठा का, अपन्य स्वार्थलिप्सा का स्वयं भी विरोध करता है, साथ ही जो अन्य भावुक इसके समर्थक बने रहते हैं, उन्हें भी वह इसके षड्यन्त्र से परिचित कराता रहता है। यही कारण है कि, दुष्टबुद्धि निष्ठावान यह मानव अपने स्वार्थविरोधी की उपेक्षा कर के ही चुप नहीं बैठा रह जाता। अपितु इस भय से कि, "यह विरोधी मेरे अर्थजाल से मेरे स्वार्थसाधक मोहित अन्य भावुकों को मेरा नग्न स्वरूप बतला कर उन्हें मेरा विरोधी बनाता हुआ मेरे स्वार्थ आक्रमण न कर बैठे" यह दुष्टबुद्धि उस निष्ठावान् विरोधी को मिथ्या कलङ्क लगा कर मानवसमाज की दृष्टि में उसे गिराने का जघन्य प्रयत्न और करता रहता है। कहना न होगा कि, कुछ तो अपनी आर्थिक अवस्था के कारण, कुछ लोकसम्मान के आकर्षण से, कुछ अपनी परोक्षप्रभावमूला भावुकता के कारण दुष्टबुद्धि मानव के इस मिथ्याप्रचार से प्रभावित होकर सदा उसी का अनुगमन करते रहते हैं। वर्त्तमान व्यक्तिनीति, समाजनीति, राष्ट्रनीति, आदि नीतियों के प्राङ्गण में आज ऐसे ही दुष्टबुद्धियों का प्राधान्य है। यही कारण है कि, सद्बुद्धिनिष्ठावानों का आज के क्षेत्र में कोई महत्त्व नहीं है। उनकी सत्यनिष्ठा, उनके सत्योद्गार उनके अन्तःकरण में ही विलीन हो जाते हैं। भगवान् ही जानें, कहाँ तक सच है, सुना गया है कि, कितने एक धनिक सामयिक समाचारपत्रों की नीति (पॉलिसी) मुँह मांगा पैसा देकर खरीद लेते हैं। फल यह होता है कि वे पत्र इन धनिकों की स्पष्ट समालोचना का स्वप्न में भी स्मरण भी नहीं करते, नहीं कर सकते। आस्तां तावत्। कहना इस सन्दर्भ से यही है कि, उभययुक्त महत्त्वाकांक्षी निष्ठावान् एकमात्र महत्त्वाकांक्षा के अनुग्रह से अपने स्वार्थ का अनन्य समर्थक बनता हुआ मानवता के लिए एक भयानक आपत्ति बन जाता है। इसको दया, करुणा, मैत्री, बन्धुप्रीति, राष्ट्रप्रेम, आदि मानवताएँ वहीं तक सुरक्षित रहती हैं, जहाँ तक ये मानवताएँ इसकी स्वार्थमूला महत्त्वाकांक्षा पर चोट नहीं लगातीं। स्वार्थ, और मानवताओं के संघर्ष में यह मानवताओं का सर्वथा परित्याग करता हुआ विशुद्ध राक्षस धर्म्मा ही बन जाता है। यदि इस नीच वृत्ति से इसे अपना स्वार्थ सिद्ध होता प्रतीत होता है, तो नीच से नीच वृत्ति भी इसके लिए उपास्य बन जाती है। उभय समन्वय पक्षपाती, किन्तु स्वार्थी, अतएव दुष्टबुद्धि ऐसे निष्ठावान मानव के जीवन में निराशा के अवसर बहुत कम आते हैं। अधिकांश में इसे सफलता ही मिलती है। यही कारण है कि, ऐसा मानव भावुक-असफल मानवों की अपेक्षा स्वस्थ-दोहरे शरीर का होता है। अपवादस्थलों को छोड़कर ऐसे निष्ठावान प्रायः स्थूलकाय ही मिलेंगे। स्थूलता को स्वयं वेदने भी पाप का ही प्रतीक माना है। मानव स्वभाव का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—"तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यति, अशुभे मेद्यति, विहूर्छति। न ह्यपनाय चन चन भवति। अनृतं हि कृत्वा मेद्यति" (शत० ब्रा० कां० । ४ अ० १ ब्रा० । १ कण्डिका)। श्रुति का अक्षरार्थ यही है कि, "इसलिए मनुष्यों में जो मनुष्य मेदस्वी स्थूलकाय-मोटा-होता है, (विश्वास करो वह अशुभ-पाप-कर्म से ही मेदस्वी बना है। वह मेदस्वी (आत्महत्या)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उदयभ्रष्ट हो जाता है, पतित बन जाता है। उसके समस्त श्रेयः-पन्था अवरुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि निश्चयेन वह अनृतमिथ्या भाषण-(छल-धूर्त्तता) करके ही पुष्ट बनता है।" मानव समाज के उक्त स्वरूप विश्लेषण के आधार पर हमें उभययुक्त (भावना-निष्ठायुक्त) महत्त्वाकांक्षी अतएव दुष्टबुद्धि स्वार्थी लोकदृष्ट्या समृद्धिशाली सफल, किन्तु आत्म-परलोकदृष्ट्या सर्वथा असफल ऐसे स्वस्थ किन्तु असुन्दर मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१—स्वार्थी निष्ठावान् मानव झूँठ कभी बोलता नहीं, सच कभी कहता नहीं, इसलिए वह समाज में बड़ा आदमी माना जाता है।

२—स्वार्थी निष्ठावान् मानव सदा दूसरों की कमजोरी से ही लाभ उठाता है।

३—यह मानव सदा यथाप्राप्त लाभ को अपनाता रहता है, हानि का अनुभव करता रहता है, अतएव इसकी कभी हानि नहीं होती।

४—यह बुद्धिमान भावुक मानव समाज की वर्त्तमान प्रवृत्तियों का अनुगामी बनता हुआ उसकी भावुकता के अनुरूप अपने आपको परिस्थिति के अनुसार प्रतिक्षण बदलता हुआ उसका सहयोग प्राप्त कर लेता है, अतएव सब उसके अनुगामी बने रहते हैं।

५—यह निष्ठावान् अपने स्वार्थ साधन के लिए जहाँ सबका सेवक बना रहता है, वहां स्वार्थ सफलता के अनन्तर यह सब का प्रभु बन जाता है।

६—भावुक समाज के शिष्ट-अशिष्ट, दोनों प्रकार के मानवों को वशवर्त्ती बनाए रखने के लिए यह निष्ठावान् शिष्ट-अशिष्ट, दोनों प्रकार के मानवों के एक समुदाय विशेष (गिरोह) को सत्कार अर्थलोभनादि साधनों के द्वारा सदा अपना दास बनाए रहता है।

७—और यों यह बुद्धिमान निष्ठावान लोकदृष्ट्या सब प्रकार के साधनों से सुसम्पन्न रहता हुआ अपनी महत्त्वाकांक्षा को सफल बनाता रहता है।

सद्बुद्धि निष्ठावान के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न माना जायगा। लक्ष्य सफलता की दृष्टि से सद्-बुद्धि, और दुष्टबुद्धि दोनों समानधर्म्मा हैं। भेद है लक्ष्य में, और लक्ष्यानुगमन प्रणाली में। सद्बुद्धि स्वात्मकल्याणदृष्टि से है तो स्वार्थी ही, परन्तु इसका स्वार्थ केवल स्वार्थ होता है, किंवा इस के स्वार्थ के गर्भ में परार्थ तथा परमार्थ भी गर्भीभूत रहते हैं। धर्म्मनीति, और राजनीति में जो अन्तर है, दुष्टबुद्धि और सद्-बुद्धि के लक्ष्य में भी वही अन्तर है। धर्म्मपथ से धर्म्मिष्ठ का कल्याण होता है, इसके सहवास से आदेशोपदेशों से मानव समाज का भी कल्याण होता है। धार्म्मिष्ठ कभी दूसरों का अहित नहीं चाहता। 'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'—'सर्वे सन्तु निरामयाः' ही इसके जीवन का आदर्श रहता है। दूसरों का लाभ हो, अथवा न हो, उनकी हानि इस धार्म्मिष्ठ से कभी सम्भव नहीं। परार्थ-परमार्थसाधनसहकृता-आत्मोदयमूला नीति ही धर्म्मनीति है। उधर राजनीति का लक्ष्य ठीक इस से उल्टा है। राजनैतिक-दुष्टबुद्धि मानव का स्वार्थ चूंकि आत्म-सम्पत्ति से वञ्चित रहता है, वह केवल लोकैषणा-लोकवैभव का इच्छुक रहता है, अतएव उसके स्वार्थ में परार्थ-परमार्थ का अभाव रहता है। जिस लोकसम्पत्ति की यह इच्छा रखता है, अन्य मानव भी उसके इच्छुक हैं। अतएव उनका दमन किए बिना इसकी महत्त्वाकांक्षा सफल नहीं हो सकती। अतएव च इसे स्वस्वार्थ साधन के लिए दूसरों के स्वार्थ पर आक्रमण करना पड़ता है। 'आत्मोदयः परग्लानिर्नीतिरित्यभिधीयते' के अनुसार दूसरों की हानिकरता हुआ ही यह नैतिक स्वार्थसाधन में सफल होपाता है। राजनीति की इस जघन्यवृत्ति का भारतीय महर्षियों ने पर्य्याप्त अन्वेषण किया था। वे इस के दुष्परिणामों से परिचित थे। अतएव उन्होंने राजनीति को धर्म्म नीति का दास बना डाला था। इतर देशों का धर्म्म जहां राजनीति का दास है, वहां भारतवर्ष में राजनीति धर्म्म का दास रही है। इतर देशों के सम्पर्क से दुर्भाग्य से आज भारतवर्ष में भी राजनीति ने धर्म्म पर आक्रमण कर डाला है, और यही यहां के पतनका मूलकारण है।

अस्तु, कहना यही है कि, सद्बुद्धि उभयनिष्ठ निष्ठावान् मानव की विद्या उसकी बुद्धि पर अनुशासन करती रहती है। विद्या आत्मधर्म्म है, बुद्धि लोकधर्म्म है। विद्यासाधन से वह आत्मकल्याण का अनुगामी बना रहता है, जो आत्मकल्याण 'निःश्रेयस्' कहलाया है। एवं बुद्धिसाधन से वह लोककल्याण का भोक्ता बनारहता है, जो लोककल्याण 'अभ्युदय' कहलाया है। इस प्रकार धर्म्मपथानुगामी सद्बुद्धि उभयकल्याण का भोक्ता बना रहता है। परन्तु.......।

'परन्तु' शब्द इस लिए प्रयुक्त हुआ कि, सद्बुद्धि साधु मानव विद्या—और बुद्धि, दोनों के संघर्ष में विद्या की रक्षा कर लेता है, और बुद्धि की उपेक्षा कर लेता है। दूसरे शब्दों में सर्वावसरों पर उसकी समझ (बुद्धि) लोकानुगत न बन कर आत्मानुगत बनजाती है। निम्नलिखित यों स्पष्टीकरणकीजिए। आत्मकल्याण का विद्या से लोककल्याण (लोकसम्पत्ति का आगमन, और संरक्षण) का बुद्धि से सम्बन्ध है। मानव स्वभावतः दोनों का इच्छुक है। महत्त्वाकांक्षी मानव भी विद्या-बुद्धि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से काम लेता है, एवं आत्मकल्याणाकांक्षी मानव भी दोनों से काम लेता है। पहिला दुष्टबुद्धि है, दूसरा सद्बुद्धि है। सद्बुद्धि को अपेक्षित हैं दोनों, परन्तु दोनों की तुलना में प्रधान स्थान है आत्मकल्याण का। दुर्बुद्धि को भी अपेक्षित हैं दोनों, परन्तु दोनों की तुलना में प्रधान स्थान है लोकसम्पत् का। अतएव दोनों विभूतियों के संघर्ष में आजाने पर सुबुद्धि लोकसम्पत् की उपेक्षा कर देता है दुर्बुद्धि आत्मसम्पत् की उपेक्षा कर देता है। सुबुद्धि जानता है कि, लोकसम्पत् की उपेक्षा करदेने से उसकी जीवनयात्रा सकट में पड़ जायगी। परन्तु फिर भी वह इस लिए इस कष्ट का स्वागत कर लेता है कि, प्रतिफल में उसे वह आत्मशान्ति मिलजाती है, जिसके सम्मुख त्रैलोक्य का भी वैभव तुच्छ है। उधर दुर्बुद्धि भी जानता है कि, आत्मसम्पत् की उपेक्षा कर देने से उसका जीवन अशान्त बन जायगा। परन्तु फिर भी वह इस लिए इस आत्मक्लेश का स्वागत कर लेता है कि, प्रतिफल में उसे वह लोक सम्मान—लोकप्रतिष्ठा (नाम) मिल जाता है, जिसके सम्मुख उसकी दृष्टि में आत्म-शान्ति का कोई महत्त्व नहीं है।

सुबुद्धि महत्त्वाकांक्षी नहीं होता। उसे लोकसम्मान, मान-बडाई की चिन्ता नहीं रहती। नाहीं वह लोकनिन्दा का अनुवर्त्तन करता। दुनिया उसे अच्छा कहे या बुरा, इस की वह चिन्ता ही नहीं करता। वह चुपचाप अपने लक्ष्य का अनुगमन किए जाता है। वह भावुक समाज के प्रचलित श्रद्धा-विश्वास का इस लिए समर्थन नहीं कर सकता कि, उसे इस समर्थन में आत्मपतन का भय बना रहता है। यही नहीं, अपितु घातक रूढिवादों का विरोधी बनता हुआ वह समाज को अपना विरोधी बना लेता है। दुर्बुद्धि के जहां सब सहायक बने रहते हैं, वहां सुबुद्धि के सब विरोधी बने रहते हैं। सुबुद्धि निष्ठावान अग्नि-क्रीड़ा करता हुआ यह कहा जाचुका है कि, अधिकांश में मानव-समाज भावुक होता है। उस का अपना श्रद्धा, अपने-विश्वास का एक कल्पित केन्द्र होता है। वह भावुक मानव समाज उसी का सहयोगी बनता है, जो उसकी कल्पित-श्रद्धा, कल्पित विश्वास का अनुगामी बनता है। महत्त्वाकांक्षी का महत्त्वाकांक्षा की सफलता बहुत अंशों में मानव समाज पर अवलम्बित है। अतएव महत्त्वाकांक्षी को इच्छा न रहते भी उस मानव समाज की हां में हां करनी पड़ती है। इस अनुगति से मानव समाज इस महत्त्वाकांक्षी के अनुकूल बन जाता है। उधर आत्माकांक्षी की आत्माकांक्षा की सफलता स्वयं उसी की दृढनिष्ठा पर अवलम्बित होती है। अतएव वह भावुक समाजकी श्रद्धा-विश्वास का अनुगमन नहीं कर सकता। अपितु समय समय पर भावुक-समाज की मान्यता पर (उसके आत्मकल्याण के लिए) आक्रमण करता रहता है। मानव समाज में जो व्यक्ति आत्मकल्याणेप्सु होते हैं (जिनकी संख्या सर्वथा परिगणित है), वे तो इस निष्ठावान् के सहयोगी बन जाते हैं, शेष भावुक समाज इस आक्रमण को सहने में असमर्थ रहता हुआ, साथ ही अपनी अर्थपूर्ण दोषबुद्धि से इस आक्रमण का वाचिक विरोध करने में भी अपने आपको अशक्त पाता हुआ परिणामतः उस सद्बुद्धि निष्ठावान का विरोधी बन जाता है। इस प्रकार अपनी आत्म-निष्ठा को प्राणपण से सुरक्षित रखने वाले प्रवाहमें न बहनेवाले इस निष्ठावान् का संसार विरोधी बन जाता है। विरोध के परिणाम स्वरूप इस की अपनी आत्मनिष्ठा का तो कुछ नहीं बिगड़ता। परन्तु जिस आत्मनिष्ठा का जिन बाह्यसाधनों से यह मानव समाज में उसके कल्याण के लिए प्रचार करना चाहता है, उस का यह बाह्य लक्ष्य अवश्य ही सर्वात्मना सफल नहीं हो पाता, जिस का उत्तरदायित्व इससे कोई सम्बन्ध न रखकर समाज से ही सम्बन्ध रखता है।

यह सिद्धान्त बतलाया गया है कि, निष्ठावान् कभी असफल नहीं होता। नाहीं वह अपनी असफलता का दोष दूसरों के मत्थे मढता। प्रश्न होताहै कि, सद्बुद्धि निष्ठावान् लोकसंग्रह में असफल रहता हुआ अपने बाह्य भी उद्देश्य में यदि असफल रह गया, तो इस सिद्धान्त का क्या महत्त्व रहा? प्रश्न का समन्वय कीजिए। इस निष्ठावान् का मुख्य उद्देश्य है—आत्मकल्याण, न कि लोकसम्पत्ति। यदि वह इस में सफल होरहा है, तो सफल ही माना जायगा। रही बात लोकसंग्रह की। उसके लिए चेष्टा करते रहना मात्र इस का कर्त्तव्य है। प्रयास इसे ऐसा ही करते रहना चाहिए, जिस से भावुक-भी मानव समाज इसका विरोधी न बने। इसके लिए इसे अपने स्पष्ट-सत्य भाषणको प्रिय बनाना पड़ेगा। प्रचलित श्रद्धा-विश्वास पर साक्षात्रूप से आक्रमण न कर परोक्षरूप से आक्रमण करना पड़ेगा। शिष्ट-प्रिय-सत्य-भाषा, सरलजीवन, निरभिमानिता, आदि साधनों के द्वारा भावुक-मानवसमाज का सम्यक् सुरक्षित रखना पड़ेगा। और निश्चयेन इन बाह्य-किन्तु आत्मानुगामी ऋजु साधनों से इसे भावुक-समाज का सहयोग निश्चयेन प्राप्त हो जायगा। हां, दुष्टबुद्धियों का अनुरञ्जन यह त्रिकाल में भी न कर सकेगा। और वे अवश्य ही इसके विरोधी बने रहेंगे। चूंकि आर्थिकस्थितिवश अधिकांश भावुक मानव ऐसे दुष्टबुद्धियों के ही समर्थक बने रहते हैं, अतएव अन्ततो गत्वा सुबुद्धि मानव का सहयोग प्रयास व्यर्थ ही सिद्ध होगा। उदाहरण इसी महाभारत से पूछिए। भगवान कृष्ण का दुष्टबुद्धि दुर्योधन के सहयोग प्राप्त करने का सम्पूर्ण प्रयास व्यर्थ ही गया। और अन्ततोगत्वा पाण्डवों को युद्ध जैसे भयानक काण्डका ही साम्मुख्य प्राप्त करना पड़ा। कौन नहीं जानता, कि कौरव-सेना के प्रमुख योद्धा भीष्म—द्रोण कर्णादि कौरवों की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपेक्षा पाण्डवों पर ही उनकी सद्बुद्धि के कारण विशेष स्नेह रखते थे। परन्तु दुष्टबुद्धि दुर्योधनके अर्थचक्र ने इन सब को अपने पाश में आबद्ध कर रक्खा था। फलस्वरूप किसी स्नेही ने पाण्डवों का इच्छा रहते भी साथ न दिया। अपितु समरभूमि में उन्हीं स्नेही भीष्मादि ने जी भर कर पाण्डवसैन्य का दलन किया। यह तो पाण्डवों का सौभाग्य था कि, उन के संरक्षक स्वयं भगवान् थे। यदि भगवान् का अनुग्रह पाण्डवों को न प्राप्त होता, तो इन की क्या स्थिति होती ?, प्रश्न ही रोमाञ्चकारी है। इस ऐतिह्य उदाहरण से हमें इस तथ्य पर भी पहुँचना पड़ा कि, दुष्टबुद्धि लोग सद्बुद्धि निष्ठावानों के नाश के लिए सदा सज्जीभूत रहते हैं। परन्तु सद्बुद्धियों की दृढनिष्ठा के प्रभाव से स्वयं अन्तर्य्यामी जगदीश्वर उन सद्बुद्धियों की उन दुष्टबुद्धि आततायियों से रक्षा किया करता है।

उक्त तथ्य का उस भावुकता से सम्बन्ध है, जिसका एक-मात्र ईश्वर ही अवलम्ब बना करता है। सच पूछा जाय, तो निष्ठाजगत में, व्यवहार जगत् में, राजनैतिक क्षेत्र में ऐसे तथ्य का कोई महत्त्व नहीं है। पाण्डवों में भावुकता थी। इसी भावुकता में पड़ कर उन्होंने अपना राज्य खोया था। भगवान् कृष्ण पाण्डवों की इस भावुकता के ही विरोधी थे, जैसा कि लेखारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। भगवान् ने युद्धक्षेत्र में पाण्डवों की भावुकता का निराकरण किया, एवं उन में निष्ठा का समावेश किया। यही निष्ठा पाण्डवों के जयलाभ का कारण बनी। स्मरण कीजिए अर्जुनकी उस भावुकता का, जिसने युद्धारम्भ में ही अर्जुन में धर्म्मभीरुता उत्पन्न कर दी थी। 'राम राम ! इस युद्ध में अपने ही बन्धुवर्ग को मार कर क्या मैं पाप का भागी बनूं। नहीं, भगवन् ! नहीं। मैं युद्ध नहीं कर सकता'। गीतोपदेश द्वारा अर्जुन की भावुकता का पलायन हुआ। उसने यह समझा कि, आततायी कोई भी—कैसा भी स्नेही क्यों न हो, उसे मारडालने में ही कल्याण है। आगे चलकर कर्ण के रथचक्र के भूगर्भ में प्रविष्ट हो जाने पर पुनः अर्जुन में भावुकता का उदय होता है। कहने लगता है—भगवन् शस्त्र-शून्य शत्रु पर आक्रमण करना पाप है। कर्ण को पहिले संभल जाने दीजिए। तत्पश्चात् प्रहार करूंगा। भगवान् को पुनः अर्जुन का उद्बोधन कराना पड़ा, तब कहीं जाकर अर्जुन कर्ण पर प्रहार कर सका। द्रोणवध प्रसङ्ग पर 'अश्वत्थामा हतः' रूप से भगवान को युधिष्ठिर की भावुकता पर प्रहार करना पड़ा। दुर्य्योधन-भीम के गदायुद्ध प्रसङ्ग में कटिप्रदेश से नीचे गदा प्रहार का सङ्केत करते हुए भगवान को भीम की भावुकता पर चोट लगानी पड़ी। इस प्रकार पाण्डवों के समस्त जीवन में भगवान उन्हें उनकी नाशकारिणी भावुकता से सचेत करते रहे।

यदि आरम्भ से ही पाण्डव भावुक न होते, तो क्यों महाभारत का प्रसङ्ग उपस्थित होता। यदि युद्धभूमि में भगवान् पाण्डवों की इस भावुकता का विरोध कर उन्हें निष्ठा से कार्य्य लेने के लिए विवश न करते, तो क्या पाण्डव विजयी बन जाते ? । नहीं, सर्वथा नहीं। अतएव हमें कहना, और मानना पड़ेगा कि,—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्, इस निष्ठा सिद्धान्त के अनुसार सद्बुद्धि निष्ठावान् मानव को भी अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु लोककल्याण के लिए अवश्य ही उस दुष्टबुद्धि की ही भांति बुद्धि व्यापार से काम लेना चाहिए वैसे असदुपाय जिन के अनुगमन से इसे आत्मपतन की आशङ्का रहती है, स्वयं न कर उन उपायों के प्रयोक्ता अधिकारियों से वह चिकित्सा करानी चाहिए। 'कण्टकं कण्टकेनैव समुद्धरेत्'-'विषस्य विषमौषधम्' का अनुगमन करना चाहिए। विश्वास कीजिए सद्बुद्धि निष्ठावान थोड़ी सतर्कता से काम लेता हुआ सुन्दोपसुन्दन्याय से दुष्टबुद्धियों का दलन करता हुआ लोकवैभव भी प्राप्त कर लेता है। एवं आत्मकल्याणसाधन भी कर लेता है। दुष्टबुद्धि के पास जहां केवल बुद्धिबल है, वहां सद्बुद्धि के पास बुद्धिबल के साथ साथ विद्याबल भी है। दुष्टबुद्धि यदि अर्थबल से भावुक समाज का सहयोग प्राप्त कर सकता है, तो सद्बुद्धि अपने विद्याबल से, वाणी-बल से भावुक समाज को प्रभावित कर सकता है। संसार को झुकना पड़ता है, झुकाने वाला चाहिए। भगवान् कृष्ण की अवतार मर्य्यादा को थोड़ी देर के लिए छोड़ते हुए उन्हें विशुद्ध मानव मानकर यदि उनके जीवन-स्वरूप पर हम दृष्टि डालते हैं। तो श्रीकृष्ण हमें विशुद्ध निष्ठावान् सद्बुद्धि मानव ही प्रतीत होते हैं बुद्धि की उपेक्षा करने वाले सद्बुद्धि मानव दुष्टबुद्धियों द्वारा सदा सताए गए हैं, सताए जावेंगे। कारण, वे सद्बुद्धि धर्म्मभीरुता—आत्मकल्याण—परलोकसुख—आदि के चक्र में फँसकर केवल विद्याबल को ही प्रधान मान बैठतेहैं, उपेक्षा कर देते हैं उस बुद्धिबल की, जिसके बिना इस लोक में सुख से जीना उन सद्बुद्धियों के लिए कठिन होजाता है। मानवश्रेष्ठ (पुरुषोत्तम) श्रीकृष्ण ने सद्बुद्धियों को यही सिखाया कि, वे अपने अन्तर्जगत् में भावुकता के साथ साथ निष्ठा को भी दृढ मूल बनावें। विद्या के साथ साथ बुद्धि को भी अपनावें। धर्म्म के साथ साथ राजनीति का भी समन्वय करें। श्रीकृष्णने अपने व्यावहारिक जीवन के द्वारा भी इसी बुद्धिनिष्ठा की शिक्षा प्रदान की, एवं अपने सुप्रसिद्ध गीतोपदेश के द्वारा भी—'ददामि बुद्धियोगं तम्'—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'—'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' इत्यादि रूपसे इसी बुद्धियोग निष्ठा का समर्थन किया। देश का दुर्भाग्य है कि, अपनी स्वाभाविक भावुकता में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

State Museum, LUCKNOW.

पड़ कर भारतीय मानव आज श्रीकृष्ण की उस बुद्धियोगनिष्ठा का तत्त्व पुनः भुला चुका है, जिस निष्ठा के जागरूक रहते संसार की कोई भी शक्ति इस देश परतन्त्र न बना सकती थी।

हां तो, अब हमें यह कहना, और मानना पड़ा कि, दुष्टबुद्धि का लक्ष्य जहां केवल लोकवैभव है, वहां सद्बुद्धि का लक्ष्य आत्म-कल्याणानुगत लोकवैभव है। सद्बुद्धि को ही भारतीयभाषा में धर्म्मात्मा कहा गया है। धर्म्मात्मा पूर्ण निष्ठावान् है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी' के अनुसार धर्म्मानुगता चातुरी (धर्म्मसम्मता नीति, नीति सम्मत धर्म्म) धार्मिष्ठ-नैतिक निष्ठावान् को लोक-परलोक, दोनों से मुक्त रखती है। धर्म्मात्मा यदि दुःखी है, तो वह धर्म्मात्मा ही नहीं है। भावुकता में पड़कर धर्म्म अधर्म्म बन जाता है। एवं भावुकतामूलक ऐसा धर्म्म ही अधर्म्म कोटि में आकर दुःख का कारण बन जाता है। निष्ठानुगत अधर्म्म धर्म्म बन जाता है। एवं निष्ठामूलक ऐसा अधर्म्म भी धर्म्मकोटि में आकर सुख का कारण बन जाता है। उदाहरण के लिए 'दया' को ही लीजिए। 'दया' एक धर्म्म है। परन्तु भावुक के लिए यही दया धर्म्म न रहकर अधर्म्म बनता हुई उस दयालु के दुःख के कारण बन जाती है। एक दुष्टबुद्धि मानव जीविकान्वेषण करता हुआ किसी भावुक के देश में पहुँचता है। प्रत्यक्ष में वह दुष्टबुद्धि मानव अपनी ऐसी दयनीय स्थिति प्रदर्शित करता है कि भावुक मानव दयाविभो बन जाता है। इस प्रत्यक्षस्थिति से प्रभावित होकर भावुक इसे आश्रय दे देने की भावुकता कर बैठता है। कालान्तर में इसी का आश्रय पाकर बलवान् बना हुआ वह अतिथि इस दयालु का सर्वस्व उपहरण कर लेता है। इस प्रकार इस भावुक का दया नामक धर्म्म ही निष्ठा के अभाव में कालान्तर में अधर्म्म बनता हुआ इसके नाश का कारण बन बैठता है। ठीक इसके विपरीत निष्ठावान् व्यक्ति के पास यदि कोई वैसा, दुष्ट अतिथि भावप्रदर्शन कर दया भिक्षा चाहता है, तो परिणामदर्शी निष्ठावान् इससे अणुमात्र भी प्रभावित नहीं होता। अपितु उस समय वह दया के ठीक विपरीत अदया-तिरस्कार दिखला कर उसको टाल देता है। फलतः अदयारूप अधर्म्म इसका सामयिक धर्म्म बन कर इस निष्ठावान को भावी सङ्कट से बचा लेता है। सद्बुद्धि निष्ठावान सतर्कता से काम लेता हुआ कभी धोका नहीं खाता। यदि वह कभी असफल हो भी जाता है, तो ईश्वर पर, किंवा समाज पर दोषारोपण नहीं करता। अपितु वह इसे अपनी ही सम्पर्क दोषमूला भावुकता का यह दोष मानता है। और भविष्य के लिए सावधान बन जाता है। निष्ठावान स्वयं अपनी रक्षा आप करता है, वह स्वावलम्बी है, पुरुषार्थी है। दुःख का क्या सामर्थ्य है कि, जो उस के निष्ठाप्राङ्गण में प्रवेश कर सके। वह सदा सुखी रहता है। वह न स्वयं धोका खाता, न दूसरों को धोका देता। उसमें महत्त्वाकांक्षा नहीं, इसलिए वह असदुपायों की उपेक्षा कर देता है। उसे सुखपूर्वक जीवित रहना है, इसलिए वह सदुपायों से लोकसंग्रह सुरक्षित रखता है। संसार की बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा जहां उसे व्यामोह में नहीं डाल सकती, वह बड़ी से बड़ी निन्दा भी उसे प्रभावित नहीं कर सकती। संसार बदलता रहता है, बदलते संसार के साथ उसका सम्बन्ध भी है। परन्तु वह अपने निष्ठारूप अचल है, दृढ पाषाण शिला है। और यही सद्बुद्धि निष्ठावान की कृतकृत्यता है, जिसका राजनीति-गर्भित भारतीय धर्म्मशास्त्रों में मानवधर्म्म' नाम से विस्तार से विश्लेषण हुआ है। उभययुक्त (भावना-निष्ठायुक्त) उभयलोक कल्याणाकांक्षी, अत एव सद्बुद्धि, अभ्युदय-निःश्रेयसशाली ऐसा मानव चूंकि सदा शान्त रहता है, अतएव यह भी दुष्टबुद्धि की भांति स्वस्थ रहता है। दोनों की स्वस्थता में अन्तर यही है कि, दुष्टबुद्धि का मेद जहां अव्यवस्थितरूप से प्रवृद्ध रहता है, वहां सद्बुद्धि का मेद सुव्यवस्थित रहता है। स्थूल दोनों हैं। एक सुडौल स्थूल है, उसके साक्षात्कार से चित्त में आह्लाद होता है। दूसरा बेडौल स्थूल है, उसके साक्षात्कार से ग्लानि होती है। सद्बुद्धि सदा समानदृष्टि रखता है, दुर्बुद्धि की दृष्टि क्षण क्षण में बदलती रहती है। स्थूलकाय-स्वस्थ-सद्बुद्धि को भोजन-शयन-कथन-गमन-दर्शन-हसन-आदि वृत्तियों में कोमलता, मधुरिमा रहती है। पीनकाय-स्वस्थ-दुष्टबुद्धि की प्रत्येक वृत्ति में कठोरता-कटुता रहती है। पहिला भूशृङ्गार है, तो दूसरा भूभार है। इस विश्लेषण के आधार पर ऐसे सद्बुद्धि निष्ठावान् स्वस्थ-सुन्दर मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१—सद्बुद्धि निष्ठावान् मानव सदा (अप्रिय सत्य का परित्याग करता हुआ) प्रिय सत्य का, स्पष्टवादिता का अनुगमन करता है।

२—यह मानव मान बड़ाई-महत्त्वाकांक्षा-लोकैषणा से घृणा करता हुआ चूंकि अपनी निष्ठा पर दृढ रहता है अतएव भावुक समाज इस का आरम्भ में विरोधी बना रहता है।

३—यह मानव न लोकप्रशंसा से मोहित होता, न लोकनिन्दा से दुःखी बनता। अपितु सदा अपने लक्ष्य पर आरूढ रहता हुआ यह निराश्रय स्वावलम्बी नित्य-तृप्त बना रहता है।

४—यह मानव मानव समाज की परिस्थिति-प्रवाह-के अनुसार स्वयं कभी न बदल कर परिस्थिति को अपना दास बनाता हुआ ही लक्ष्य पर अग्रसर होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५—यह मानव न किसी का दास बनता, नहीं किसी का प्रभु। अपितु यह मानवमात्र के साथ समदर्शनमूला मैत्री सम्बन्ध सुरक्षित रखता है।

६—भावुकसमाज के शिष्टवर्ग का समर्थक यह निष्ठावान् अशिष्टवर्ग की उपेक्षा करता रहता है। अतएव अशिष्ट-दुष्टबुद्धि-वर्ग सदा इस निष्ठावान् का विरोधी बना रहता है।

७—यह निष्ठावान् अपनी असफलता का दोष स्वयं वहन करता हुआ मानव समाज को इसके उत्तरदायित्व से बचाता रहता है।

८—और यों यह निष्ठावान् सद्बुद्धि मानव आत्मदृष्ट्या, तथा लोकदृष्ट्या, उभयथा शान्त-सुसम्पन्न बनाता हुआ अपने आपको कृतकृत्यता की ओर अग्रेसर करता रहता है।

विषयानुगता भावुकता, एवं बुद्ध्यनुगता निष्ठा, दोनों का समन्वय काचित्क है। यदि दोनों का एकत्र समन्वय हो जाता है तो वह मानव संसार में अद्भुत शक्तिशाली मानव बन जाता है। ऐसे मानव में यदि महत्त्वाकांक्षा का उदय हो जाता है, तो वह संसार की मानवता की स्वाभाविक शान्ति भङ्ग करने वाला भयानक दुष्टबुद्धि मानव बन जाता है। मधुकैटभ-शुम्भ-निशुम्भ-रावण- बाणासुर, शिशुपाल, जरासन्ध, शकुनि, जयचन्द्रादि अतीतमानव इसी श्रेणि के उदाहरण माने जा सकते हैं। यदि ऐसे मानव में महत्त्वाकांक्षा का उदय नहीं होता, तो वह संसार की, मानवता की स्वाभाविक शान्ति का संरक्षण करने वाला सद्बुद्धि मानव बन जाता है। जिन अवतारपुरुषों का, महामहर्षियों का, भारतीयप्रजा अद्यावधि संस्मरण करते रहना अपना पावन कर्त्तव्य मान रही है, वे सब महापुरुष इसी श्रेणी के उदाहरण माने जा सकते हैं। पूर्व में हमने दुष्टबुद्धि-सद्बुद्धि इस नामकरण के आधार पर इन्हीं दोनों वर्गों के इतिवृत्त पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में यह और स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, ऐसा समन्वय संसार में सर्वथा सीमित ही रहता है। क्योंकि, पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, संसार एक स्थिति है। स्थिति का पूर्वाधार भूत है, उत्तराधार भविष्य है। भूतानुगत मानव भावुक है, भविष्यदनुगत मानव निष्ठावान है। इन दो स्वतन्त्र, किन्तु परस्पर अत्यन्त विरोधी भावों से ही संसार की स्थिति सुरक्षित है। यदि इन दोनों विरोधी भावों का (भूतानुगता भावुकता, तथा भविष्यदनुगता निष्ठा का) एकत्र अनुकूल समन्वय हो जाता, तो संसार दुःखी-दुष्मानवों की आवासभूमि न होकर विशुद्ध सिद्ध पुरुषों का वैकुण्ठधाम बना जाता। एवं एकत्र प्रतिकूल समन्वय हो जाता, तो संसार दुष्टबुद्धि-नरराक्षसों का क्रीडाक्षेत्र बन जाता, और सदा संसार की मानवता पददलित बनी रहती। परन्तु ऐसा होता नहीं। विश्वम्भर की इच्छा से विश्वस्थिति के समतुलन के लिए उभयनिष्ठ सद्बुद्धि सिद्धपुरुषों का, एवं उभयनिष्ठ दुष्टबुद्धि नरराक्षसों का परिगणित संख्या पर विश्राम होता रहता है। '**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये**' के अनुसार सद्बुद्धि सिद्ध भी कश्चित-मर्यादा से ही, मुक्त हैं। एवं रावण-कंसादि दुष्टबुद्धि नरराक्षस भी कभी कभी ही अवतीर्ण होते हैं। इस विश्लेषण के द्वारा हमें निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ा कि, संसार के (आरम्भ में कथित) चार प्रकार की मानव श्रेणियों में से उभयनिष्ठ सद्बुद्धि, एवं उभयनिष्ठ दुष्टबुद्धि, ये दो वर्ग तो सर्वथा सीमित हैं, एवं केवल भावुकतानुगत भूत-प्रेमी भावुक, तथा केवल निष्ठानुगत भविष्यत्-प्रेमी निष्ठावान्, ये दो श्रेणियां ही विश्व में प्रधान हैं। मध्यस्थ वर्त्तमानवादी का निष्ठावान् में ही अन्तर्भाव है। इन दोनों में भी भावुकसमाज का प्राचुर्य्य है एवं निष्ठासमाज सीमित है। कारण पूर्व में बतलाया जा चुका है। मानव स्वभावतः मनोयुक्त इन्द्रियप्रधानुवर्त्ती है। इन्द्रियों का रुख बहिर्मुख है। अतएव मानव स्वभावतः परद्रष्टा ही बना रहता है। निष्ठा का बुद्धि से सम्बन्ध है। बुद्धि अन्तर्मुख है। अतएव स्वद्रष्टा बुद्धिमान विरले ही होते हैं इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि,— **संसार में अधिक संख्या भावुक मानवों की है।**' भावुकता परिस्थिति का विवेक नहीं होने देती। विवेकाभाव ही दुःख का मूलकारण है। अतएव यह भी सिद्ध विषय है कि '**संसार में अधिक मानव दुःखी हैं।**' अतएव सिद्ध हो जाता है कि, '**भावुकता दुःखप्रवर्त्तिका है, एवं निष्ठा सुख प्रवर्त्तिका है।**' आइए प्रसङ्गोपात्त इन दोनों श्रेणियों का भी उदाहरण के द्वारा साक्षात्कार कर लिया जाय।

भावुकता, और निष्ठा मानवजीवन के लिए गुण हैं, अथवा दोष?, दोनों में कौन तत्त्व अच्छा है, कौन बुरा?, इत्यादि प्रश्नों पर अभी विचार न करते हुए पहिले भावुक-तथा निष्ठावान् मानव के स्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भावुक मानव की मानव संस्था में सम्पूर्ण तत्त्व सूक्ष्म होते हैं, केवल एक तत्त्व स्थूल होता है। उधर निष्ठावान् मानव की संस्था में सम्पूर्णतत्त्व स्थूल होते हैं, केवल एकतत्त्व सूक्ष्म होता है। भावुक का एक भी स्थूलतत्त्व उसके अनेक भी सूक्ष्म तत्त्वों को परास्त कर उसे दुःखी बना देता है। निष्ठावान का एक भी सूक्ष्मतत्त्व उसके अनेक भी स्थूलतत्त्वों को परास्त कर उसे सुखी बना देता है। सूक्ष्मता सुख की जननी है, स्थूलता दुःख की जननी है। अन्तिम छोर का स्थूल भावुक दुःखी है अन्तिम छोर का सूक्ष्म-निष्ठावान सुखी है। कैसे?, समन्वय कीजिए!

भावुक वह मानव है, जो अपनी इन्द्रियों के द्वारा मन से अधिक काम लिया करता है। चञ्चल-रविप्रकृतिक-चन्द्रमा से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्नद्वारा उत्पन्न सौम्य मन स्वभावतः दूरङ्गम है चञ्चल है, अस्थिर है। अपनी इस अस्थिरताके कारण मन सदा शीघ्रगामी (जल्दबाज) बना रहता है। कभी यह कर, कभी वह कर, कभी इसकी चिन्ता, कभी उसकी चिन्ता, इस प्रकार की बाह्यवृत्तियोंके संघर्ष में आकर स्वभावतः चञ्चल मन और भी अधिक प्रगतिशील बन जाता है। इस का परिणाम यह होता है कि, इस संघर्ष से भावुक मन भी सूक्ष्म बन जाता है, इन्द्रियाँ भी अभ्यासवश पैनी बन जाती हैं, इन्द्रियद्वारा शारीराग्नि के अधिकमात्रा में खर्च होजाने से शरीर भी सूक्ष्म (दुर्बल-कृश) बनजाता है। इस दुर्बलता के ही कारण इसका कृश शरीर रुद्राग्नि लक्षण क्रोध का संवरण करने में असमर्थ. होजाता है। मनोवेग प्राधान्य से नवीन कामनाएँ (इच्छाएँ) भी इसे चारों ओर से वेष्टित कर लेती हैं। इन अनेक वृत्तियों के एक साथ सञ्चालित रहने के लिए कभी कभी इसका मन नितान्त उदासीन-सा, स्तब्ध-सा, हक्का-बक्का सा, किंकर्त्तव्य विमूढ़ सा भी बनता रहता है। इस प्रकार अस्थिरमन की अस्थिर वृत्तियों के संघर्ष से शरीर दौर्बल्यलक्षण शरीरसूक्ष्मता, मन शीघ्रानुधावनलक्षणा मन की सूक्ष्मता, इन्द्रियचाञ्चल्यलक्षणा इन्द्रिय सूक्ष्मता के साथ साथ इस मनोवशवर्त्ती भावुक मानव पर काम-क्रोध-मोह, इन तीन शत्रुओं का भी आधिपत्य हो जाता है। भावुक मानव को आप (अपवादस्थलों को छोड़कर) शरीर से छरहरा दुबला पाएंगे, उसकी मानस-स्मृति आप सूक्ष्म पाएंगे जो कुछ वह देखेगा, सुनेगा, तत्काल उसकी स्मृति में सब कुछ ज्यों का त्यों खचित हो जायगा। आप इसे अनेक इच्छाओं का (काम का) अनुगामी देखेंगे। बात बात पर इसे क्रोधाविष्ट पावेंगे। एवं अधिकांश में इसे मोहाविष्ट (खिन्न) पाएँगे। इस प्रकार भावुक में आप सब गुण ही गुण प्राप्त करेंगे। परन्तु इस का सब से बड़ा दोष, जो आप देखेंगे, वह यह होगा कि, इस में बुद्ध्यनुगतानिष्ठा का, आस्था का, स्थितप्रज्ञता का अभाव रहेगा। यह तत्काल ही प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर चाहे जिस पर श्रद्धा-विश्वास कर लेगा। परन्तु कालान्तर में यह उसी पर अश्रद्धा-अविश्वास कर-बैठेगा। क्यों! इस लिए कि, उसने मनकी चञ्चल प्रज्ञा में स्थिरता डालने वाली स्थिरलक्षणा बुद्धि को मन का दास बना लिया है। दूसरे शब्दों में वह बुद्धिव्यापार रूप विवेक से काम लेना जानता ही नहीं। ठाले बैठा मानव जैसे स्थूल बन जाता है, वैसे स्वतन्त्ररूप से स्वव्यापार-प्रसार में अवरुद्ध की गई इस भावुक की बुद्धि भी स्थूल बन जाती है। बुद्धि की इसी स्थूलता के कारण परिस्थिति के विवेक में असमर्थ रहता हुआ यह भावुक मानव किसी भी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। भावुक अपनी भावुकता से अग्रणी सर्वत्र बन जाता है, परन्तु परिणाम फल-पर नहीं पहुँच सकता। दूसरे शब्दों में वह आरम्भ करना जानता है, समाप्त करना नहीं जानता। आप भावुक से कुछ भी पूछ देखिए। तत्काल वह बोलना आरम्भ कर देगा। परन्तु अपनी वाग्धाराको वह कहां समाप्त करे, यह वह नहीं जानता। फलतः भावुक की कोई भी बात, कोई भी कार्य कभी पूरा (सफल) होता ही नहीं। इस असफलता के कारण अन्त में आप उसे दुःखी पावेंगे। आपने यह देखा कि, भावुक दुःखी है अपने दुःख से। परन्तु वह इस दोष को भी (विवेकाभाव से) स्वीकार न करेगा। वह अपने दोष का अनुभव कर ही नहीं सकता। नाहीं, वह अपनी इस असफलता को असफलता ही मानता। 'हमारा क्या बिगड़ गया, हमें किस की पर्वाह है. हमारा तो यों ही चलता रहेगा' इस प्रकार की भावुकभाषा द्वारा भावुक मानव अपने आपको सब प्रकार की जिम्मेवरियों से बचाता रहता है। किसी भी कार्य्य में आप किसी भावुक का सहयोग लेने की भूल कर डालिए। आप देखेंगे, वह भावुक अगुआ तो तत्काल बन जायगा, परन्तु उस कार्य्य को अन्त तक निभाने का उत्तरदायित्व वह कभी अपने सिर न लेगा। वह कहता रहेगा-'हम काम करेंगे, करते रहेंगे, परन्तु जिम्मेवरी नहीं लेगें। इसलिए कि, उस में उत्तरदायित्व निर्वाह की योग्यता ही नहीं होती। उत्तरदायित्व का कार्यसफलता से सम्बन्ध है। कार्य्यसफलता भावक से सर्वथा असंस्पृष्ट है। विश्वास कीजिए, जिस कार्य्य का आरम्भ भावुक द्वारा होगा, जिसमें सहयोगी भी अधिकांश में भावुक ही रहेंगे, वह कार्य्य कभी सफल न होगा।

मानव का मन भावुक है, कल्पना प्रधान है, अतएव दुर्बल है। इसी दुर्बलता के कारण वह प्रत्यक्षापराध सहने में असमर्थ है। या तो भावुक का मन अतीत-घटनाओं की चर्वणा करता रहेगा, जिनकी चर्वणा सर्वथा निरर्थक है। अथवा तो वर्तमान से प्रभावित होकर वह आगा-पीछे सोचे बिना तत्काल अपना विवेक शून्य निर्णय कर डालेगा, जो निर्णय परिस्थिति के विपरीत जाता हुआ सर्वथा निरर्थक ही नहीं, अपितु लाभके स्थान में हानि का कारण सिद्ध होगा। उदाहरण के लिए, भावुक मानव के सम्मुख एक कण्ठीमालाधारी-तिलक छापेवाला-मौन-व्रतधारण करनेवाला एक बकवृत्ति भक्त आता है। भावुक मानव उसके आद्यन्त की परिस्थिति का विवेक किए बिना उसके बाह्य आडम्बर से तत्काल प्रभावित हो जाता है। इस प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर भावुक इसे निरा सन्त मान बैठता है। बकवृत्ति सन्त इस की भावुकता से पर्याप्त लाभ उठालेता है। और यों भावुकतावेशाविष्ट भावुक परिस्थिति विवेक में असमर्थ रहता हुआ ठगा जाता है। इसी के सम्मुख एक ऐसी स्त्री सहायता के लिए याञ्चा करती आती है, जो लोक-समाज में अपने दुष्कर्मों के कारण हीन घोषित हो रही है। भावुक मानव इस की परिस्थिति का विचार न कर इसके प्रत्यक्ष-चरित्र से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रभावित होकर इसे निराश लौटा देता है। भावुक में यह विवेक ही नहीं कि, वह यह सोच सके कि, सर्वथा असहाय इस नारी ने अपने निराश्रित बच्चों की जीवनरक्षा के लिए, अपने मातृपद को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विवश बन कर यदि इसने असत्पथ का आश्रय लिया है, तो इस में इसका कोई अपराध नहीं। अपितु यह विशुद्ध समाज का अपराध है। तात्पर्य्य, भावुक मानव के सम्पूर्ण निर्णय परिस्थिति की जांच किए बिना केवल भावुकता के आधार पर ही होते हैं। भावुक जानता है कि, अमुक दुष्टबुद्धि गोहिंसक है। वही दुष्टबुद्धि किसी घटनावश यदि इसी भावुक की शरण में आकर यह कहने लगता है कि—'आप बड़े दयालु हैं, हम आपकी गायहैं, हम पर दया कीजिए, हमारी रक्षा कीजिए,' तो भावुक इस प्रार्थना से प्रभावित होता देखा गयाहै। भावुक भूल जाता है, जो दुष्ट बुद्धि स्वयं दया पर विश्वास नहीं करता, जो गोहिंसा को अपना धर्म्म मान रहा है, उसके मुख से निकली दया की भिक्षा-आर्त्ति का साध्यन केवल बनावटीहै। भावुक भावानिर्म्माणमें बड़े चतुरहोतेहैं। ऐसे अवसरों पर वे ये उद्गार प्रकट किया करते हैं कि,—"दुष्ट यदि दुष्टता नहीं छोड़ता, तो हम भी अपनी सज्जनता क्यों छोड़ें। उसका धर्म्म यदि हिंसा है, तो हमारा धर्म्म दयाहै। हमें अवश्य आश्रित पर दया करनी चाहिए, चाहे वह दुष्टबुद्धि ही क्यों न हो"। ऐसे भावुक उद्गारों में क्या तथ्य है–यह भी मीमांसा कर लीजिए।

मानवतत्त्वविश्लेषक आचार्य्यों ने कहा –'जो जिसमें गुण है वही उसमें दोष है। एवं जो जिसमें दोष है, वही उनमें गुण है'। उदाहरण के लिए 'दया नामक धर्म्म को ही लीजिए। भावुक मानवका यह गुण है कि, वह स्वभावतः दयालु होता है। उस से दूसरे का दुःख नहीं देखा जाता। स्वागत करते हैं हम भावुक के इस दया गुण का। परन्तु यह दया गुण किसी विशेष सीमा पर्य्यन्त ही अपने स्वरूप से सुरक्षित रहा करता है जिस सीमा को 'मर्य्यादा' कहा जाता है। धर्म्म एक मौलिक वस्तुतत्त्व है, मर्य्यादा इस मौलिक धर्म्मतत्त्व का स्वरूपसंरक्षक बाह्य वेष्टन है। वेष्टनस्थानीय यही मर्य्यादा सूत्र 'नीति' कहलाया है। नीतिलक्षणा मर्य्यादा, किंवा मर्य्यादालक्षणा नीति ही धर्म्म का धर्म्मत्व सुरक्षित रखती है। धर्म्मी को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखता हुआ, धर्म्मी को अभ्युदय (लोकसम्पत्), निःश्रेयस (आत्मसम्पत्) द्वारा विकसित करता हुआ तत्त्व ही धर्म्म है। इस धर्म्म का तथाकथित अभ्युदय-निःश्रेयस प्रवर्त्तकत्त्व ही धर्म्मत्व है। ऐसा यह धर्म्मत्त्व नीति से ही सुरक्षित रहा करता है। अतएव हम नीति को धर्म्म का भी धर्म्म कहने के लिए तय्यार हैं। जिसक्षण धर्म्म नीति का, मर्य्यादाका अतिक्रमण कर जाता है, उसी क्षण वह अमर्य्यादित-नीतिच्युत धर्म्म अपना धर्म्मत्व खोता हुआ अधर्म्म बनजाता है। विश्वास कीजिए धर्म्म अधर्म्म से, एवं अधर्म्म धर्म्म से कोई पृथक् वस्तुतत्त्व नहीं है। मध्य में मर्य्यादा है। मर्य्यादायुक्त धर्म्म धर्म्म है, मर्य्यादाच्युत वही धर्म्म अधर्म्म है। हिंसा एक अधर्म्म है। परन्तु मर्य्यादायुक्त हिंसा रूप अधर्म्म भी धर्म्म है। विष अमृत से भिन्न नहीं है। मर्य्यादित वही भोजन अमृत है, अमर्य्यादित वही भोजन विष है। धर्म्म का धर्म्मत्व था धर्म्मी का सर्वविध कल्याण करना। दुष्ट पर दया करना मर्य्यादा विरुद्ध है। क्योंकि, दण्ड्य दुष्ट इस दया से आगे चलकर अनुचित लाभ उठाता हुआ पहिले उस दयालु पर ही प्रहार करता है। एक मद्यप पैसों के अभाव में आपके सामने गिड़गिड़ाता है। कहता है, आज मुझे पैसे देदीजिए। यदि आज शराब न मिली तो मर जाऊँगा। आप दया कर उसे पैसे देदेते हैं। स्मरण रखिए वह मद्यपि सदा के लिए आपको तंग करता रहेगा। कोई आश्चर्य नहीं, आपके किसी समय पैसे न देने पर वह आप पर प्रहार भी कर बैठे। इस प्रकार ऐसी अमर्य्यादित दया आपके दुःख का कारण बन जायगी। क्या धर्म्म कभी दुःख का कारण बनता है? नहीं। फिर यदि ऐसी दया आपके दुःख का कारण बन रही है तो विश्वास कीजिए भावुकतामूला ऐसी अमर्य्यादित दया धर्म्म नहीं, अपितु अधर्म्म है। इसी लिए तो हमें कहना पड़ा कि, जो जिसमें गुण है, वही नीति विरुद्ध जाना हुआ उसमें दोष है। इसी प्रकार यदि क्रूरता हिंसादि दोष किसी में हैं, तो मर्य्यादा से सीमित होते हुए वे दोष ही उसके गुण हैं। शास्त्र कहता है, धर्म्म से सुख मिलता है। उधर अमर्य्यादित सत्य-आग्रह (सत्याग्रह, अहिंसा, दया, को आगे कर भावुक समाज दिन दिन दुःखी बनता जारहा है। कैसे हम ऐसे आग्रहपूर्ण सत्य को, भावुकतापूर्ण अहिंसा को दुष्टों के प्रति दिखाई गई दया को सर्वथा नीतिविरुद्ध जाने से धर्म्म कहें। सज्जनता नामक धर्म्म सज्जनों के लिए ही सीमित मर्य्यादित है। असज्जन दुष्ट कभी इस सज्जनता का पात्र नहीं है। शास्त्र कहता है –ऐसे बैडालव्रतिक-धूर्त शठ-दुष्टबुद्धियों का तुम वाणी से भी सत्कार मत करो 'वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्'। 'वह दुष्टता नहीं छोड़ता तो हम सज्जनता क्यों छोड़ें, इस भावुक उद्गार की यही तथ्यपूर्ण मीमांसा है। इसी भावुकभावने मानवता का संहार किया है, जिसके प्रमाण हैं भावुक दुःखी मानव, विशेषतः भावुक हिन्दूजाति।

सर्वसाधारण ने मूर्खता, और विद्वत्ता की जो परिभाषा मान रक्खी है, व्यवहार जगत् में, विशेषतः भावुकता, एवं निष्ठा के सम्बन्ध में उस परिभाषा का कोई महत्त्व नहीं है। सर्वसाधारण ने शिक्षित-पठित को तो विद्वान मान रक्खा है, एवं अशिक्षित-अपठित को मूर्ख मान रक्खा है। इस मान्यता का केवल एक दृष्टि से समर्थन किया जासकता है। शिक्षात्मक ग्रन्थों के द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शिक्षित में कृत्रिम ज्ञान का समावेश हो जाता है। उसका परिचय (मालुमात) विशद बन जाता है। इस कृत्रिम ज्ञान के आधार पर शिक्षित-पठित मानव सृष्टि के गुप्त रहस्यों का, धर्म-राजनीति के मर्म्मों का ज्ञाता बन जाता है। गहन से गहन प्रश्न का यह इस ज्ञान के बल पर प्रश्नकर्त्ताओं का वाग्बन्धन करने का सामर्थ्यप्राप्त करलेता है। इसी कृत्रिम ज्ञान को 'विद्या' कहा जाता है। इसी विद्या के सम्बन्ध से इस ज्ञानी को विद्वान् कहना अन्वर्थ बन जाता है। ऐसा ज्ञानी मेधावी होता है, बहुश्रुत होता है, बहुदर्शी होता है, वाग्मी होता है। प्रत्येक विषय में विद्युत्-गति से प्रवेश करने की इसमें योग्यता आजाती है। उधर जिन मानवों को ग्रन्थात्मिका शिक्षा प्राप्त नहीं होती, जो अपठित रहते हैं उन्हें मूर्ख मानना भी अन्वर्थ बन जाता है। मूर्ख मानवों में कृत्रिमज्ञान का अभाव रहता है। अतएव वे तत्त्वज्ञान में असमर्थ रहते हैं। उनके पास तो परमात्मा के घर से आई हुई सहज बुद्धिमात्र रहती है। वे तर्क करना नहीं जानते, सभामें बोलना नहीं जानते, किसी भी विषयको सुन कर समझलेना भी कठिनहै। यदि दुःखं सुखं समझ भी लिया, तो उस विषय को चिरकालतक इनकी मेधा धारण करने में असमर्थ है। प्रत्येक विषय पर मुँह बाए खड़े रहनाही इनकी स्वाभाविक स्थितिहै। इसप्रकार इस शिक्षा अशिक्षाके दृष्टिकोणसे सर्वसाधारण की शिक्षित को विद्वान् कहना एवं अशिक्षित को मूर्ख कहने की मान्यता सुरक्षित रक्खी जासकती है। परन्तु...... .....

परन्तु मानवस्वरूप विश्लेषक तत्त्ववेत्ता कहता है कि, विद्यावान्ज्ञानी विद्वान् व्यवहारदृष्ट्या मूर्ख है, एवं विद्याशून्य बुद्धिमान् मूर्ख व्यवहार दृष्ट्या विद्वान् है। क्या विद्वान् बुद्धिमान् नहीं है।, है और अवश्य है। बुद्धिबल से ही तो उसने विद्या प्राप्त की है। फिर वह मूर्ख कैसे हुआ ?, इसलिए कि भावुकतामूलाविद्या के प्रभाव से उसकी बुद्धि निःसीम बन जाती है। वह एक बात-सोचने लगता है, सैंकड़ों दृष्टिकोण उसके बुद्धिक्षेत्र में समाविष्ट होजाते हैं। इस असमर्यादित बुद्धि से वह स्वय व्यवहार जगत् में अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सकता। इसकी बुद्धि से आदेशोपदेशों से संसार लाभ उठा लेता है, परन्तु यह स्वयं इस लाभ से वञ्चित रह जाता है। दूसरों का पथप्रदर्शक यह विद्वान् स्वयं पथान्वेषण में असमर्थ बना रहजाताहै। इसी लिए तो व्यवहारदृष्ट्या इसे हम मूर्ख कहते हैं। फलतः ऐसे भावुक विद्वान् दूसरों की लाभ की सामग्री बनते हुए स्वयं सदा हानि उठाया करतेहैं। जिस विद्यागुणने इन्हें विद्वान बनाया, वही विद्यागुण भावुकता के कारण असमर्यादित बनकर इन का दोष बनगया। जो जिसका गुण है वही तो उसका दोष है। कृत्रिम ज्ञानलक्षण विद्यासंस्कार से संस्कृत इस विद्वान की बुद्धि का सहजज्ञान अभिभूत हो जाता है। अतएव यह अपने स्वार्थ साधन के लिए दूसरों का आश्रय खोजा करता है। कृत्रिम बुद्धि इस की अवश्य तीक्ष्ण है। परन्तु सहजबुद्धि सर्वथा स्थूल है। स्थूलबुद्धि ही तो मूर्ख कहलाया है। फिर क्यों न ऐसे विद्वान को भी मूर्ख कह दियाजाय। उधर शिक्षाज्ञान से असंस्पृष्ट अपठित मूर्ख मानव में सहजबुद्धि सुतीक्ष्ण बनी रहती है। इसी के बलपर यह आवश्यकता-भर के लिए कृत्रिमज्ञानियों से (विद्वानों से) उनका कृत्रिमज्ञान उधार लेकर अपनी मर्यादित सहजबुद्धि से अपना स्वार्थ साधन करलेता है। यही नहीं, उधार लिए ज्ञान से यह बुद्धिमान दो काम करता है। अपना स्वार्थ साधन इसका पहिला काम होता है। एवं इसी ज्ञान से उस ज्ञानीका मानमर्दन करते हुए उसे अपना दास बनाए रखना दूसरा काम है। आपने देखा सुना होगा, कि कई बुद्धिमान विद्वान् धनिकों के यहां पूजन-पाठ किया करते हैं। देवाराधन द्वारा विद्वान उस धनिक के लिए यह कामना करता है कि, 'यजमान अतुल सम्पत्ति का अधिकारी बन जाय'। इसका पारिश्रमिक केवल उतनाही नियत रहताहै, जिस से विद्वान् कठिनता से उदरपोषणमात्र कर सके। कैसा अद्भुत समन्वय है। धनिक का विश्वास है, मैं पण्डितजी के ज्ञानानुगत देवाराधन से अवश्य सम्पन्न बनूंगा। उधर विद्वान् समझ रहा है, यजमान मेरा प्रतिपालन कर रहेहैं। जिस इष्टसंतुष्टि से विद्वान् एक धनिक को सम्पन्न बनाने जारहाहै, क्या वह स्वयं इष्ट को सन्तुष्ट कर सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता ?। नहीं, इसलिए कि, वह विद्वान है भावुक है, अतएव बिना अन्याश्रय के प्रतिष्ठित रहने में असमर्थ है। उसका ज्ञान-ध्यान-जप-पूजन दूसरों के लिए है। अपने उसके पास है वह असमर्यादित ज्ञानकोष, जिसका सहजबुद्धि के न रहने से वह स्वयं उपयोग नहीं कर सकता। यही कारण है कि, भावुक विद्वान् भी सदा निर्धन रहते हैं, एवं निर्विद्यावान् मूर्ख भी सदा धन सम्पन्न रहते हैं। प्रत्यक्ष में देखिए न, आपको अशिक्षित अविद्वानों की तुलना में शिक्षित विद्वान् ही अधिक संख्या में दुःखी मिलेंगे।

क्यों, इसलिए कि वे भावुक हैं, अतएव परद्रष्टा हैं। भावुक विद्वान् किंवा भावुक मूर्ख ही श्रद्धा-विश्वास द्वारा ठगाया जाता है। वह भावुक सदा दूसरों की ओर ही देखता है। अपने आपको देखने का मर्यादित विवेक उसके पास है ही नहीं। भावुक सदा समाज के मुख की ओर देखा करता है। अहर्निश उसे यही चिन्ता बनी रहती है कि, कहीं समाज उसे दोषी न ठहरा दे। अतएव वह समय समय पर अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की चेष्टा किया करता है। यही इस की महान दुर्बलता है। सबल मानव कभी अपनी सफाई पेश नहीं किया करता। वह तो मानव समाज के बड़े से बड़े आक्रमण को पी जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाज की इच्छा के अनुरूप उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। और समाज ?. समाज इसे अपने विनोद का एक खिलौना मात्र समझताहै। प्रसिद्ध है कि,-'शहर के दुःख से काजीजी दुबले रहतेहैं'। भावुक मानव सदा इसी दुःख से दुर्बल बना रहताहै। 'पराए दुःख दूबला' को चरितार्थ करने वाले ऐसे भावुक कभी सुखी नहीं रह सकते। भावुक सब-का विश्वास कर बैठताहै, परन्तु इस भावुक का कोई विश्वास नहीं करता। इस का भावुकता मूलक यह विश्वासगुण ही इसके स्व-रूप का विनाशक महादोष बना रहता है। इसका स्वाभाविक उपकारवृत्ति (भलाई करना) ही इसकी शत्रु बनी रहती है। इसीलिए तो अनुभवी निष्ठावानों ने कहा है—'**नेकी का बदला सदा बदी हुआ करता है**'। एक भावुक ब्राह्मण ने कीचड़ में फंसे सिंहकी करुणा-भाषा से प्रभावित होकर उसे कीचड़ से निकाला। सिंह ने बाहिर निकलते ही उसका भक्षण करडाला। भावुक पृथ्वीराज ने गजनी के साथ अनेक बार नेकी की। परि-णाम में उस अपनी आंखें निकलवानीं पड़ी। गङ्गदत्त नामक म-ण्डूक ने सर्प के साथ नेकी की। सर्प ने उसी के वंश को निर्मूल बना दिया। देवताओं से ही वर प्राप्त करने वाले दुष्टबुद्धि असुरों ने देवदल का ही संहार कर डाला। भावुक मानव सदा नेकी की घोषणा किया करता है। नेकी के आधार पर ही वह जीवित रहता है। क्योंकि विना नेकी किए उसे सन्तोष ही नहीं होता। अतएव यह नेकी ही परिणाम में बदी बनकर इसे खा डालती है। निष्ठावान कहा करते हैं—'**जो जिस के आश्रय से उत्पन्न होताहै, वह अपने आश्रयदाता को खा कर ही बड़ा होता है**'। काष्ठ से उत्पन्न अग्नि पहिले उस काष्ठ को खाकर बड़ा (प्रज्वलित) होताहै, फिर दूसरे काष्ठ का आहुति मांगता है। माता के क्रोड़ से उत्पन्न शिशु पहिले उसी का शोषण (स्त-नपान) कर बड़ा होता है, पश्चात् अन्य भोजन का अनुगामी बनता है। नेकी से उत्पन्न बदी पहिले उस नेकीही को खाता है। अतएव कहा जाता है कि,—'**नेकी कर, और पानी में डाल दे**'। विश्वाससे उत्पन्न विश्वासघात पहिले विश्वासका ही निगरण करता है। अतएव कहा जाता है,—'**सब के विश्वासपात्र अ-वश्य बनिए, परन्तु विश्वास किसी का न कीजिए**'। भलाई से उत्पन्न बुराई पहिले भलाई को ही आत्मसात् करती है। अतएव कहा जाताहै कि,—'**भले का संसार नहीं है**'। भला-भावुक संसार में सुखी कैसे रह सकता है। भावुकता के इस स्वरूप-विश्लेषण के आधार पर हमें केवल भावुक-विशुद्ध-परमार्थी-परदुःखनिमग्न-अतएव कृशकाय, आद्यन्त के दुःखी गै-रजिम्मेवर ऐसे सर्वात्मना असफल मानव के सम्बन्ध में निम्न लिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है —

१—परमार्थी भावुक परप्रत्ययन्याय से सदा पराश्रित रहता है।

२—यह भावुक अपने लिए कुछ भी न बोलकर सदा पर-भाषा का ही उपयोग करता है।

३—यह भावुक सब का विश्वास करता है, परन्तु न तो समाज ही इस का विश्वास करता, एवं न यह स्वयं अपना ही विश्वास करता।

४—यह भावुक हानि को कभी महसूस करता नहीं, लाभ कभी देखता नहीं। इसलिए सदा हानि ही उठाता है।

५—यह भावुक प्रत्यक्ष से प्रभावित रहता है। इसके आँखें नहीं होतीं, कान होते हैं। अतएव यह तथ्य पर नहीं पहुँच सकता। अतएव यह सदा धोका खाता रहता है।

६—यह भावुक मेधावी, तत्त्वज्ञ बनता हुआ भी परद्रष्टा होने से मूर्ख है।

७—यह मूर्खभावुक शरीर-मन-इन्द्रियादि से सूक्ष्म है, परन्तु बुद्धि (सहजज्ञान-विवेक) से स्थूल है।

८—और यों यह मूर्खभावुक आत्म-लोकदृष्ट्या उभयथा सफलता से वञ्चित रहता हुआ सदा दुःख पाया करता है।

अब क्रमप्राप्त विशुद्ध निष्ठावान् का भी निष्ठापूर्ण इतिवृत्त सुन लीजिए। निष्ठावान् वह मानव है, जो शरीर-मन-इन्द्रियादि की उपेक्षा कर सदा अपनी सहजबुद्धि से काम लिया करता है। निष्ठावान् के पास विद्या नहीं है, कृत्रिमज्ञान नहीं है। है केवल बुद्धि, सहजज्ञान, और सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला विवेक-पूर्ण 'उपज'। चूंकि, वह शरीरादि से विशेष काम नहीं लेता। अतएव उसका शरीर स्थूल है, मन सात्त्विक है, इन्द्रियानुभूति दोषपूर्ण है। परन्तु बुद्धि इसकी सदा सूक्ष्म रहती है। यह अपनी बुद्धि को सदा मर्यादित रखता है। अतएव इसकी बुद्धि सदा अन्तमुख बनती हुई इसी का देखती रहती है। इसके पास सिवाय विवेकबुद्धि के अन्य साधन का अभाव है। अतएव इस के पास सब कुछ अपने आप चला आता है। विवेकबुद्धि के प्रभाव से यह बुद्धिमान् भावुक समाज के द्वारा सम्पूर्ण साधन जुटाता हुआ अपना स्वार्थ साधन कर लेता है। इसका कोई कुछ भी नहीं होता। इसके सभी सब कुछ बने रहते हैं। यह सब का बना रहता है, परन्तु यह स्वयं किसी का नहीं बनता। प्रत्य-क्षवादी नहीं, अपितु परिणामवादी भविष्यदनुगामी (दूर की सोचने वाला) यह निष्ठावान लाभ को लक्ष्य बनाए रहता है, हानि का अनुभव किया करता है। अतएव इसका कभी हानि होती ही नहीं। संसार इसे भला-बुरा कुछ भी कहता रहे, यह उस ओर से सर्वथा उदासीन रहता हुआ अपने स्वार्थ पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरूढ़ रहता है। और यही इस निष्ठावान् की सफलता का रहस्य है।

लोकवैभव-कामुक इस निष्ठावान् के मन में सदा लोकसम्पत्ति की चर्वणा चलती रहती है। क्योंकि यह महत्त्वाकांक्षी है। इसकी यह चर्वणा ही 'लोभ' है। बुद्धिबल से सञ्चित अर्थबल इसकी बुद्धि में एक स्वाभाविक गाम्भीर्य्य उत्पन्न कर देता है। यही गाम्भीर्य्य 'मद' है। इस मद को सुरक्षित रखने के लिए इसे गजनमीलिका-न्याय का आश्रय लेना पड़ता है। हाथी पर चींटियाँ रेंगती रहती हैं। हाथी आँखें खोलता-मीचता हुआ उन की ओर से लापर्वाह रहता है। यही गजनिमीलिका-वृत्ति है। कोई कुछ भी क्यों न कहता सुनता रहे, यह निष्ठावान् सदा अपने मद में मत्त रहता है। इसकी यह मत्सरवृत्ति (मगरमच्छ-पना) 'मात्सर्य्य' कहलाया है। इस प्रकार काम-क्रोध-मोह, ये तीन धातु जहां भावुक के अतिथि बने रहते हैं, वहां लोभ-मद-मात्सर्य्य, ये तीन धातु इस निष्ठावान् के अतिथि बने रहते हैं। काम-क्रोध-मोहाविष्ट भावुक उदारता (फैय्याजी) के आवेश में पड़ कर सदा दारिद्र्यदुःख का आस्वादन करता रहता है। एवं लोभ-मद-मात्सर्य्याविष्ट निष्ठावान् अपनी स्वाभाविक कृपणता के कारण सम्पत्तिसुख का आस्वादन किया करता है।

निष्ठावान् मानव को (अपवाद स्थलों को छोड़कर) आप शरीर से स्थूल-स्वस्थ पायँगे, उस में मानसस्मृति का अभाव रहेगा, वह स्वार्थातिरिक्त देखा-सुना-पढ़ा-लिखा-सबकुछ भूल-जायगा। आप इसे सदा सीमित इच्छाओं का ही अनुगामी देखेंगे। इसका बाह्य-आचार व्यवहार सर्वथा रूक्ष प्राप्त करेंगे। इसका उत्तर रूखा होगा, भावना कटु होगी, दृष्टि भोंडी होगी। इस प्रकार निष्ठावान् में आप सब दोष ही दोष देखेंगे। परन्तु इसका सब से बड़ा गुण यही होगा कि, इसमें बुद्ध्यनुगता स्थितप्रज्ञता का समावेश रहेगा। इसी स्थिर धर्म्म के कारण यह कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित न होगा। अतएव तत्काल-निर्णय नहीं करेगा। सुनेगा समझेगा, मनन करेगा, आगा पीछा सोचेगा, तब कहीं निर्णय पर पहुंचेगा। जल्दी का काम इसकी दृष्टि में शैतान का काम होगा। अपना विवेक बुद्धि के प्रभाव से यह सुखद परिणाम पर ही पहुँचेगा। निष्ठावान् मानव कभी किसी काम में बिना परिणाम की मीमांसा किए अग्रणी नहीं बनता। यह आरम्भ करना नहीं जानता। अपितु परिणाम पर पहुँचना जानता है। आरम्भ वह सदा दूसरों के आश्रय से करता है, समाप्ति का अधिष्ठाता स्वयं बन-बैठता है। कहते हैं, 'समझदार स्वयं नहीं पकाता, अपितु पकी पकाई खाता है'। आप निष्ठावान से कुछ भी पूछ देखिए। तत्काल वह अपनी अज्ञता प्रकट कर देगा। और कह देगा, 'इस सम्बन्ध में उनसे पूछिए। वे इस विषय को पूरा समझते हैं'। निष्ठावान के पास वाग्धारा नहीं है। है इस के पास अन्तिम-ठोस-सफल निर्णय। अतएव निष्ठावान् के सब काम पूरे होते रहते हैं। निष्ठावान् परदोष को भी सदा अपना दोष स्वीकार करेगा। वह बोलेगा नहीं, ढोल नहीं बजावेगा, काम कर लेगा। जिस कार्य्य में ऐसा उत्तरदायी (जिम्मेवर) निष्ठावान् अगुआ बन जाता है, निश्चयेन कालान्तर में वह कार्य्य सफल होजाता है। निष्ठावान् प्रत्यक्ष से प्रभावित नहीं होता। अपितु वह परिस्थिति के अनुसार चलता है। अतएव वह कभी धोका नहीं खाता। पहिले तो वह किसी पर श्रद्धा-विश्वास करता ही नहीं। यदि विवेकद्वारा किसी पर श्रद्धा-विश्वास कर लेता है, तो उसका परित्याग नहीं करता। यह समाज को देखता है—अपने स्वार्थ के लिए। समाज को छोड़ देता है—अपने स्वार्थ के लिए। निष्ठा के इस स्वरूपविश्लेषण के आधार पर हमें केवल निष्ठावान्-शुद्धस्वार्थी-स्वसुखनिमग्न-अतएव स्थूलकाय-आद्यन्त के सुखी जिम्मेवर ऐसे सर्वात्मना सफल मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१—स्वार्थी निष्ठावान् स्वप्रत्यय द्वारा सदा स्वावलम्बी बना रहता है।

२—यह निष्ठावान् दूसरों के लिए कुछ भी न बोल कर सदा अपना स्वार्थ साधन करता रहता है।

३—यह निष्ठावान् किसी का विश्वास न कर सब का विश्वास-पात्र बना रहता है, एवं स्वयं अपना ही विश्वास करता है।

४—यह निष्ठावान् सदा लाभ को ही देखता है, एवं हानि का सदा अनुभव करता है, अतएव सदा लाभ में ही रहता है।

५—यह निष्ठावान् प्रत्यक्ष से कभी प्रभावित नहीं होता! इसके कान नहीं, आंख होती है। अतएव वह तथ्य पर पहुँच जाता है। अतएव यह कभी धोखा नहीं खाता।

६—यह निष्ठावान् मेधावी-तत्त्वज्ञ-शास्त्रमर्म्मज्ञ न होता हुआ भी स्वद्रष्टा होने से विद्वान् है।

७—यह विद्वान् निष्ठावान शरीर-मन-इन्द्रियादि से स्थूल है, किन्तु बुद्धि से सूक्ष्म है।

८—और यों यह विद्वान् निष्ठावान लोकवैभवदृष्ट्या सदा सफलता से युक्त रहता हुआ सदा सुखी बना रहता है।

———:※:———

इस प्रकार भावुकता, और निष्ठा के तारतम्य से मानव समाज के चार श्रेणिविभाग किए जा सकते हैं। आरम्भ में जिन चार श्रेणि-विभागों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनका विभिन्न दृष्टिकोण से सम्बन्ध है। उस दृष्टिकोण का समन्वय निष्ठावान पाठक प्रस्तुत दृष्टिकोण से भी कर सकेंगे। लक्ष्य समान है, केवल भाषाशैली में विभेद है। यह है मानव-समाज के स्वरूप का दिग्दर्शन, जिसके आधार पर हमें हिन्दू-मानव की भावुकता का दिग्दर्शन कराना है—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

* मानवसमाजानुगता–त्रिभागचतुष्टयी–(प्रकारान्तरेण)

१–अन्तर्भागे निष्ठायुक्तः, बहिर्भागे भावुकता–युक्त —उभयनिष्ठः—"नैष्ठिकः"—सद्बुद्धिः (कृतकृत्यः)—शान्तः, सुखी

२–अन्तर्भागे भावुकतायुक्तः, बहिर्भागे निष्ठा—युक्तः—उभययुक्तः—"निष्ठावान्"—दुष्टबुद्धिः (मदोन्मत्तः)—अशान्तः, सुखी

१

३–अन्तर्बहिर्भागे विशुद्ध—भावुकता—युक्तः—निष्ठाच्युतः—"भावुकः"—बुद्धिहीनः (दुःखी)—अशान्तः, दुःखी

४–अन्तर्बहिर्भागे विशुद्धनिष्ठा—युक्तः—निष्ठायुक्तः—"निष्ठः"—बुद्धिमान (सुखी)—अशान्तः, सुखी

—— :*: ——

१–नैष्ठिकः—सद्बुद्धिः—सर्वकालानुगामी—विद्यानुगतो बुद्धिमान—पण्डितः—इह, परत्र च सुखी

२–निष्ठावान्—दुष्टबुद्धिः—भूतभविष्यदनुगामी—बुद्ध्यनुगतो विद्यावान्—धूर्त्तः—इह सुखी, परत्र दुःखी

२

३–निष्ठाच्युतः—बुद्धिहीनः—भूतकालानुगामी—केवलविद्यायुक्तो विद्वान्—मूर्खः—इह, परत्र च दुःखी

४–निष्ठायुक्तः—बुद्धिमान—भविष्यत्कालानुगामी – केवल बुद्धियुक्तो मूर्खः—विद्वान्—इह, सुखी, परत्र दुखी

—— :*: ——

१–पण्डितः—नैष्ठिकः—धर्म्मप्रधाननीतिमार्गानुयायी—शान्तः

२–मूर्खः—निष्ठावान्—नीतिप्रधानधर्म्ममार्गानुयायी—आकुलः

३

३–मूर्खः—भावुक—केवलधर्म्ममार्गानुयायी ——व्याकुलः

४–विद्वान्—निष्ठः—केवलनीतिमार्गानुयायी —— क्षुब्धः

—— :*: ——

प्रदर्शित वर्गीकरण से पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, तत्त्वदृष्टि से चार विभागों में से केवल नैष्ठिक-सद्-बुद्धि मानव ही वास्तविक कल्याण का भोक्ता बनता है। अतएव भारतीय मानव-धर्म्मशास्त्र ने धर्म्मानुगत नीतिसम्मत पथ को ही मानव के लिए श्रेयः पन्था माना है, एवं ऐसे ही पथ को 'मानव-धर्म्म' कहा है, जिसका तात्त्विक विश्लेषण वेदशास्त्र में हुआ है। यह इस देश का दुर्भाग्य है कि इसने स्वाभाविक भावुकता में पड़कर कुछ एक शताब्दियों से वेदशास्त्र का तात्त्विक (वैज्ञानिक) अध्ययन विस्मृत करते हुए मानवधर्म्म की उस सर्वोच्च निष्ठा को भुला दिया है।

मानव स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। यह सामाजिकता भी इस मानव की मनोऽनुगता स्वाभाविक भावुकता को उत्तेजित करती रहती है। 'जिस राज में रहना, हांजी हांजी कहना' के अनुसार सामाजिक बाह्य प्रदर्शनों का अनुगमन करते हुए मानव को गतानुगतिक बना रहना पड़ता है। इसी आधार पर– 'यद्यपि सिद्धं, लोकविरुद्धं (चेत्) नाचरणीयम्' सूक्ति प्रसिद्ध हुई है। निवेदन का अभिप्राय यही है कि, भावुकता पहिले तो स्वाभाविक है, दूसरे इसे सामाजिक बल मिलता रहता है। तीसरा सब से बड़ा कारण है संघर्ष का अभाव। यदि तीनों कारण एक साथ मिल जाते हैं, तो वह भावुकता दृढ़मूल बन जाती है। एवं उस स्थिति में उस मानवसमाज का दुःखकारणभूता भावुकता से बचाना असम्भव हो जाता है। जीविका की सुगमता जहां भावुकता को सुरक्षित रखती है, वहां जीविका की दुर्गमता भावुकता पर प्रहार करती रहती है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर ही हमें हिन्दू मानव की भावुकता का समन्वय करना है। हिन्दू मानव जिस भारतभूमि में जन्म लेता है, उस भारतभूमि में जीवनयात्रा के उपयुक्त अन्न-वित्तादि सम्पूर्ण साधन प्रचुरमात्रा से विद्यमान हैं। इस देश को जीवन-निर्वाह के लिए अन्यदेश से संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती। अपेक्षित सभी साधन इसे जब सहज में यहीं प्राप्त हो जाते हैं, तो क्यों यह अन्य देशों के साथ संघर्ष करे। इसके अतिरिक्त, भारतवर्ष की जाति-प्रणाली ने भी बहुत अंशों में हिन्दू-मानव की जीविका के प्रश्न को सुगम बना रक्खा है। तत्तद् जातिविशेष के जीविका-मूलक तत्तत् कर्म्म विशेष (पेशे) पहिले से ही नियत रहते हैं, अतएव तत्तज्जाति-विशेष में उत्पन्न तत्तज्जातिविशेष का हिन्दू बालक तत्तज्जाति-विशेष के लिए पहिले से ही नियत तत्तत् कर्म्म-विशेष को जीविका निर्वाह के लिए नियत समझता हुआ निश्चिन्त बन जाता है। फलस्वरूप उसे संघर्ष में आने का अवसर ही नहीं मिलता। प्रसिद्ध है कि-'ब्राह्मन का बेटा है। और कुछ नहीं, तो सोने का कटोरा उसके हाथ में है। मांग कर ही अपना पेट भर लेगा।' प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है कि, कोई ब्राह्मण पढ़ना लिखना और मांगखोना छोड़कर यदि किसी व्यापार में प्रवृत्त हो जाता है, तो वह निन्द्य मान लिया जाता है। स्वयं हिन्दूशास्त्र ने भी वर्णानुगत नियत कर्म्म का ही समर्थन किया है।

यहीं हिन्दूशास्त्र के सम्मुख एक भयानक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। क्या हिन्दूशास्त्र यह नहीं जानता था कि, यदि जाति-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्णानुसार जीविका के साधन निश्चित कर दिए जायँगे, तो समाज संघर्ष से बचा रहता हुआ भावुक बन जायगा, एवं यह भावुकता ही कालान्तर में इसे संघर्ष में पड़ी हुई अन्यजातियों के द्वारा नष्ट करा देगी ?। हिन्दूशास्त्र सब कुछ जानता था, जान रहा है, और सदा जानता रहेगा। उसने अपने एक ही राष्ट्र में रहने वाली विभिन्न जातियों को पारस्परिक संघर्ष से बचाने के लिए वर्ण जात्यनुसार उनके कर्त्तव्य जीविका-साधन निश्चित करते हुए जहां राष्ट्र की स्वरूपरक्षा की, वहां उन्हीं हिन्दूशास्त्रों ने वैयक्तिक विकास के लिए संघर्षानुगता आश्रम-व्यवस्था का भी निर्म्माण किया। समाजमूलक राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए जहां उसने जाति-धर्म्म व्यवस्थित किया, वहां व्यक्तिमूलक विकास के लिए आश्रम-धर्म्म को अनिवार्य्य बनाया। जन्म से २५ वर्ष तक शीतातप सहते हुए कष्टमय जीवन द्वारा ज्ञानार्ज्जन, २५ से ५० तक गृहस्थ जीवन का उत्तरदायित्व पूर्ण संघर्ष, ५० से ७५ तक पुनः वानप्रस्थानुगत संघर्षमय जीवन, ७५ से १०० वर्ष तक तपोनिष्ठा लक्षण संघर्ष का अनुगमन। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक जीवन को संघर्षमय बनाया गया, जिस जीवनव्यापक संघर्ष में आकर कोई भी मानव भावुक नहीं बना रह सकता। वर्णानुगत स्वकर्त्तव्यनिष्ठा, एवं आश्रमानुगत कर्त्तव्यनिष्ठा से बढ़कर जीवन के लिए अन्य उत्कृष्ट संघर्ष का मिलना असम्भव है। जीविकोपार्ज्जन-साधनों की निश्चिन्तता ने जहाँ हिन्दू मानव को भावुक बनाया था, वहां जीवन-कर्त्तव्य-निष्ठा की दृष्टि से इसे निष्ठावान् बनाया था। भावुकता के द्वारा जहाँ इसका राष्ट्रीय संगठन संघर्ष से बचता हुआ शान्त-समृद्ध था, वहां निष्ठा के द्वारा इसका राष्ट्र आततायियों के दलन में पूर्ण समर्थ था। इस प्रकार हिन्दूशास्त्र ने हिन्दू-मानव के सम्मुख उभयनिष्ठा का आदर्श रखते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ-कृतकृत्य मानव बनाया था। "हिन्दू-शास्त्र का यह प्रयोग केवल आदर्श की ही वस्तु रहा होगा, व्यवहार में कभी ऐसा न हुआ होगा", इस प्रकार की कल्पना करने वाले वर्णाश्रमव्यवस्थाओं को निर्मूल-अव्यवहार्य्य सिद्ध करने वाले वर्त्तमान युग के भावुक समालोचकों को वर्त्तमान में हम कैसे सन्तुष्ट करें, जब कि वर्त्तमान में वर्णाश्रम-व्यवस्थाएँ ही अव्यवस्थित हो रही हैं। परन्तु उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि जिन दृढ़तम राजसत्तात्मक युगों में दण्ड-भय के द्वारा हिन्दू-शास्त्र की ये व्यवस्थाएँ सुव्यवस्थित थीं, उन युगों में भारतराष्ट्र और इसका मानव-मात्र अभ्युदय-निःश्रेयस के परम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ था। वे ही इस देश के स्वर्णयुग थे, जिनका आभास हमें निम्नलिखित ऐतिह्य उद्गारों से हो रहा है—

'स ह (कैकेयः) प्रातः संजिहान उवाच-न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यः, न मद्यपः, न--अनाहिताग्निः, न-अविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः।"

छान्दोग्य उप० ५।११।५।

"मेरे राज्य में एक भी चोर नहीं, एक भी कृपण नहीं; एक भी शराबी नहीं; एक भी अनाहिताग्नि नहीं, एक भी मूर्ख नहीं। एक भी व्यभिचारी नहीं, फिर व्यभिचारिणी कहां से मिले" राजर्षि अश्वपति–कैकय महाराज के ये उद्गार क्या हिन्दूशास्त्र की सर्वोत्कृष्ट व्यावहारिकता का, सफलता का समर्थन नहीं कर रहे ?। यथार्थ स्थिति तो यह है कि, मन कि स्वाभाविक भावुकता के निरोध के लिए, उसे कर्त्तव्यनिष्ठ बनाए रखने के लिए सदा दण्डभय अपेक्षित रहता है। बिना दण्डभय के तो एक बालक को शिक्षा में भी सफल नहीं बनाया जासकता। इसी दण्डभय के सञ्चालन के लिए हिन्दूशास्त्रों ने एकेश्वरवाद के आधार पर राजसत्ता स्थापित की। राजा कहीं इस सत्ता का भावुकता में पड़ कर स्वस्वार्थ-साधन में उपयोग न कर बैठे, इस के लिए भावनामय धर्मदण्ड को सर्वोपरि माना गया। और इस धर्म्मदण्ड के सम्बन्ध में-'तस्माद् धर्म्मं परमं वदन्ति' यह सिद्धान्त स्थापित किया गया। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि, जब जब वेन नहुषादि भारतीय राजाओं ने इस दण्ड को स्वार्थसाधक बनाने की चेष्टा की, तब तब ही तत्कालीन धर्म्माचार्य्यों ने, समाजशास्त्रियों ने धर्म्मदण्ड के द्वारा उन का सर्वात्मना पराभव कर मानवनिष्ठा का संरक्षण किया। दुर्भाग्य से आज भारतवर्ष के हाथ में दण्डसत्ता नहीं रही। इस दण्डशैथिल्य से धर्म्मदण्ड भी हतप्रभ बन गया। फलस्वरूप हिन्दूशास्त्र के द्वारा उद्भावित मानवधर्म्मानुगता कर्त्तव्य-निष्ठा की ओर से भारतीय हिन्दू मानव उदासीन बन गया।

आगे चलकर सन्तमत के दुःखपूर्ण इतिहास ने इस उदासीनता को और भी अधिक प्रोत्साहित किया। हिन्दू मानव को स्वार्थसाधक सन्तों ने त्याग का पाठ पढ़ाना आरम्भ किया। क्यों कि इसके त्याग से ही तो उनका स्वार्थ साधन सम्भव था। इसे पदे पदे अव्यवहार्य्य, अमर्यादित, नीतिविरुद्ध-सत्य, दया, करुणा का पाठ पढ़ाया गया। और यों भावुक हिन्दूमानव अपने निष्ठारक्षक आर्षधर्म्म को भुलाकर भावना-प्रवर्त्तक सन्तमत का अनुगामी बन गया। इसका नीतिपक्ष-तदनुगत निष्ठापक्ष इसके हाथ से कुछ तो छीना सन्तमत ने, और रहा सहा छीना संघर्षजीवनपथानुयायी निष्ठावान् आक्रमणकारियों ने। यों सर्वस्व खोकर संघर्षात्मक जीवन से सर्वथा पृथक् होता हुआ अतीत का निष्ठावान् भी हिन्दूमानव वर्त्तमान का विशुद्ध भावुक मानव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बना रह गया। कहना न होगा कि, इसी भावुकता ने इसके हाथ से साम्राज्य छीना, ग्रामस्वाधीनता छीनी, कौटुम्बिक शान्ति छीनी, वैयक्तिक विकास छीना। सुरक्षित रक्खे इस भावुकताने इसके पास दीनता, दया, भय, परावलम्बनत्त्व, जिनका एकमात्र परिणाम दुःख ही हुआ करता है।

हिन्दूस्त्री अपने पति से कहती है, विदेश मत जाना। अपन तो यहीं रूखा सूखा जो कुछ मिलेगा, खा-पीकर सन्तोष करलेंगे। पिता पुत्र को विदेश भेजता इसलिए डरता है कि, कहीं असहायावस्था में उसके कुछ हो न जाय। माता शिशु को लेकर इसलिए बाहिर नहीं निकलती कि, कहीं उसके नजर न लगजाय। पड़ोसी पड़ौसी की मदद इसलिए नहीं करता कि कहीं उस की स्वाभाविक शान्ति में विघ्न न आजाय। हिन्दू-मानव की वर्त्तमान जीवनधारा पर दृष्टि डालिए आप देखेंगे कि, हिन्दू मानव का जीवन अथ से इतिपर्य्यन्त तथाकथितरूप से सर्वथा संघर्षशून्य, अतएव निस्तेज मिलेगा। इस संघर्षशून्य-निस्तेज-निरावलम्ब भावना, किंवा भावुकता का ही यह परिणाम है कि, साम्राज्य-राज्य आदि की कथा तो दूर रही यह अपने और अपने परिवार को भी संघर्षानुयायी निष्टवानों से सुरक्षित नहीं रखने पाता। आज हिन्दू-मानव अपने देश अपने घर में रहता हुआ भी आगन्तुक अतिथियों से दुःखी है, भयत्रस्त है। कैसी है यह भावकता और कैसा है इसका सत्पात्र (?) भावुक हिन्दू-मानव।

तुलनात्मक प्रसङ्ग की दृष्टि से उन निष्ठाशील जातियों के जीवन पर भी दृष्टिपात कर लीजिए, जिन का जीविकोपार्ज्जन साधन सर्वथा अनिश्चित है। अतएव जो जातियाँ संघर्ष-द्वारा स्वावलम्बिनी बनती हुई प्रगतीशील हैं। उस जाति का एक मानव, जिसके न जागीर है, न कुलक्रमानुगत कोई जीविका का ही साधन है, न अपना देश है, न दान-दया-कृपा का ही वह अधिकारी माना जाता-स्वयं मार्ग में खड़ा होजाता है, और अपने भावुक बालक को आदेश देता है कि देखो! सामने से अभी जो एक धनिक गया है, उस की जेब कतर लाओ। हाँ देखना डरना नहीं। बालक जाता है, सफल होकर लौट आता है। भावुक बालक पिता के भय से यह काम तो कर डालता है परन्तु उसे भय होता है कि, यदि उस धनिक को मेरा पता लग गया, तो मुझे जेल जाना पड़ेगा। निष्ठावान पिता बालक की इस भावना को ताड़ लेता है। और उसे सदा के लिए निर्भय बनाने की कामना से उसे लेकर चोरी के द्रव्य के साथ पुलिसथाना पहुँचता है। वहाँ कहता है कोतवालजी! मेरे इस नासमझ लड़के ने अमुक की यह चीज चुराली है। आगे यह ऐसा न करे, इसके लिए इसे जेल भेज दीजिए। कोतवाल इस पिता की स्पष्टवादिता से प्रभावित होकर लड़के को जेल भेज देता है। लड़का जेल काट कर वापस आता है, जेल का भय सदा के लिए उसके अन्तःकरण से निकल जाता है, और वही लड़का कालान्तर में बन जाता है महा निष्ठावान्। उदाहरण मात्र है। जिन जातियों के जीविका के साधन अनिश्चित हैं, वे सब इसी प्रकार संघर्ष में पड़ कर निष्ठाशील बनी रहती हैं। और इसी निष्ठा के बल पर भावुक जातियों का दलन कर वे जातियाँ अग्रसर होती रहती हैं। हिन्दूजाति सम्पूर्णसाधनों के रहने पर भी क्यों दिन २ पददलित होती जारही है ?, इतर जातियाँ साधन-सुविधाओं के न रहने पर भी क्यों दिन दिन अग्रेसर बनतीं जा रहीं हैं ?, प्रश्नों का यही रहस्य है। मानव को सर्वप्रथम हँसते हँसते मरने का पाठ पढ़ाने वाली हिन्दूजाति स्वयं मर मिटना भूल गई, याद रहा इसे केवल जीवित रहना, इसीलिए आज यह मरती जा रही है। उधर मरने से भय करने वाली जातियाँ संघर्ष में पड़कर जीना भूल गईं, याद रहा उन्हें केवल मर मिटना, इसीलिए आज वे जीवनपथ पर आरूढ़ हैं। हिन्दूजाति के भावुकतानुगत सम्पूर्णगुण स्वयं हिन्दूजाति के लिए जहां दोष बने, वहां वे ही गुण अन्यजातियों के लिए गुण बनकर उन को जीवित रखने लगे। हिन्दू मानव की भावुकता ने ही तो संघर्षजीवी निष्ठावानों के जीविका-साधन सुरक्षित बना रक्खें हैं। परन्तु स्मरणरहे, यह हिन्दूमानव का उपकार नहीं है। अपितु है यह एकमात्र उन बुद्धिशाली निष्ठावानों का बुद्धिकौशल, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता में आज का भावुक हिन्दू मानव खड़ा रहने में सर्वथा असमर्थ बन रहा है। भावुक, अतएव मूर्ख हिन्दू मानव ने दूसरों की कमजोरी से लाभ न उठाकर उनकी उपेक्षा की। इधर निष्ठावान, अतएव बुद्धिमान इतर मानवों ने हिन्दू-मानव की कमजोरी से पूरा पूरा लाभ उठाया। कैसे ?, उदाहरण द्वारा समन्वय कीजिए।

भावुक हिन्दूजाति विदेशी-अतिथियों के आगमन से भयत्रस्त बनी। इस भावुक को और किसी बात का भय न था। 'कोऊ हो नृप, हमें का हानि' की भावनावाले को और भय हो भी क्या सकता है। भय उसे हुआ केवल अपने भावनाप्रधान धर्म्म का, जो भावुकतापूर्ण भारतीय धर्म्म नीतिपथ की उपेक्षा करता हुआ, अतएव अमर्य्यादित बनकर पूर्वविश्लेषणानुसार अधर्म रूपसे इन भावुक भारतीयों के क्लेश का ही प्रवर्त्तक सिद्ध होरहा था। भावुक में यह बल तो आया ही कहां से कि वह स्वयं अपनी किसी इच्छा को स्वयं प्रकट कर सके। इच्छा यह अवश्य रही कि, भले ही ये अतिथि और सब कुछ लेलें, परन्तु हमारे धर्म्म में हस्तक्षेप न करें। निष्ठावान-साहसी-नीतिविशारद-अतिथियों ने भारतीयों की इस भावुकता, बनाम निर्बलता का अपनी तीक्ष्णदृष्टि से निरीक्षण किया। इन्हें तो मानो बिना ही प्रयास के स्वर्गकपाट खुले मिल गए। इन्होंने तत्काल यह अनुभव, और निर्णय कर लिया कि, यही धर्म्मभावुकता इनसे पर्य्याप्त लाभ उठाने का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुख्य साधन है। फलस्वरूप इन अतिथियों के द्वारा घोषणा हुई कि "हमारी सत्ता, हमारा राज्य आप-किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। आप निश्चिन्त होकर अपने धर्म्म का (ही) पालन करते जाइए"। भावुक भारतीयों नें इस घोषणा को उस समय ईश्वरीय वरदान समझा। उपकार माना इन अतिथियों का, बधाइयाँ दीं इन नीतिविशारदों को। और यों भावुकता में पड़कर धर्म्म का नीति से सवथा पृथक्करण कर इन भावुकों नें सचमुच अपने सर्वनाश का आमन्त्रण स्वीकार करते हुए अपने आपको धन्य मान लिया। परिणाम इस भावुकता का जो कुछ हुआ, और हो रहा है, आज इस भावुक-जाति के सामने है। परन्तु धन्य है हिन्दू-जाति की इस भावुकता को, जिसके अनुग्रह से सर्वस्व खोकर भी आज भी यह बड़े अभिमान से यही कह-सुन रही है कि, - 'हमारी सभा का लक्ष्य तो केवल धर्म्मप्रचार है, राजनीति से तो हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है', 'कालाय तस्मै नमः'। 'भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता' का यही दुःखपूर्ण इतिवृत्त है, जिस का स्वरूप मानवधर्म्म-प्रेमियों के सम्मुख रखने की चेष्टा की गई। हिन्दू-मानव अपने इस इतिहास से किस तथ्य पर पहुँचेगा?, इस का उत्तर वर्त्तमान वातावरण में कुछ भी नहीं दिया जासकता। क्योंकि, हिन्दू-मानव की निष्ठा सर्वथा सुप्त होचुकी है। क्या हम यह चाहते हैं कि, संघर्ष में पड़ी हुई अन्य जातियों की भांति हिन्दू-जाति भी संघर्ष में पड़कर अपनी भावुकता भुलाकर विशुद्ध निष्ठाशील बन जाय? क्या हमारा यह अभिप्राय है कि, पिता अपने पुत्र को निष्ठावान् बनाने के लिए उसे स्तेय कर्म्म की शिक्षा प्रदान करे?, क्या हम हिन्दू-मानव को उस निष्ठा का अनुगामी देखना चाहते हैं, जिस निष्ठा के द्वारा दुष्टबुद्धि अपना स्वार्थ साधन किया करते हैं?। नहीं, सर्वथा नहीं, स्वप्न में भी नहीं। संघर्ष आवश्यक है, निष्ठा भी उपादेय है। परन्तु भावुकता से वियुक्त संघर्ष, और निष्ठा कालान्तर में उस संघर्ष करने वाले निष्ठावान को ही खा जाते हैं। कहा जाचुका है कि, जो जिसके आश्रय से उत्पन्न होता है, वह उसी को खा जाता है। मानव के आश्रय से पुष्पित पल्लवित ऐसा संघर्ष, एवं ऐसी निष्ठा कालान्तर में उसी को खा जाते हैं।

इतिहास के पन्ने उलटिए। आप देखेंगे, सैकड़ों जातियाँ यत्र तत्र प्रकट हुईं, जीविका के साधन निश्चित न होने से वे संघर्ष में आईं, संघर्ष ने उन्हें निष्ठाशील बनाया। इसी संघर्षमूला निष्ठा के बल पर उन बलशालिनी जातियों ने नवीन साम्राज्य का निर्म्माण किया, उन की अपनी स्वतन्त्र सभ्यता, स्वतन्त्र धर्म्म (मत), स्वतन्त्र आचार-व्यवहार बने। होते-करते वे जातियाँ उन्नति के चरम उत्कर्ष पर जा पहुँचीं। परन्तु देखा गया कि, इसी संघर्ष ने, इसी निष्ठागुण ने सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर के संघर्ष के द्वारा उन जातियों को भूतल में विलीन कर दिया। सच है, जो जिस का गुण है, वही उसका दोष है। जो दुष्टतापूर्ण-संघर्षपूर्ण-भावुकताशून्य निष्ठा आरम्भ दशा में इन जातियों का गुण था, वही महत्त्वाकांक्षा के अनुग्रह से अमर्य्यादित बन कर लिप्सामय बनता हुआ दोष बन गया। इसी दोष ने अन्तमें उनका संहार कर डाला।

भावुकता जहां धर्म्मपथ है, वहां निष्ठा नीतिपथ है। दोनों का समन्वय रहता है संघर्ष के माध्यम से। इस ओर भावुकता, उस ओर निष्ठा, मध्य में संघर्ष, यही स्वरूपरक्षा की विज्ञानानुमोदित वैज्ञानिक प्रणाली है। भावुकता अतीत की योग्यता का संग्रह करती है। निष्ठा भविष्य के परिणाम को लक्ष्य बनाती है, मध्यस्थ संघर्ष कर्त्तव्य शिक्षणद्वारा वर्त्तमानस्थिति को संभाले रहता है। इस प्रकार तीनों कालों का सम समन्वय होता रहता है। यह समत्त्व ही बुद्धियोगात्मक वह कर्म्मकौशल है, जिके अनुगमन में कभी भय की, नाश की आशङ्का नहीं है। संघर्ष जहां नीति को सबल बनाता है, निष्ठा को उत्तेजित करता है वहां संघर्ष के मूल में बैठा हुआ धर्म्म (भावुकता) संघर्ष को स्वनियन्त्रण में रखता हुआ इस नीति को अमर्य्यादित नहीं होने देता। वही संघर्ष जहां धर्म्म को सुरक्षित रखता है धर्म्म को उत्तेजित करता है, वहां संघर्ष से सम्बद्ध नीति (निष्ठा) धर्म्म को नियन्त्रण में रखती हुई इस धर्म्म को अमर्य्यादित नहीं होने देती। इस पारस्परिक नियन्त्रण से धर्म्म, और नीति, दोनों का स्वरूप भी सुरक्षित रहजाता है, महत्त्वाकांक्षा को भी अमर्य्यादित बनने का अवसर नहीं मिलता। भारतीय महर्षियों नें इसी समतुलन के आधारपर मानव धर्म्म प्रतिष्ठित किया। हिन्दू-जाति के अणु-अणु में अन्तरान्तीभावसे भावुकता (धर्म्म), और निष्ठा (नीति) प्रतिष्ठित कर दी गई। इसी दृढमूला भावुकतामिश्रिता निष्ठाने इस जाति को अबतक सुरक्षित बनाए रक्खा। शत-शत-शताब्दियों से चोट पर चोट सहते हुए भी यह जाति आजतक जीवित कैसे रह गई?, का यही रहस्य है। उधर, भावुकता-शून्य केवल संघर्षमूला नीति को प्रधानता देने वाली अन्य जातियाँ महत्त्वाकांक्षा पर संयम न रखने के कारण नष्ट होगईं। केवल संघर्षमूला निष्ठा, अथवा तो भावुकता को दास बनाए रखने वाली निष्ठा लिप्सापूर्ण घातक नीति कहलाई है। यही नीति हमारे यहां अनीति-अधर्म्म कहलाया है। शास्त्र कहता है, अवश्य ही ऐसी निष्ठा-नीति (अधर्म्म) का अनुगामी निष्ठावान् स्वबुद्धि बल से आरम्भ में सम्पत्तिसंग्रह में समर्थ बन जाता है। अवश्य ही वह साम्राज्य विस्तार में भी सफल होजाता है। इस ऐश्वर्य्य के द्वारा वह बड़े बड़े प्रशस्त कार्य्य भी करता देखा है। अपने शत्रुओं का दर्पचूर्ण भी करता है। इस प्रकार निष्ठाद्वारा वह लोकवैभवानुगत सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इसी दृष्टि से इसे पूर्णसुखी भी मान लिया जासकता है। परन्तु विश्वास कीजिए, भावुकता-धर्म्मनियन्त्रण से बहिर्भूत,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतएव अमर्य्यादित बनी हुई यही नीति, यही निष्ठा, यही अनीति-अधर्म्म, इसका समूल विनाश कर देते हैं, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरणों की आज भी कमी नहीं है। उभयनिष्ठ दुष्टबुद्धि निष्ठावान्, एवं केवल निष्ठावान, दोनों का नाश निश्चित है। अन्तर यही है कि, उभयनिष्ठ थोड़ा चिरकालिक होता है, क्योंकि वह मूल में आरम्भ में थोड़ी भावुकता भी रखता है। उधर केवल निष्ठावान् अपने जीते जी ही अपने विनाश का प्रत्यक्ष कर लेता है। क्यों कि, उस में भावुकता का अत्यन्ताभाव रहता है। पूर्व में मानवसमाज के जिन चार विभागों का दिग्दर्शन कराया गया था, उनमें से ३-४, इन दो विभागों का अन्तिम परिणाम नाश ही है। अतएव ऐसे दोनों हीं निष्ठापथ देखने-सुनने के लिए सुख-साधक बनते हुए भी आत्म-अशान्ति के कारण बनते हुए हिन्दू-मानव के लिए सर्वथा उपेक्षणीय ही हैं। भले ही केवल भावुकता में रह कर वह नष्ट होजाय, परन्तु इन दोनों मार्गों में से किसी के भी अनुगमन का समर्थन नहीं किया जासकता, नहीं करना चाहिए। क्यों कि—

अधर्म्मणैधते पूर्वं, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥ (मनुः)॥

लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि, 'शेर भूखा रह जायगा, किन्तु बासी शिकार पर दृष्टि न डालेगा।' हम यह देखकर तृप्ति का अनुभव कर रहे हैं कि, हिन्दूमानव आज अपनी इस दुरवस्था में भी इस कहावत को चरितार्थ कर रहा है। जिस हिन्दू-मानव ने भावुकतापूर्ण-सन्निष्ठा का, सद्बुद्धि का रसास्वादन कर लिया है, वह आज कैसे दुष्टतापूर्ण कुनिष्ठा को अपनावे। सन्निष्ठा, सद्बुद्धि, हिन्दू-मानव का जन्मसिद्ध दायाद है। इस पैत्रिक सम्पत्ति को यह कैसे छोड़ दे। देख रहे हैं कि, संघर्षजीवी केवल निष्ठावानों के सहवास में सदियों रहकर भी यह आज तक उनकी निष्ठा का न तो समर्थक ही बना, एवं न कभी उस केवल निष्ठा का अनुगामी ही बना। वे उपदेशक भ्रम में हैं, जो हिन्दू-मानव से यह आशा रखते हैं कि, 'वह हमारे उत्तेजनापूर्ण आदेशोपदेशों से अपनी सद्भावना, अपनी स्वाभाविक दया, करुणा छोड़कर केवल निष्ठावान् बन जायगा'। और हम तो इस सम्बन्ध में यह भी कहेंगे कि, यदि कहीं सङ्गदोष के प्रभाव में आकर इस जाति ने भी अपनी भावुकता का परित्याग कर केवल निष्ठापथ को अपनाने की भूल कर ली, तो इसका वे जड़ें-जो पाताल तक पहुँची हुई हैं, उखड़ जायगीं, एवं यह भी केवल निष्ठाशील अन्य जातियों की भांति नष्ट हो जायगी।

हिन्दू-मानव इस स्थिति में क्या करे?, मर्वान्त में यह समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हुई, जिसका 'हमारी समस्या' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विश्लेषण हुआ है। कौन कहता है कि, हिन्दू-मानव निष्ठावान नहीं स्थितप्रज्ञ नहीं?। कौन कहता है कि, हिन्दू-मानव केवल भावुक है?। किस का सामर्थ्य है कि, जो इस उभयनिष्ठ सद्बुद्धि हिन्दू—मानव की ओर आँख उठाकर भी देख सके?, कौन इस मिथ्या—भ्रम में पड़ा हुआ है कि, हिन्दू-जाति नष्ट हो जायगी?! जाइए उन त्रैवार्षिक कुम्भ-पर्वों पर, और देखिए हिन्दू-मानव की दृढ़ निष्ठा को। बिना किसी प्रचार-प्रेरणा के यात्राकष्टों को हँसते हँसते सहते हुए हिन्दू-मानव असंख्य संख्या में वहाँ पहुँच जाता है। और अपनी शाश्वत निष्ठा का परिचय देता है। आए दिन होने वाले पर्वोत्सवों का अनुगमन, तीर्थ-मठ-मन्दिरों के प्रति अनन्य श्रद्धा-विश्वास, इस दरिद्रता में भी अप्रत्याशित आत्मसमर्पण। यह निष्ठा नहीं, तो और क्या है?। बुद्धिमान कहेंगे, ये तो निष्ठा के उदाहरण नहीं, अपितु भावुकता के उदाहरण हैं। हम कहेंगे, भावुकता का चरम विकास ही तो निष्ठा है। बिना भावुकता के निष्ठा का उदय हो ही नहीं सकता। जिसे केवल निष्ठा कहा जाता है, वह भावुकता-शून्या शुद्ध निष्ठा तो संघर्ष की एक अवस्था-विशेषमात्र है। इसी लिए तो वैसी निष्ठा, एवं वैसी निष्ठा के अनुगामी कालान्तर में ही नष्ट हो जाते हैं। इसी दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि, जिस भावुकता को हिन्दू मानव का दोष बतलाया जाता है, वही उसकी चिरन्तन निष्ठा को सुरक्षित रखता हुआ गुण है। क्योंकि जो जिसमें दोष है, वही उसका गुण भी तो बन जाता है। निष्ठागर्भिता इसी भावुकता ने हिन्दू-मानव को सामयिक प्रवाहों से बचाते हुए इसे अद्यावधि जीवित रक्खा है। और निश्चयेन यही निष्ठात्मिका भावुकता इसे भविष्य में भी जीवित रक्खेगी। अन्तर्मुख निष्ठा के जाग्रत होने मात्र में विलम्ब है। जिस दिन इसकी सुप्त निष्ठा जाग्रत हो पड़ेगी, विश्व की यच्चयावत् संस्कृतियाँ काँप उठेंगीं।

इस वृद्धातिवृद्धप्रपितामह हिन्दू-मानव ने उपालम्भ देने वाले निष्ठावानों को अपने सामने जन्म लेते देखा, समृद्ध होते देखा, मरते देखा, और फिर स्वयं अपने ही हाथों से इसने उनका श्राद्ध भी कर डाला। इसमें निष्ठा है, भावुकता है, बुद्धि है, विद्या है। पूर्णब्रह्म का उपासक हिन्दू-मानव सर्वात्मना पूर्ण था, पूर्ण है, और पूर्ण रहेगा। अवश्य ही यह मान लेते हैं कि, राजसत्ता के बहिर्भावों के कारण इसकी पूर्णता वर्त्तमान में अन्तर्मुखमात्र बन गई है। इसीलिए इसे चाहे जैसे कह सुन देने की भूल की जा रही है। हम हिन्दू-मानव से यही करबद्ध निवेदन करेंगे कि, वह पर-दृष्टि के साथ साथ स्वदृष्टि का भी अनुगमन करे। अपने आप पर दृष्टि डाले। देखे तो सही वह अपने आपको, अनुभव तो करे वह अपना अन्तर्मुख-निष्ठा का।

जैसा कि, पूर्व में कहा जा चुका है- हिन्दू-मानव की निष्ठा का केन्द्र वर्त्तमान में भावुकतानुगत धर्म्म बन रहा है। दण्डभय के शिथिल हो जाने से, साथ ही जीविका-साधनों की निश्चिन्तता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से इसके भावुकतालक्षणा धर्म्म ने निष्ठालक्षणा नीति का साथ छोड़ दिया है। कर्त्तव्योपेक्षा से इसके जीवन का वह संघर्ष शान्त हो गया है, जो धर्म्म, और नीति का समतुलन रक्खा करता है। यह अतीत को देखता है, परन्तु संघर्ष न रहने से भविष्य की दृष्टि इसकी धुंधली बन गई है। संघर्ष के परित्याग से इसका वर्त्तमान भी धुंधला बन चला है। अन्तर्मुख निष्ठा ही भावुकता है, यही धर्म्म है। बहिर्मुख निष्ठा ही निष्ठा है, यही नीति है। इसकी भावुकता-लक्षणा अन्तर्मुख निष्ठा निष्ठालक्षणा बहिर्मुखनिष्ठा बन जाय, यही कामना है। यह धर्म्मनीति को आगे कर अग्रेसर बने, यही कामना है। अपने धर्म्म को नीति के द्वारा यह मर्य्यादित बनावे, फलस्वरूप आततायी-दुष्ट-परस्वत्त्वापहरणकर्त्ता-दुर्बुद्धि निष्ठावान् इसकी धर्म्मगर्भिता नीति से दण्डित हों, 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' का नैतिक सिद्धान्त पुनः जागरूक हो, यही कामना है।

कैसे यह कामना सफल हो ?, उत्तर है 'मानवधर्म्म की पुनः प्रतिष्ठा।' मानवधर्म्म कैसे पुनः प्रतिष्ठित हो ?, उत्तर है धर्म्म के वैज्ञानिक तथ्यों का प्रचार प्रसार। वैज्ञानिक तथ्यों का प्रचार प्रसार कैसे हो ?, उत्तर है वैज्ञानिक साहित्य का अध्ययनाध्यापन। हिन्दू-मानव का ध्यान इसी अन्तिम उत्तर की ओर आकर्षित करता हुआ प्रस्तुत सम्पादकीय, तथा इसके साथ साथ ही मानवधर्म्मप्रचारक प्रस्तुत 'मानवाश्रम पाक्षिक' का प्रथम वर्ष भी उपरत हो रहा है *

मोतीलालशर्म्मा–सम्पादकः—

संकल्पित मानवाश्रमविद्यापीठ के सम्बन्ध में–

जून, सन् १६४२ में मानवाश्रम-विद्यापीठ के सम्बन्ध में जो संकल्प जाग्रत हुआ था, उसे कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए निरन्तर चेष्टा की जा रही है। इस चेष्टा का प्रारम्भिक, तथा प्रधान श्रेय जयपुर के सुविख्यात नागरिक, लोकसेवक मान्यवर श्री सेठ सूरजमलजी महोदय (बम्बई-वाला) को ही प्राप्त है। आप ही के उत्साह, एवं अत्यर्थ प्रयास से जयपुर के वर्त्तमान प्रधान सचिव 'सर' मिर्जा महोदय का ध्यान इस कार्य्य की ओर आकर्षित हुआ। आप ही के सतत-परिश्रम से राज्य की ओर से इस कार्य्य के लिए निःशुल्क ५० बीघा भूप्रदेश मिला। आप ही की योजना के आधार पर भावी-मानवाश्रमविद्यापीठ के 'मुखपत्र' के रूप में 'मानवाश्रम-पाक्षिक पत्र' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, जिसका प्रथमवर्ष आप ही के सहयोग से निर्विघ्न पूर्ण हो रहा है। गत नवम्बरमास (सन १६४३) में आप ही के साथ मानवाश्रम-निर्म्माण कार्य्य के लिए बम्बई की यात्रा हुई। अपने समस्त शारीरिक-मानसिक सुखों का परित्याग करते हुए आपने बम्बई में इस कार्य्य को सफल बनाने के लिए निरन्तर ५ मास पर्य्यन्त अकथ परिश्रम किया। आपके लिए यह प्रसिद्ध है कि, आप जिस लोकोपयोगी कार्य्य को हस्तगत करते हैं, वह आपकी अत्यर्थ लगन से, तथा आपकी दृढ़ भगवन्निष्ठा से अवश्यमेव पूर्ण होता है। इसका प्रत्यक्ष मानवाश्रम बना। आपके माङ्गलिक विधानों के आधार पर जयपुर राज्य के ही सुविख्यात धनकुबेर दानवीर सेठ श्री गोविन्दरामजी महोदय सेकसरिया का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ।

उक्त आकर्षण के साथ ही गत चैत्रारम्भ में हम जयपुर लौट आए थे। इस आकर्षण-घटना को आज पूरा एक वर्ष हो चुका है। मानवाश्रम-संकल्प से सम्बन्ध रखने वाले सहयोगी हम से प्रश्न कर रहे हैं कि, 'मानवाश्रम के सम्बन्ध में क्या हुआ ?, श्री सेकसरियाजी के द्वारा क्या हुआ ?,' इत्यादि। हम स्वयं अपने आप से भी यही प्रश्न कर रहे हैं। परन्तु निरन्तर ३-४ वर्षों से प्रयास करते रहने पर भी जब हम स्वयं भी इन प्रश्नों का उत्तर न ढूंढ सके, तो अपने सहयोगियों का क्या समाधान करें ? । हां, सहयोगियों की उत्कट जिज्ञासा-शान्त करने के लिए अपनी कार्य्य प्रणाली–(फिर वह एकमात्र हमारे ही दोष से सर्वथा असफल ही सिद्ध क्यों न हुई हो)–का इतिवृत्त सहयोगियों के सम्मुख रख दिया जाता है, जिससे वे स्वयं किसी तथ्य की ओर आकर्षित हो सकेंगें।

जिस वैदिक-तत्त्वज्ञान के आधार पर भारतीय आर्ष-राष्ट्र प्रतिष्ठित है, कुछ एक शताब्दियों से राष्ट्रप्रतिष्ठारूप वह तत्त्वज्ञान विलुप्त हो चला था, जिसके पुनरुद्धार का एकमात्र श्रेय स्व० श्रीगुरुवर (श्री श्री मधुसूदनजी महाराज मैथिल) को ही प्राप्त है। आपने अपने जीवन की ५० वर्षों की परोक्ष-अज्ञात तपश्चर्या से उन गुप्त तत्त्वों की वह खोज की—जो खोज भावी-भारत के लिए एक महान् घटना सिद्ध होगी। इन पंक्तियों के लेखक को आपके पावन-चरणों की उपासना का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी उपासना के बल पर इसने यह संकल्प किया कि, "सामयिकभाषामय ग्रन्थों के द्वारा, व्याख्यानद्वारा, साथ ही एक विद्यापीठ के द्वारा इस तत्त्ववाद की ओर सुप्त-भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित कराया जाय, एवं इन साधनों के द्वारा इसे इसके उस महामहनीय स्वरूप का बोध कराया जाय, जिसे भूल कर इसने अपना सर्वस्व खो दिया है, अथवा तो खोती जा रही है।" संकल्पानुसार यथामति भाषाग्रन्थ लिखे गये, प्रचार यात्राएं हुईं, प्रचारयात्राओं में ही विद्यापीठ-संकल्प भी बना।

---

* अप्रकाशित — 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका'—'सर्वान्तरमपरीक्षात्मक' तृतीयखण्ड के 'ख' विभागात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड से उद्धृत।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कदा उद्बुद्ध बनता रहा, जिसका पूरा स्वरूप आज से ६ वर्ष पहिले 'कलकत्ता' में जागरूक बना। एक सम्पन्न महानुभाव ने इस सम्बन्ध में यह आश्वासन दिया कि-'वे इस कार्य्य में ५ लाख का सहयोग इस आधार पर दे सकते हैं कि, विद्यापीठ कलकत्ता में ही स्थापित हो, और हम कलकत्ता को ही अपना स्वदेश बनालें।' कलकत्ता भी तो राष्ट्रमर्यादा से हमारा स्वदेश ही है। अतएव इस आयोजन को स्वीकार कर लिया गया। फलस्वरूप अपने सम्पूर्ण परिग्रह के साथ जयपुर छोड़ते हुए कलकत्ता को आवास बना लिया गया। केवल ३-४ मास के कलकत्ता निवास ने ही यह आभास करा दिया कि,- यह सहयोग बाह्यदृष्टि से सर्वसाधन-सम्पन्न प्रतीत होता हुआ भी उस 'स्वाध्यायनिष्ठा' का महा विघातक है, जिसके प्रचार के लिए विद्यापीठ की कल्पना की जा रही है।' जिस दिनके जिस क्षण में हमें यह आभास हुआ, उसी क्षण सहयोगियों को कोई सूचना दिए बिना सर्वथा अज्ञातरूप से सम्पूर्ण परिग्रह को वहीं छोड़कर हम जयपुर लौट आए मानते हैं. और आज तक फल भी भोग रहे हैं कि, उस परावर्त्तन से सहस्रों रु० का गृहस्थ-परिग्रह, प्रकाशितग्रन्थपरिग्रह नष्ट भ्रष्ट हो गया, सहयोगी अप्रसन्न हो गए। इस प्रकार लोकदृष्ट्या सभी प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ी परन्तु इन सब हानियों के बदले में वह 'स्वाध्यायनिष्ठा' सुरक्षित रह गई—जो हमारे जीवन का प्रधान लक्ष्य है। इसी परावर्त्तन से भविष्य के लिए शिक्षा प्राप्त करते हुए यह निश्चय किया गया कि,-'लोकैषणामूलक बृहत् आयोजनों के प्रपञ्च में न पड़कर स्वल्पतम-व्ययसाध्य साधारण आयोजन के द्वारा जयपुर में ही वैसा विद्यापीठ स्थापित किया जाय, जो अपने लक्ष्य की दृष्टि से सर्वात्मना स्वतन्त्र हो।'

निश्चयानुसार अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा की जाने लगी। आज से लगभग ३ वर्ष पहिले जयपुर-गवर्न्मेन्ट से यह सूचना प्रकाशित हुई कि,-'बञ्जर पड़े हुए भूक्षेत्र में जो व्यक्ति कृषि करेगा, ५ वर्ष तक उससे भू कर (लगान) न लिया जायगा।' इस सूचना के आधार पर संकल्प यह हुआ कि,-'कृषकवृत्ति से भूक्षेत्र लिया जाय, आवश्यकतानुसार १-२ कूप बना लिए जायँ, निवास के लिए कुछ के कच्चे घर बना लिए जाय, तत्त्वान्वेषक सहयोगियों की दैनिक चिन्ता-निवृत्ति के लिए कृषि करा ली जाय, और इस कार्य्य की प्रारम्भिक योजना को सफल बनाने वाले आनुमानिक १५-२० सहस्र का सहयोग केवल बाहिर के उन सहयोगियों से प्राप्त किया जाय, जो बिना किसी संवा (शर्त) के विशुद्ध सात्त्विक भाव से सहयोग देना स्वीकार करें।"

संकल्प का जयपुर के नागरिकों से कोई सम्बन्ध न रक्खा गया। कारण, जयपुर हमारे लिए सदा से एकमात्र स्वाध्याय-क्षेत्र रहा है। यहां के सार्वजनिक किसी भी प्रकार के जीवन से इस स्वाध्याय-निष्ठा की रक्षा के लिए ही कोई सम्बन्ध नहीं रहा। नाहीं यहां के किसी संभाव्य नागरिक के ही सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इस सर्वथा अज्ञात-दशा में संकल्प को यहां के नागरिकों के सम्मुख रखना असामयिक था। फलत- 'प्रस्तावित-आयोजन की रूपरेखा' नाम से विद्यापीठ-संकल्प का पूरा विवरण प्रकाशित कर देशान्तरीय सहयोगियों की सेवा में भेजा गया। और जयपुर राज्य से 'कृषि-विधान' के आधार पर थोड़ा सा भूप्रदेश ले लिया गया। कुछ अपनी स्थिति के आधार पर एवं कुछ श्री गजाधरजी सोमाणी, श्री रघुनाथदासजी बांगड़, आदि के सहयोग से कूपनिर्म्माणादि कार्य्य आरम्भ हो गए। यह विचार प्रक्रान्त था कि, शीघ्र ही कहीं बाहिर की यात्रा करनी चाहिए, जिसके द्वारा यह प्रारम्भिक आयोजन सफल बनाया जा सके। इसी विचार प्रसङ्ग में श्रीयुत सेठ सूरजमलजी के साथ विशेष सम्पर्क स्थापित हुआ। आप ही के सम्पर्क के फलस्वरूप हमारे पूर्व निश्चित स्वल्प आयोजन ने बृहदायोजन का स्थान ग्रहण किया। और कहना न होगा कि, आप ही के सतत उद्योग-परिश्रम से विद्यापीठ के लिए निःशुल्क भूप्रदेश मिला, एवं आप ही की अव्यर्थ प्रेरणा से श्रीसेकूसरियाजी इस ओर आकर्षित हुए—जैसा कि आरम्भ में ही निवेदन किया जा चुका है।

इस प्रकार संकल्पित मानवाश्रम के सम्बन्ध में अब तक जो घटित हुआ, उस का स्वरूप इस आकर्षण पर विश्रान्त है। कामना यही है कि, कभी न कभी संकल्प अवश्य सफल बने। किन्तु कामना का साफल्य एकमात्र योगेश्वर भगवान के अनुग्रह पर ही निर्भर है। संकल्प करने वाले ने संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करने वाले कलकत्ता-आदि के अवसरों की उपेक्षा कर दी। बहुत सम्भव है कि, प्रस्तुत अवसर से भी वह लाभ उठाने में असमर्थ ही बना रह जाय। इन्हीं सब असफलताओं के आधार पर यह भी सम्भव है कि. उसे अपना विद्यापीठात्मक संकल्प सदा के लिए छोड़ते हुए राज्य से मिलने वाला भूप्रदेश लौटा देना पड़े। फलस्वरूप कतिपय सहयोगियों के द्वारा प्राप्त अर्थ को, तथा श्रीयुत सेठ सूरजमल जी के द्वारा अद्यावधि-प्राप्त पर्जन्य समिति के अर्थको (जिस अर्थ का कूपनिर्म्माणादि में उपयोग हो चुका है) सधन्यवाद अनिवार्य्यरूप से वापस लौटा देने में उसे ऋण-देवता का भी आतिथ्य स्वीकार करना पड़े। सर्वोपरि परिणाम में वह लोकनिन्दा-अपयश का भी भागी बने। इन सब भावी परिणामों को अपनी दृष्टि के सम्मुख देखता हुआ भी संकल्पकर्त्ता इस लिए इन सब परिस्थितियों का स्वागत-करने के लिए कटिबद्ध है कि, उस के जीवन का मुख्य लक्ष्य 'स्वाध्यायनिष्ठा' है। इस की रक्षा के लिए वह बड़ी से बड़ी लोकनिन्दा,

79

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बड़ी से बड़ी आर्थिक हानि, एवं सम्पन्न से भी सम्पन्न सहयोगी सब का परित्याग करदेना यह सदा से श्रेयः-पन्था मानता आरहा है, एवं मानता रहेगा। संकल्पकर्त्ता ने मानवाश्रम-विद्यापीठ से सम्बन्ध रखने वाली गत २ वर्षों की एषणा से यह अनुभव किया है कि, वह अपने संकल्प को, अपने साहित्य-प्रचारानुगत नैतिक लक्ष्य को समाज के सम्मुख स्पष्ट करने में अबतक असफल हो रहा है। यही कारण है कि, हमारे साहित्यिक लक्ष्य को, तथा मानवाश्रम-विद्यापीठ के अन्तर्निहितभावी नैतिक लक्ष्य को प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाले मानवसमाज ने विशेषतः सहयोगियों ने इस सम्बन्ध में केवल अपनी कल्पना के आधार पर अनेक कल्पनाएँ कर डाली हैं। उदाहरण के लिए "यह हमारा व्यवसायात्मक काण्ड है और इसके द्वारा हम अपनी वित्तैषणा शान्त करना चाहते हैं।" किसी ने कहा है—"कि जनेऊ और फेरा कराने वाले कर्म्मठ तय्यार किए जायँगे"। किसी ने अनुभव किया है कि—"यहाँ दरिद्र ब्रह्मचारियों का संगठन होगा।" किसी ने सोचा है कि,—"यहाँ समाज की रूढ़ियों के संशोधक सुधारक उत्पन्न किए जायँगे।" और किसी ने कई एक अज्ञात कल्पनाएँ बना लेने में अपना पुरुषार्थ प्रकट कर डाला है। यही कारण है कि आज तक यह संकल्प असफल रहा है। और यह भी निश्चित है कि, जब तक संकल्प की रूपरेखा समाज के लक्ष्य में न आवेगी, तबतक संकल्प असफल ही बना रहेगा। साथ ही यह भी निश्चित है कि, जिस दिन किसी एक भी निष्ठावान् मानव के अन्तःकरण में मानवधर्मप्रचारक मानवाश्रम विद्यापीठ का नैतिक लक्ष्य समाविष्ट हो जायगा, उस दिन वही नैष्ठिक आत्मसमर्पण द्वारा इसे सफल बना देगा। उस समय न किसी को लोकैषणानुगत-विधि-विधानों का आश्रय लेना पड़ेगा, और न सहयोगी हम पर उपकारभाव प्रदर्शित करने का ही दुःसाहस करेंगे। नाहीं हमें वैसे सहयोगियों की उपासना में अपने स्वाध्याय समय का दुरुपयोग करने की ही आवश्यकता होगी, जो सहयोगी अपनी स्वाभाविक भावुकता के अनुग्रह से प्रत्यक्ष-से प्रभावित होकर थोड़े समय के लिए सहयोगी बन कर कालान्तर में असहयोगी बन जाया करते हैं। क्योंकि, नित्यदृष्टि हमें शिक्षा देरही है, कि लक्ष्यहीन सहयोग कभी स्थायी नहीं बन सकते। अतएव निष्ठा शून्य सहयोग, तथा सहयोगियों की उपेक्षा करने में ही कल्याण है।

मानवाश्रम-विद्यापीठ उस तत्त्व-ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए संकल्पित हुआ है, जिस तत्त्वज्ञान का स्वाध्याय अभी अपूर्ण है। मानवाश्रम हमारे जीवन के अनन्तर भी बन सकते हैं। परन्तु स्वाध्याय की अपूर्णता संदिग्ध बनी रह सकती है। अतएव पहले इसे पूर्ण करना प्रधान लक्ष्य है। यदि मानवाश्रम इस लक्ष्य का सहायक बना, तो उसे भी अवसर दिया जायगा। विपरीत दिशा में उस की उपेक्षा कर सर्वात्मना स्वाध्यायनिष्ठा की ही रक्षा की जायगी। यही मानवाश्रम-विद्यापीठ का आजतक का वह इतिहास माना जायगा, जिसके आधार पर जिज्ञासु जन, आशा है तृप्त-तुष्ट हो सकेंगे। इस इतिहास के द्वारा-यद्यपि मानते हैं—स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो रहा। तथापि प्रस्तुत अस्पष्ट-वातावरण में इस से अधिक स्पष्ट करने में अभी हम कुछ कहने के लिए असमर्थ हैं। हाँ, प्रयास यह अवश्य किया जारहा है कि शीघ्र से शीघ्र (सम्भवतः चैत्रसमाप्ति पर्य्यन्त ही) इस सम्बन्ध में पूरा विवरण स्पष्ट कर दिया जायगा। और तभी हमारी स्वाध्याय-निष्ठा अनन्यनिष्ठ बन सकेगी। उसी विवरण के साथ 'मानवाश्रम-विद्यापीठानुगत-आयव्यय विवरण' भी प्रकाशित होजायगा। हम अपने इष्टदेव से यही कामना कर रहे हैं कि, किसी भी प्रकार की लोकैषणा-वित्तैषणा हमें लक्ष्यच्युत न बनादे। यदि उसे मानवाश्रम-संकल्प सफल करना है, तो हमारे स्वाध्यायलक्ष्य को वह सुरक्षित रक्खे। यदि वह इस सफलता को स्वाध्यायनिष्ठा में बाधक समझता है, तो इस महाअनर्थ-महायज्ञ की चर्चा का सदा के लिए अन्त कर दे और सदा की भाँति वह हमारी निम्नलिखित मानवनिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रहे—

* "सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥" मनुस्मृतिः।

विधेयः—
मोतीलालशर्म्मा

---

* (स्वाध्यायशील का यह कर्त्तव्य है कि) वह उन सब आर्थिक सहयोगों का (साथ ही आर्थिक सहयोग देने वाले सहयोगियों का भी) सर्वथा परित्याग करदे, जो सहयोग, और सहयोगी इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में विरोध-विघ्न उपस्थित करने वाले हैं। क्योंकि जैसे तैसे दुःख-सुख सहते हुए अपनी स्वाध्यायनिष्ठा सुरक्षित रखने में ही इस स्वाध्यायशील का जीवन सार्थक है।"

मोतीलाल जी द्वारा श्री बालचन्द्र विद्युत् यन्त्रालय, जयपुर में मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai